BC-10

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध

BC-10

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो.(डॉ.)नरेश दाधीच

कुलपति

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राजस्थान)

संयोजक / सदस्य

संयोजक

डॉ. एम. एल. जैन 'मणि'

(पूर्व उपप्राचार्य,राज. विश्व. वाणिज्य महाविद्यालय,जयपुर)

परामर्शदाता: वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य सचिव

प्रो.(डॉ.) अनाम जैतली

निदेशक(अकादमिक)

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

- **प्रो.(डॉ.)आर. के. दीक्षित**
  आचार्य एवं अध्यक्ष,ई. ए. एफ. एम. विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **प्रो.(डॉ.) नवीन माथुर**
  आचार्य, एवं प्रशासनिक सचिव, कुलपति
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **डॉ. एस. जी. शर्मा**
  सह-आचार्य एवं अध्यक्ष, ए. बी. एस. टी. विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **प्रो.(डॉ.) आई. वी. त्रिवेदी**
  आचार्य, बैंकिंग एण्ड बिजनेस इकोनॉमिक्स
  एम. एल. सुखड़िया विश्व., उदयपुर
- **डॉ. पुखराज दाधीच**
  वरिष्ठ व्याख्याता
  राजकीय महाविद्यालय, अजमेर
- **डॉ. एस. सी. जोशी**
  पूर्व उपप्राचार्य
  राजकीय महाविद्यालय, बांरा

संपादन एवं पाठ–लेखन

संपादक

प्रो. (डॉ.) जिनेन्द्र कुमार जैन

आचार्य एवं अध्यक्ष

वाणिज्य विभाग एवं अध्ययन मण्डल

डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश)

लेखक (इकाई सं.)

- **डॉ. कपिल देव** **(1,2)**
  विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर व्याव. प्रशासन विभाग
  राज. जानकी. बजाज कन्या महावि., कोटा
- **साक्षी अरोड़ा** **(3,4,5,6)**
  व्याख्याता
  एस. एस. जैन सुबोध पी. जी. महावि. जयपुर
- **डॉ. अमित अग्रवाल** **(7,8,9,16,17,18)**
  व्याख्याता
  एस. बी. पी. जी. महाविद्यालय, बगरु
- **डॉ. अशोक श्रीवास्तव** **(10,11)**
  व्याख्याता
  एस. एस. जैन सुबोध पी. जी. महावि. जयपुर
- **डॉ. भवानी शंकर शर्मा** **(12,13,14,15)**
  सहायक आचार्य
  विश्वविद्यालय वाणिज्य महाविद्यालय, जयपुर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच	प्रो. (डॉ.) एम. के. घडोलिया	योगेन्द्र गोयल
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,	संकाय विभाग	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

श्री योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन - अगस्त 2010 **ISBN No.- 13/978-81-8496-236-9**

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अन्यत्र पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। व. म. खु.वि., कोटा के लिए कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा(राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई–1	व्यावसायिक संगठन के प्रकार	**7–36**
इकाई–2	व्यावसायिक उद्यमिता	**37–58**
इकाई–3	व्यावसायिक वातावरण	**59–75**
इकाई–4	व्यावसायिक वित्त के स्रोत	**76–106**
इकाई–5	स्कन्ध विनिमय केन्द्र	**107–128**
इकाई–6	व्यावसायिक संयोजन	**129–155**
इकाई–7	वैश्वीकरण तथा भारत	**156–164**
इकाई–8	व्यावसायिक नैतिकता तथा व्यवसाय का सामाजिक दायित्व	**165–174**
इकाई–9	प्रबन्ध की महत्ता तथा कार्य	**175–193**
इकाई–10	प्रबन्ध के सिद्धान्त	**194–205**
इकाई–11	प्रबन्ध की प्रकृति एवं क्षेत्र	**206–221**
इकाई–12	नियोजन	**222–234**
इकाई–13	संगठन	**235–252**
इकाई–14	समन्वय	**253–262**
इकाई–15	निर्णयन	**263–273**
इकाई–16	अभिप्रेरणा एवं नियंत्रण	**274–287**
इकाई–17	प्रबन्ध के क्रियाशील क्षेत्र	**288–302**
इकाई–18	प्रबन्ध मे उभरती चुनौतियाँ	**303–310**

इकाई-1 व्यावसायिक संगठन के प्रकार (Types of Business Organisation)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 एकाकी स्वामित्व

1.3 साझेदारी

1.4 संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी

1.5 कम्पनियों के प्रकार

1.6 संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के लाभ व दोष

1.7 सहकारी संगठन

1.8 श्रेष्ठ व्यावसायिक संगठन का चुनाव

1.9 व्यवसाय का विस्तार एवं स्वामित्व में परिवर्तन

1.10 सारांश

1.11 शब्दावली

1.12 स्वपरख प्रश्न

1.13 उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर आप जान सकेंगे कि-

- व्यावसायिक संगठन के कौन-कौन से स्वरूप विद्यमान हैं?
- विभिन्न व्यावसायिक संगठनों की क्या विशेषताएँ हैं?
- व्यावसायिक संगठनों के तुलनात्मक लाभ एवं दोष क्या हैं?
- एक श्रेष्ठ व्यावसायिक संगठन के चुनाव के पूर्व किन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए?
- व्यवसाय की अभिवृद्धि के फलस्वरूप व्यावसायिक संगठन के कौन-कौन से विकल्प उपलब्ध रहते हैं?

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों, व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध विषय की यह प्रारंभिक इकाई है । इस इकाई में हम व्यावसायिक संगठन के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे । जिससे आपको व्यवसाय के प्रचलित स्वरूपों की जानकारी हो सकेगी । व्यवसाय का स्वामी कोई एक व्यक्ति भी हो सकता है और अनेक व्यक्ति भी । जिस व्यवसाय का स्वामी एक ही

व्यक्ति होता है, वह एकल स्वामित्व संगठन कहलाता है । एक से अधिक व्यक्ति साझेदारी फर्म बना सकते हैं या व्यावसायिक संगठन का कंपनी स्वरूप चुन सकते हैं । साझेदारी फर्म दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच आपस में अनुबन्ध द्वारा स्थापित की जाती है । कई व्यक्तियों के समूह द्वारा कंपनी अधिनियम के अधीन कंपनी की स्थापना की जाती है । अब आपको यह स्पष्ट हो गया है कि एकल स्वामित्व संगठन का स्वामी केवल एक व्यक्ति होता है, जबकि साझेदारी फर्म या कंपनी का स्वामी व्यक्तियों का कोई समूह होता है । इस तरह व्यावसायिक संगठन प्रमुख रूप से तीन प्रकार के होते हैं -

1. एकल स्वामित्व संगठन
2. साझेदारी फर्म
3. कंपनी

व्यावसायिक स्वामित्व का एक अन्य स्वरूप भी हो सकता है जिसे सरकारी स्वामित्व के नाम से पुकारा जाता है । इसे लोक-उपक्रम (Public Enterprise) भी कहते है । लोक-उपक्रम पूर्णतया या तो सरकार के हाथ में होता है या सरकार तथा व्यावसायिक गृहों के संयुक्त हाथ में होता है । ऐसे उपक्रमों का प्रबन्ध निम्न में से किसी एक तरीके का हो सकता है -

(अ) विभागीय उपक्रम, जैसे भारतीय डाक और तार सेवा, भारतीय रेलवे, प्रतिरक्षा संस्थान आदि।

(ब) सरकारी कम्पनी, यथा राज्य व्यापार निगम, भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स, स्टील अथोरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड आदि ।

(स) लोक अथवा वैधानिक निगम, यथा भारतीय रिजर्व बैंक, औद्योगिक वित्त निगम, एयर इण्डिया, इण्डियन एयर लाइन्स आदि ।

स्वामित्व एक वैधानिक अवधारणा है, अत: इसका नियमन विधान द्वारा होता है । वैधानिक स्वामित्व में सम्पत्ति का प्रयोग एवं सम्पत्ति के प्रयोग रो लाभ-प्राप्ति का प्रयोग सम्मिलित होता है । सम्पत्ति प्राप्त करना, और प्रयोग करना, बेचना ये सभी अधिकार व्यवसाय के स्वामी के होते हैं । व्यावसायिक संगठन के स्वरूप का वर्गीकरण चार्ट क्रमांक 1.1 में किया गया है ।

चार्ट क्रमांक - 1.1 व्यावसायिक स्वामित्व एवं संगठन के स्वरूप

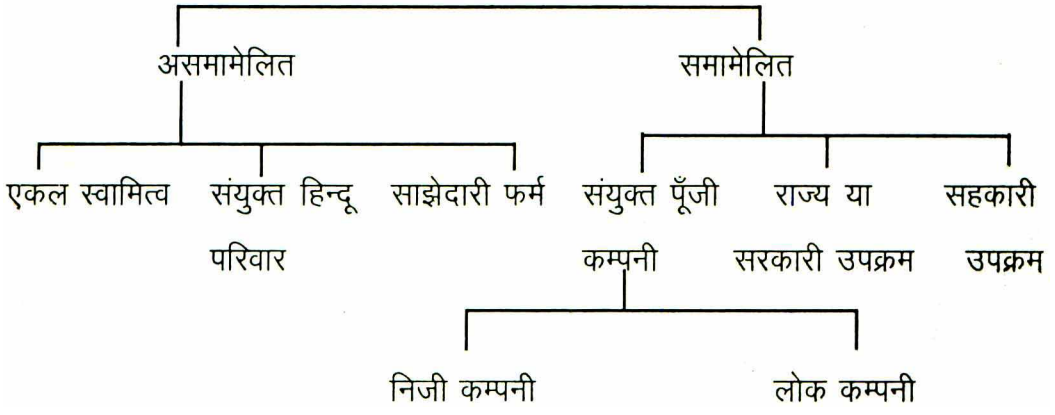

व्यावसायिक संगठन के उपर्युक्त प्रथम तीन स्वरूपों को असमामेलित और दूसरे दो स्वरूपों को संगठन का समामेलित रूप कहा जा सकता है । इन दोनों प्रकार के व्यावसायिक संगठन के स्वरूपों में अन्तर यह है कि एक असमामेलित व्यवसाय बिना किसी वैधानिक औपचारिकताओं की सहायता से प्रारम्भ किया जा सकता है, जबकि एक समामेलित संस्था वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा करके ही प्रारम्भ की जा सकती है ।

1.2 एकाकी स्वामित्व (Sole Proprietorship)

ऐसा व्यवसाय जो एक व्यक्ति के स्वामित्व एवं नियन्त्रण में होता है, उसे वह एकाकी स्वामित्व वाला व्यवसाय कहते हैं । ऐसा व्यवसाय एक व्यक्ति के साहस से ही प्रारम्भ होता है और अपने साधन अथवा उधार पूँजी के माध्यम से चलाया जाता है । व्यापार का स्वामी स्वयं ही व्यवसाय का प्रबन्ध करता है, सभी प्रकार के जोखिम उठाता है और समस्त लाभ का मालिक भी स्वयं ही होता है । उसका कार्यक्षेत्र असीमित होता है । बिना किसी वैधानिक व्यवस्था के वह किसी प्रकार का व्यवसाय प्रारम्भ कर सकता है । व्यक्ति या तो स्वयं ही व्यवसाय को चलाता है या इसके लिये कुछ कर्मचारियों की मदद लेता है अथवा दोनों प्रकार का कार्य भी करता है ।

एक स्वामित्व वाले व्यावसायिक संगठन के स्वरूप की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

- एक व्यक्ति का स्वामित्व
- एकाकी प्रबन्धन
- व्यक्तिगत नियंत्रण
- पंजीयन की आवश्यकता नहीं
- असीमित जोखिम
- असीमित दायित्व
- सरकारी नियमन से छूट
- व्यावसायिक संगठन का पृथक अस्तित्व नहीं ।

लाभ

(I) व्यवसाय को लाभ

1. **व्यवसाय प्रारम्भ में सुविधा** - एकल स्वामित्व व्यवसाय को प्रारम्भ करने में किसी प्रकार के वैधानिक नियमों को पूरा करने की आवश्यकता नहीं होती है, इसलिये इसकी स्थापना बड़ी सुगम है । कुछ दशाओं में स्वास्थ्य-सम्बन्धी उचित व्यवस्था के लिये कभी-कभी कुछ प्रतिबन्ध नगर निगम द्वारा लगाया जाता है । इस प्रकार के व्यावसायिक स्वामित्व की स्थापना एवं विघटन बड़ी सुगमता से हो सकता है ।
2. **प्रत्यक्ष अभिप्रेरणा** - व्यावसायिक संगठन के इस स्वरूप में पुरस्कार और प्रयत्न में प्रत्यक्ष एवं पूर्ण सम्बन्ध होता है । चूंकि एकल व्यवसायी सम्पूर्ण लाभ का मालिक होता है, इसलिए व्यवसाय को चलाने के लिए उसको अधिक अभिप्रेरणा मिलती है ।
3. **पूर्ण नियन्त्रण** - व्यवसाय का मालिक किसी प्रकार की योजना या नीति के निर्धारण के लिए स्वतंत्र होता है और व्यवसाय की सफलता के लिए उसका क्रियान्वयन अपनी इच्छानुसार स्वयं कर सकता है, अत: अपने व्यवसाय के दिशा देने या नियन्त्रण के लिए वह ऐच्छिक कदम उठा सकता है ।

4. **गोपनीयता** - बाजार में प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए व्यावसायिक गोपनीयता लाभदायक सिद्ध हो सकती है । एकल स्वामित्व में 100 प्रतिशत गोपनीयता प्राप्त की जा सकती है ।
5. **निर्णय लेने में शीघ्रता** - एकल व्यापारी व्यवसाय का अकेला स्वामी होता है । इसलिए निर्णय लेने में उसको किसी के परामर्श की आवश्यकता नहीं हो सकती है । व्यवसाय में उपयोगी अवसरों का लाभ उठाने के लिए शीघ्र निर्णय की आवश्यकता होती है । इस दृष्टिकोण से व्यावसायिक संगठन का यह स्वरूप लाभदायक है ।
6. **क्रियाकलापों में लोचता** - एकल स्वामित्व संस्था वाले व्यवसाय में अधिक लोचता होती है । बदलते हुए समय और स्थितियों के अनुसार व्यवसाय को समायोजित किया जा सकता है । इसके साथ ही समायोजन या परिवर्तन से होने वाले दुष्परिणामों से बचा जा सकता है ।
7. **ग्राहकों एवं कर्मचारियों से व्यक्तिगत सम्बन्ध** - एकल व्यवसाय आकार में छोटा होता है, इसलिए स्वामी अपने कर्मचारियों एवं ग्राहकों से व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाये रख सकता है । ग्राहकों की तरफ ध्यान देने से विक्रय में वृद्धि होती है और कर्मचारियों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध से उनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है, फलस्वरूप उत्पादन-लागत कम होती है और अधिक विक्रय से व्यापार का लाभ बढ़ता है ।
8. **ऋण प्राप्ति क्षमता** - एकल व्यापारी व्यवसाय के द्वारा प्राप्त ऋण का भुगतान अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति और विनियोग से करने के लिए बाध्य होता है । इसलिए लेनदार अधिक विश्वास रखते हैं और ऋण देने में हिचकिचाते नहीं हैं ।
9. **सीमित सरकारी हस्तक्षेप** - इस व्यवसाय में सरकार और कानून का हस्तक्षेप नहीं के बराबर होता है । यद्यपि ऐसे व्यवसाय को भी श्रम और कर-सम्बन्धी नियमों का पालन करना पड़ता है, फिर भी व्यवसाय के दैनिक कार्यों में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता । इसी प्रकार इसके निर्माण एवं विघटन के सम्बन्ध में भी कोई सरकारी नियमन नहीं है ।

   इसके अतिरिक्त अग्रलिखित लाभ एकल स्वामित्व व्यवसाय के कारण समाज को प्राप्त होते हैं -

(II) समाज को लाभ

1. **जीवन का स्वतन्त्र स्वरूप** - व्यावसायिक संगठन उन व्यक्तियों के लिये प्रतिष्ठा प्रदान करता है जो दूसरे की सेवा नहीं करना चाहते और अपने व्यवसाय के स्वामित्व एवं नियन्त्रण में ही गर्व का अनुभव करते हैं । जिनके पास साधन कम हैं, ऐसे व्यक्तियों के लिए यह व्यवसाय जीविकोपार्जन का एक अच्छा माध्यम प्रस्तुत करता है । एकल व्यवसायी स्वयं ही प्रबन्धक एवं मालिक होता है, इसलिए उसको इस व्यवसाय से अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है ।
2. **व्यक्तिगत एवं सामाजिक गुणों का विकास** - एकल व्यवसायी व्यवसाय में उत्पन्न सभी समस्याओं का सामना करता है, इसलिये उसके अन्दर आत्मविश्वास, कर्तव्य-

परायणता, परिश्रम आदि गुणों का भरपूर विकास होता है । इन गुणों के साथ वह समाज में आदर का जीवन व्यतीत करता है ।

3. **आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का बँटवारा** - व्यावसायिक संगठन के इस स्वरूप में बहुत से व्यक्ति व्यवसाय के स्वामी बनते हैं । इस प्रकार देश में आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीकरण नहीं हो पाता और व्यवसाय का स्वामित्व कई हाथों में पहुँच जाता है ।

एकल स्वामित्व व्यवसाय अपनी विशेषताओं और गुणों के आधार पर अधिक सुगम एवं प्रभावशाली व्यावसायिक संगठन कहा जा सकता है, परन्तु इस संगठन की कुछ **सीमाएँ** हैं जो इस प्रकार हैं -

1. **सीमित वित्तीय साधन** - एकल व्यापारी की साधन-क्षमता बहुत सीमित होती है, क्योंकि इसके पास पूँजी जुटाने की क्षमता कम होती है । यदि उसके पास अधिक पूँजी भी है तो असीमित जोखिम के कारण वह विनियोग नहीं करना चाहता, फलस्वरूप ऐसे संगठन को बडे पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता । इस प्रकार बड़े पैमाने के उत्पादन से होने वाले लाभों को इस संगठन के स्वरूप में प्राप्त करना संभव नहीं होता ।
2. **सीमित प्रबन्धकीय योग्यता एवं कुशलता** - आधुनिक व्यवसाय में कई क्षेत्रों में, जैसे उत्पादन, वित्त, विपणन या कर्मचारी-सेवा सम्बन्धी कुशलता या ज्ञान की आवश्यकता होती है । एक व्यक्ति के लिए इन सभी क्षेत्रों में कुशल होना संभव नहीं है । इसलिये एकल व्यवसाय विशिष्ट कुशलता का प्रयोग नहीं कर पाता । इससे लाभ-अर्जन का क्षेत्र सीमित रहता है ।
3. **असीमित दायित्व** - व्यवसायी व्यापार के संपूर्ण जोखिम को स्वीकार करता है । यदि व्यवसाय में हानि होती है तो इसकी पूर्ति व्यापारी की निजी संपत्ति एवं साधनों से की जाती है, अत: उसका दायित्व असीमित माना जाता है ।
4. **अनिश्चित अवधि** - ऐसे व्यवसाय के लिए विपणन एवं ख्याति का निर्माण करने में अधिक समय लगता है । इसके अतिरिक्त व्यवसाय की अवधि व्यवसाय के स्वामी के जीवन से जुड़ी रहती है । यदि व्यवसाय के स्वामी की मृत्यु हो जाती है तो व्यवसाय का अन्त हो जाता है ।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि 'एकाकी नियन्त्रण प्रभावशीलता एवं लाभ के विचार से सर्वोत्तम है, बशर्ते वह आदमी व्यवसाय का प्रबन्ध करने में कुशल हो । परन्तु एक व्यक्ति का सर्वगुण-सम्पन्न होना संभव नहीं है, इसलिए ऐसा व्यवसाय निम्नलिखित दशाओं में ही उपयोगी हो सकता है -

1. जहाँ पर जोखिम न हो, या कम हो,
2. वित्तीय साधनों की आवश्यकता कम हो,
3. निर्णय शीघ्र लेने की आवश्यकता हो,
4. ग्राहक व्यक्तिगत सम्पर्क में रूचि रखते हों,
5. ग्राहक की व्यक्तिगत रूचि एवं पंसदगी पर विशेष ध्यान देने की जरूरत हो ।

1.3 साझेदारी

जब व्यवसाय के आकार में वृद्धि होती है, तो उसे चलाने के लिए अधिक पूँजी की जरूरत होती है । यदि एकल स्वामी अपेक्षित समरस पूँजी की पूर्ति स्वयं नहीं कर पाता. तो वह किसी एक या एक से अधिक व्यक्तियों को अपने व्यवसाय में साझेदार बना सकता है । कभी-कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर साझे से व्यवसाय शुरू करते है और अपनी पूँजी तथा कुशलता का सम्मिलित रूप से इस्तेमाल करते है ।

इस तरह "उन व्यक्तियों के बीच का समझौता साझेदारी कहलाता हे. जो किसी व्यवसाय के लाम में हिस्सेदार होने के लिए परस्पर सहमत हुए हों. और वह व्यवसाय उन सभी के द्वारा या उन सबकी ओर से उनमें से किसी एक के द्वारा चलाया जाता हो ।"

ऊपर दी गई परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि साझेदारी किसी अनुबन्ध द्वारा स्थापित होती है । साझेदारी से संबंधित सभी मुद्दे अनुबन्ध में लिखे जाते हैं । ये मुद्दे हैं व्यवसाय का नाम, साझेदारी की अवधि, साझेदारों द्वारा लगाई जाने वाली पूँजी का अनुपात, लाभ या हानि में साझेदारी की हिस्सेदारी का अनुपात, व्यवसाय का प्रबंध करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों का नाम आदि ।

साझेदारी- व्यवसाय के सभी स्वामी व्यक्तिगत रूप से **"साझेदार"** कहलाते हैं । संयुक्त रूप से उन्हें **"फर्म"** कहा जाता है । फर्म का व्यवसाय जिस नाम से चलाया जाता है उसे **"फर्म का नाम"** कहा जाता है ।

इस प्रकार साझेदारी में कम से कम दो व्यक्ति होने चाहिए । साझेदारों की संख्या बीस से अधिक नहीं हो सकती, किंतु बैंकिंग व्यवसाय के मामले में साझेदारों की संख्या दस से अधिक नहीं होनी चाहिए ।

साझेदारी के लक्षण या विशेषताएँ

(I) **मुख्य लक्षण** - साझेदारी की उपयुक्त परिभाषा के अध्ययन से साझेदारी की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट हैं -

1. **दो या दो से अधिक व्यक्ति** - साझेदारी की स्थापना के लिए कम से कम दो व्यक्तियों का होना अनिवार्य है । भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932 के अनुसार साझेदारी के साझेदारों की न्यूनतम संख्या दो होनी चाहिए । लेकिन साझेदारों की अधिकतम संख्या क्या होनी चाहिए, इस पर उक्त अधिनियम पूर्णतया-मौन है । इस विषय पर कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 11 में मार्गदर्शन अवश्य मिलता है । उक्त धारा के अनुसार बैंकिंग व्यवसाय चलाने वाली साझेदारी फर्म के साझेदारों की अधिकतम संख्या 10 तक हो सकती है जबकि अन्य व्यवसायों की दशा में अधिकतम संख्या 20 होती है, लेकिन बैंकिंग नियन्त्रण अधिनियम के अनुसार बैंकिंग का व्यवसाय केवल कम्पनी रूप में समामेलित संगठन ही कर सकते हैं । इस प्रकार साझेदारी फर्मे बैंकिंग का कारोबार नहीं कर सकतीं ।
2. **समझौता** - साझेदारों की स्थापना साझेदारों के मध्य समझौते के परिणामस्वरूप होती है । समझौते से ही साझेदारी के बीच पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित किए जाते हैं । यही

कारण है कि जो व्यक्ति वैधानिक दृष्टि से समझौता करने के अयोग्य होते है, वे साझेदार नहीं बन सकते । यह स्मरणीय है कि साझेदारी का समझौता मौखिक, लिखित अथवा गर्भित भी हो सकता है ।

3. **व्यवसाय** - साझेदारी का संगठन किसी वैध व्यवसाय को चलाने के लिए ही होना चाहिए । व्यवसाय के बिना दो या अधिक व्यक्ति सह-स्वामी बन सकते हैं, लेकिन साझेदार नहीं । किसी कानून द्वारा निषिद्ध व्यवसाय तथा जनहित सम्बन्धी परिचालित कारोबार साझेदारी की परिधि में नहीं आते है ।
4. **लाभ-अभिप्रेरक** - साझेदारी के रूप में किए जाने वाले व्यवसाय का उद्देश्य लाभ कमाना होता है, अत: साझेदारी के अनुबन्ध में लाभ-हानि के बँटवारे के बारे में सहमति होना आवश्यक है ।
5. **एजेन्सी-सम्बन्ध** - व्यवसाय संचालन सभी साझेदारों द्वारा अथवा सबकी तरफ से किसी एक साझेदार द्वारा किया जा सकता है । यह तथ्य साझेदारी की आवश्यक कसौटी है । साझेदारी में प्रत्येक साझेदार प्रधान और अभिकर्ता अथवा एजेन्ट भी होता है । फर्म के व्यवसाय का संचालन सभी साझेदारों द्वारा या कुछ साझेदारों द्वारा सभी के लिए किया जाता है । इस प्रकार प्रत्येक साझेदार व्यवसाय-संचालन में भाग ले सकता है । तीसरे पक्षों से व्यवहार करते समय प्रत्येक साझेदार अन्य साझेदारों का प्रतिनिधित्व भी करता है ।

(II) गौण लक्षण-

उपर्युक्त मूलभूत विशेषताओं के अलावा साझेदारी की कुछ अन्य विशेषतायें भी हैं जो मुख्य रूप से साझेदारों के अनुबन्धित सम्बन्धों से उत्पन्न होती है । ऐसी विशेषतायें इस प्रकार है -

1. **संयुक्त एवं पृथक दायित्व** - संयुक्त एवं पृथक असीमित दायित्व से आशय साझेदारी फर्म की सम्पत्ति को ऋणों के भुगतान के लिए अपर्याप्त होने पर साझेदारों की व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रयोग ऋणों के भुगतान के लिए किया जा सकता है । लेनदार अपने सम्पूर्ण ऋण की वसूली किसी एक साझेदार से भी कर सकते हैं । जिस साझेदार की सम्पत्ति का प्रयोग फर्म के ऋण के लिए किया जाता है, वह साझेदार अन्य साझेदारों से अनुपातिक योगदान प्राप्त करने का अधिकारी भी होता है ।
2. **हितों का हस्तान्तरण** - सभी साझेदारों की सहमति के बिना कोई साझेदार अपने स्वामित्व- सम्बन्धी हित को किसी अन्य व्यक्ति को हस्तांतरण नहीं कर सकता, परन्तु कोई साझेदार किसी अन्य साझेदार को अपने साझेदारी हित का हस्तांतरण कर सकता है । हित के हस्तांतरण पर यह प्रतिबन्ध इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक साझेदार फर्म का एजेन्ट होता है, इसलिए वह अपने हितों का किसी बाहरी व्यक्ति को हस्तांतरण नहीं कर सकता ।
3. **सद्भावना** - साझेदारी का निर्माण एक अनुबन्ध के द्वारा होता है, इसलिए प्रत्येक साझेदार को एक-दूसरे के साथ सद्भावना का व्यवहार रखना चाहिए । इसके लिए सही खाता रखना एवं पूर्ण सूचनाओं का आदान-प्रदान होना आवश्यक है ।

साझेदारी एवं सह स्वामित्व -

साझेदारी और सह स्वामित्व में अन्तर समझना आवश्यक है । सह स्वामित्व का आशय किसी ऐसी सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाले लाभ के वितरण से है जिसमें सभी व्यक्ति संयुक्त या सामान्य हित रखते हैं । यदि दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सम्पत्ति के संयुक्त रूप से स्वामी हैं तो इससे उनके बीच किसी साझेदारी का निर्माण नहीं होता । साझेदारी तभी होगी जब लाभ-विभाजन के उद्देश्य से व्यवसाय चलाने के लिए व्यक्तियों में कोई अनुबन्ध हो । **लार्ड लिन्ड्ले** के अनुसार, सह स्वामित्व एवं साझेदारी में निम्नलिखित मुख्य अन्तर है -

1. सह स्वामित्व आवश्यक रूप से ठहराव के द्वारा उत्पन्न नहीं होता, जबकि साझेदारी में अनुबन्ध का होना आवश्यक है ।
2. सह स्वामित्व में लाभ या हानि की सामुदायिकता नहीं होती, जबकि साझेदारी में ऐसा होता है ।
3. एक सहस्वामी बिना अन्य सहस्वामियों की सहमति के अपने हित का हस्तांतरण किसी अपरिचित को भी कर सकता है । एक साझेदार ऐसा नहीं कर सकता ।
4. एक सहस्वामी वास्तविक या गर्भित रूप से किसी दूसरे का एजेन्ट नहीं होता । एक साझेदार दूसरे साझेदार का एजेन्ट होता है ।

उपर्युक्त अन्तर के अलावा कुछ अन्तर इस प्रकार है -

1. सह स्वामित्व में सहस्वामियों की कोई अधिकतम सीमा नहीं होती है । एक बैंकिंग साझेदारी फर्म में सदस्यों की अधिकतम सीमा 10. और अन्य व्यवसाय में 20 होती है ।
2. सह स्वामित्व में व्यवसाय का होना आवश्यक नहीं है, जबकि साझेदारी का निर्माण व्यवसाय करने के लिए ही होता है ।

साझेदारी के प्रकार -

साझेदारी व्यवसाय को निम्नांकित दो प्रमुख खण्डों में विभाजित किया जा सकता है

(अ) सामान्य साझेदारी

(ब) सीमित साझेदारी

(अ) सामान्य साझेदारी के निम्न प्रकार होते हैं -

(i) इच्छा पर आधारित साझेदारी

(ii) विशेष साझेदारी

(iii) संयुक्त उपक्रम

(i) **इच्छा पर आधारित साझेदारी** - जब किसी साझेदारी का निर्माण बिना किसी अवधि को निश्चित किये ही किया जाता है तो उसे 'इच्छा पर आधारित साझेदारी कहते हैं । ऐसी साझेदारी उस समय तक चलती रहेगी जब तक साझेदारों की सहमति हो । यदि कोई साझेदार अपनी साझेदारी को समाप्त करने सम्बन्धी नोटिस फर्म को देता है तो साझेदारी का विघटन हो जाता है ।

(ii) **विशेष साझेदारी** - यदि कोई साझेदारी किसी विशेष अवधि या कार्य के लिये बनायी जाती है तो उस अवधि के समाप्त होने पर या कार्य के पूरा होने पर साझेदारी स्वत: समाप्त हो जायेगी ।

(iii) **संयुक्त उपक्रम** - किसी विशेष कार्य को करने के लिये संयुक्त उपक्रम स्थापित किये जाते हैं । संयुक्त उपक्रम के सदस्यों के अधिकारियों को परिभाषित किया जाता है, परन्तु किसी सदस्य की मृत्यु होने से संयुक्त उपक्रम के सदस्यों के उपक्रम प्रभावित नहीं होते हैं । जब तक कार्य पूरा नहीं होता, तब तक कोई भी सदस्य अपनी सदस्यता को संयुक्त उपक्रम से समाप्त नहीं कर सकता । संयुक्त उपक्रम से होने वाले लाभ को सदस्यों में निर्धारित अनुपात में बाँट दिया जाता है ।

(ब) सीमित साझेदारी - सीमित साझेदारी में एक या अधिक साझेदारों को छोड़ कर सभी साझेदारों का दायित्व सीमित होता है । जिन साझेदारों का दायित्व उनके द्वारा प्रदान की गयी पूँजी तक सीमित होता है, उन्हें विशेष या सीमित साझेदार कहते हें । सीमित साझेदार व्यवसाय के प्रबन्ध में भाग नहीं लेता है और उसके अवकाश-ग्रहण, मृत्यु या दिवालियापन से फर्म के अस्तित्व पर प्रभाव नहीं पड़ता है । सीमित साझेदारी हमारे देश में नहीं पायी जाती है क्योंकि विधान में इसकी व्यवस्था नहीं है । परन्तु ऐसी साझेदारी इंग्लैंड, अमेरिका और अन्य यूरोपीय देशों में अधिक पायी जाती है ।

साझेदारों के भेद

साझेदार कई प्रकार के होते है । इनका विभाजन व्यावसायिक हित, लोक दायित्व और प्रबन्धकीय उत्तरदायित्व के आधार पर किया जाता है -

1. **सक्रिय अथवा वास्तविक साझेदार** - जो साझेदार व्यवसाय के संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेता है, उसे सक्रिय साझेदार कहते हैं । वास्तविक अर्थ में वे पूर्ण साझेदार कहे जा सकते हैं । ऐसे साझेदार को अवकाश ग्रहण करते समय सार्वजनिक सूचना देनी चाहिये जिससे कि वह अवकाश ग्रहण के बाद होने वाले फर्म-सम्बन्धी दायित्व से अपने को मुक्त कर सके ।
2. **निष्क्रिय साझेदार** - कुछ साझेदार फर्म में केवल पूँजी लगाते हैं और साझेदारी व्यवसाय में किसी प्रकार का भाग नहीं लेते हैं । इन्हें निष्क्रिय साझेदार कहा जाता है । ऐसे साझेदार फर्म के लाभ-हानि में हिस्सेदार होते हैं, प्रबन्ध में कुछ भाग लेते हैं, परन्तु फर्म के साथ उनका सम्बन्ध सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं किया जाता है । परन्तु एक अप्रकट नियोक्ता की भाँति ऐसे साझेदार तीसरे पक्ष के लिये फर्म के दायित्वों के लिये उत्तरदायी होता है । अवकाश-ग्रहण की सार्वजनिक सूचना देने के लिये ऐसा साझेदार बाध्य नहीं होता ।
3. **शांत साझेदार** - जब कोई साझेदार ठहराव के अधीन साझेदारी व्यवसाय के प्रबन्ध में कोई हिस्सा नहीं लेता तो ऐसे साझेदार को 'शांत साझेदार' कहा जाता है । ऐसे साझेदार को लाभ-हानि में हिस्सा मिलता है, वे फर्म के ऋण के लिये दायी होते हैं और व्यवसाय के संचालन में सक्रिय भाग नहीं लेते हैं ।

4. **केवल लाभ के लिये साझेदार** - जब कोई साझेदार केवल लाभ प्राप्त करने का अधिकारी होता है और हानि के लिये दायी नहीं होता है तो उसे **'लाभ के लिये साझेदार'** कहा जाता है । नियमानुसार ऐसा साझेदार प्रबन्ध में कोई भाग नहीं लेता, परन्तु तीसरे पक्ष के साथ उसका दायित्व असीमित रहता है ।
5. **उप-साझेदार** - जब कोई साझेदार फर्म से अपने हित में किसी अन्य को भागी बना लेता है तो ऐसे तीसरे व्यक्ति को उप-साझेदार कहते हैं । ऐसा उप-साझेदार फर्म के विरूद्ध कोई अधिकार नहीं रखता और फर्म के ऋण के लिये दायी भी नहीं होता है ।
6. **प्रदर्शन या अभिवेदन द्वारा साझेदार** - यदि कोई व्यक्ति अपने व्यवहार से या अपना नाम देकर या लिखित या मौखिक रूप से बाहरी व्यक्तियों के साथ अभिवेदन करता है कि वह किसी साझेदारी फर्म में साझेदार है तो बाद में साझेदार न होने का दावा नहीं कर सकता । इसके अलावा उस फर्म में एक साझेदार के बाद में साझेदार न होने का दावा नहीं कर सकता । इसके अलावा उस फर्म में एक साझेदार के रूप में दायी होगा यदि उसके प्रदर्शन पर किसी ने फर्म को साख प्रदान की है । वास्तव में ऐसा व्यक्ति उस फर्म का साझेदार नहीं होता, क्योंकि कोई ठहराव नहीं होता, लाभ-हानि बाँटने का कोई अनुबन्ध नहीं होता, प्रबन्ध में कोई योगदान नहीं होता, परन्तु चूंकि ऐसा व्यक्ति साझेदार होने का अभिवेदन करता है, इसलिये बाहरी व्यक्तियों की दृष्टि में वह साझेदार समझा जाता है । उसको नाम मात्र का साझेदार भी कहा जा सकता है । प्रदर्शन के सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को अधिकार तभी मिलता है जबकि यह सिद्ध हो जाय कि उसने अभिवेदन के आधार पर ही फर्म को ऋण दिया है । परन्तु ऐसे साझेदार के वैधानिक प्रतिनिधि उसकी मृत्यु के बाद फर्म के कार्यो के लिये दायी नहीं होते, चाहे उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में सार्वजनिक सूचना दी गयी हो या नहीं । प्रदर्शन का सिद्धान्त दिवालिया साझेदार के सम्बन्ध में भी लागू नहीं होता ।

एक आदर्श साझेदारी की विशेषताएँ

संयुक्त व्यवसाय में होने वाले मानवीय एवं भौतिक साधनों की आवश्यकता को पूरा करने के लिये साझेदारी व्यवसाय किया जाता है । इसके अतिरिक्त साझेदारी व्यवसाय में सद्भावना और एजेन्सी सम्बन्ध पाये जाते हैं । इसलिये साझेदारी में उन्हीं व्यक्तियों का चुनाव करना चाहिये जो पूँजी लगा सकते हैं, या व्यावसायिक योग्यता होने से एक आदर्श साझेदारी का निर्माण सम्भव है । इसके अलावा एक आदर्श साझेदारी में निम्न गुण होते हैं -

1. **सद्भावना** - साझेदारी में परस्पर विश्वास होना चाहिये और आपस में सद्भावनापूर्ण व्यवहार होना चाहिये । इसके लिये साझेदारी का चुनाव सावधानीपूर्वक होना चाहिये और उनकी संख्या कम से कम होनी चाहिये ।
2. **समान दृष्टिकोण** - साझेदारी व्यवसाय को सुचारू रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि चुने हुए साझेदार समस्याओं के प्रति समान दृष्टिकोण रखें । उदाहरणस्वरूप, एक साझेदार को जो तकनीकी ज्ञान रखता है, दूसरे सामान्य साझेदार में समायोजन रखना कठिन हो सकता है । इसी प्रकार एक अत्यधिक साहसी साझेदार और एक अत्यधिक सावधान साझेदार के बीच समन्वय होना कठिन होता है ।

3. **कुशलता एवं प्रतिमा** - प्रत्येक साझेदार को साझेदारी व्यवसाय में पूँजी या कुशलता या प्रचुर साधनों को लगाना पड़ता है । इसलिये साझेदार का चुनाव करते सभा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उन्हीं व्यक्तियों को साझेदार बनाया जाय जो व्यावसायिक आवश्यकताओं को प्रदान कर सकते हों ।
4. **पर्याप्त वित्त** - कोई व्यवसाय प्रभावशाली ढंग से तब तक कार्य नहीं कर सकता है जब तक कि उसके पास दीर्घकालीन और अल्पकालीन वित्तीय साधन न हों । दीर्घकालीन साधन साझेदारों की पूँजी द्वारा प्राप्त हो जाता है । अल्पकालीन वित्त को उधार पर प्राप्त किया जा सकता है ।
5. **स्थायित्व** - फर्म की अवधि जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही वह अधिक मजबूत और आर्थिक दृष्टिकोण में सशक्त होती है । साझेदारों को साझेदारी व्यवसाय में रहते हुए व्यवसाय को कुशल और लाभप्रद बनाना चाहिए ।
6. **लिखित ठहराव** - साझेदारी के पारस्परिक अधिकार एवं दायित्व के सम्बन्ध में एक लिखित समझौता होना आवश्यक है । इससे मतभेद और झगडों को सुलझाने में मदद मिलती है । समझौते में पूँजी, लाभ-वितरण, पूँजी पर ब्याज, कमीशन, वेतन इत्यादि के सम्बन्ध में विस्तृत वितरण रखना चाहिए ।
7. **पंजीकरण** - साझेदारी निर्माण के बाद ही इसका पंजीकरण फर्म के पंजीयक के यहाँ करा देना चाहिए । अपंजीकृत फर्म कुछ वैधानिक सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सकती, जैसे तीसरे पक्ष के विरूद्ध एक अपंजीकृत फर्म अपने कानूनी उपचारों का प्रयोग नहीं कर सकती । तीसरे पक्ष के विरूद्ध अपने अधिकारों का प्रयोग करने के पहले किसी भी समय फर्म का पंजीकरण किया जा सकता है ।

साझेदारी व्यवसाय की विशेषताओं, निर्माण एवं लाभ को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि संगठन का साझेदारी स्वरूप मध्यम आकृति के उपक्रम के लिये उपयोगी है । ऐसे संगठन में कम टैक्स का बोझ होता है । इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रयास अधिक महत्वपूर्ण होते हैं ।

गुण -

1. **निर्माण की सुविधा** - एकल व्यवसाय की भाँति संगठन का साझेदारी स्वरूप वैधानिक औपचारिकताओं से मुक्त होती है, इसलिये इसका निर्माण सुगम होता है ।
2. **अधिक साधन** - एकल व्यापार की तुलना में साझेदार व्यवसाय में अधिक पूँजी इकट्ठी हो जाती है, क्योंकि एक से अधिक व्यक्ति साझेदार होते हैं । इस व्यवसाय की साख भी अधिक होती है और ऋण प्राप्त करने की सुविधा रहती है । इससे साझेदारी व्यवसाय बड़े पैमाने पर कार्य कर सकता है और बड़े पैमाने के उत्पादन की जो बचतें दो से अधिक व्यक्तियों के रूप में होता है । कई व्यक्तियों को योग्यता एवं निर्णय-क्षमता के संयुक्त रूप से प्रयोग करने से समूचे व्यवसाय को लाभ होता है । विशिष्ट ज्ञान और श्रम- विभाजन का लाभ भी प्राप्त होता है ।
3. **लचकता** - साझेदारी व्यवसाय का नियमन किसी विशेष अधिनियम के अनुसार नहीं होता, जैसा कि कम्पनी व्यवसाय में होता है । फलस्वरूप साझेदारी व्यवसाय में अधिक लचकता होती है, व्यवसाय में परिवर्तन, उसका विस्तार या अन्य किसी प्रकार का

व्यापारिक परिवर्तन बड़ी आसानी से किया जा सकता है । एक व्यवसाय को छोड़कर यदि दूसरे व्यवसाय को अपनाना हो तो साझेदारी व्यवसाय में कोई वैधानिक कठिनाई नहीं होती ।

4. **शीघ्र निर्णय** - एक साझेदारी फर्म निर्णय लेने में शीघ्रता कर सकती है । किसी समय साझेदार व्यावसायिक समस्याओं पर बातचीत करने के लिये इकट्ठा हो सकते हैं, परन्तु एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी में संचालकों या अंशधारियों की सभा बुलाने में काफी समय बरबाद होता है ।
5. **सावधानी** - साझेदारों का दायित्व असीमित होता है, इसलिये व्यवसाय को चलाने में साझेदार पर्याप्त सावधानी बरतते हैं ।
6. **अतिजीविता-क्षमता** - एक साझेदारी फर्म की जीवन अवधि एकल व्यवसाय की तुलना में अधिक होती है । किसी साझेदार की मृत्यु होने पर यह आवश्यक नही है कि साझेदारी समाप्त हो जाय । इसके अतिरिक्त फर्म कई प्रकार के व्यवसाय प्रारम्भ कर सकती है, क्योंकि पूँजी साधन एकल व्यवसाय की तुलना में अधिक होते हैं ।
7. **सन्तोषजनक सार्वजनिक सम्बन्ध** - प्रत्येक साझेदार कर्मचारियों, ग्राहकों एवं सामान्य नागरिकों आदि के साथ अच्छा सम्बन्ध विकसित कर सकता है । अच्छे सम्बन्ध होने से व्यवसाय में अच्छी प्रगति होती है और व्यवसाय का लाभ भी बढ़ता है । इससे फर्म की साख बढ़ती है ।
8. **अल्पमत के हितों की सुरक्षा** - साझेदारी व्यवसाय में साझेदारी फर्म के मूलभूत परिवर्तन के लिये सभी साझेदारों की सहमति आवश्यक होती है । इस प्रकार हर एक साझेदार के दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं होती है ।

अवगुण -

1. **सामंजस्य की कमी** - साझेदारी व्यवसाय उस समय सफल होता है जब तक साझेदारों में पारस्परिक मेल-जोल एवं सद्भावना हो । यदि किसी भी समय इस सद्भावना की कमी हो जाय तो अच्छी से अच्छी साझेदारी का भी अन्त हो जाता है ।
2. **सीमित साधन** - सामान्य साझेदारी में साझेदारों की अधिकतम संख्या 20 और बैंकिंग व्यवसाय में अधिकतम संख्या 10 होती है । इस प्रकार साझेदारों की कम संख्या होने के कारण पूँजी साधन की कमी रहती है । यही कारण है कि बड़े पैमाने पर व्यवसाय करने के लिये साझेदारी व्यवसाय उपयुक्त नहीं होता ।
3. **व्यवसाय में अस्थिरता** - साझेदारी व्यवसाय किसी साझेदार की मृत्यु अवकाश-ग्रहण या दिवालियापन के कारण सामान्य रूप से समाप्त हो जाता है । यही नहीं, साझेदारों में मतभेद होने पर भी फर्म का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता
4. **लोक-विश्वास की कमी** - साझेदारी व्यवसाय का नियमन एवं संचालन वैधानिक कम और ऐच्छिक अधिक होता है, इसलिये इसके प्रति लोगों का विश्वास कम होता है । इसके विपरीत कम्पनी व्यवसाय में सम्पूर्ण कार्य कम्पनी अधिनियम के अनुसार होता है जिससे लोगों का विश्वास बना रहता है ।

5. **गर्भित प्राधिकार सम्बन्धी जोखिम** - फर्म के साझेदार अपने कार्यो के लिये फर्म को दायी ठहराते हैं, फलस्वरूप फर्म किसी भी समय वित्तीय कठिनाई में पड़ सकती है ।
6. **असीमित दायित्व** - फर्म का साझेदार केवल अपने कार्यो के लिये ही नहीं, बल्कि अन्य साझेदारों के कार्यो के लिये भी वैधानिक रूप से दायी होता है । इस विचार से एक साझेदारी एकल व्यवसाय की तुलना में अधिक दोषपूर्ण संगठन है । साझेदार इसी डर के कारण अधिक पूँजी लगाने या व्यवसाय का विस्तार करने से कतराते है।
7. **हितों का अहस्तांतरण** - साझेदारी में कोई भी साझेदार अन्य साझेदार की सहमति के बिना अपने हितों का हस्तांतरण नहीं कर सकता ।
8. **सामाजिक हानि** - साझेदारी फर्म के किसी भी कारण से समाप्त होने पर सामाजिक हानि होती है, जैसे फर्म में लगे हुए व्यक्ति बेकार हो जाते हैं, तो समाज को प्राप्त होने वाले उत्पादन एवं सेवाओं में कमी आ जाती है ।

साझेदारी फर्म की विशेषताओं और गुणों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संगठन का साझेदारी स्वरूप ऐसे व्यावसायिक क्रियाओं के लिये उपयोगी है जिनमें सापेक्षिक रूप से कम पूँजी की आवश्यकता होती है, जिसमें कुशलता एवं निर्णय की आवश्यकता होती है और जिनमें जोखिमपूर्ण उपक्रम से बचा जा सकता है । साझेदारी व्यवसाय के लिये निर्माणी, व्यापारिक एवं सेवाओं से सम्बन्धित क्रियाएँ उपयुक्त होती हैं ।

1.4 संयुक्त पूँजी कम्पनी

आम तौर पर जब किसी व्यवसाय के लिए काफी बड़ी मात्रा में पूँजी विनियोजन की आवश्यकता हो, तो उस व्यवसाय को कंपनी के रूप में ही करना बेहतर समझा जाता है । क्योंकि बड़े कारोबार के लिए आम तौर पर कंपनी ही सबसे ज्यादा सुविधाजनक व्यावसायिक संगठन होता है । कम्पनी में पूँजी एक या दो व्यक्तियों द्वारा नहीं, बल्कि कई व्यक्तियों द्वारा लगाई जाती है, अत: इसके कई स्वामी भी होंगे । इन्हें अंशधारी कहा जाता है ।

कम्पनी को एक व्यक्ति के समान कानूनी मान्यता प्राप्त है । इसलिए इसे कृत्रिम व्यक्ति भी कहते हैं । इसका अपना नाम होता है और अपनी निगम मुद्रा होती है । व्यक्तियों की तरह इसका निरंतर उत्तराधिकार चलता है ।

कम्पनी को भारतीय कंपनी अधिनियम 1956 के अधीन पंजीकृत करना पड़ता है । उसे अपना काम कंपनी अधिनियम के नियम-कानूनों को मानते हुए करना होता है । कंपनी के शेयरधारियों की संख्या काफी अधिक होती है, इसलिए सभी शेयरधारी उसके प्रबंध में हिस्सा नहीं ले सकते । इस कारण वे अपने प्रतिनिधि चुनते हैं । ये प्रतिनिधि कंपनी के निदेशक कहलाते हैं, जो कंपनी का नियंत्रण और मार्ग-दर्शन करते हैं । कम्पनी के दैनिन्दन कार्यो का उत्तरदायित्व सामान्यतया वेतनभोगी प्रबंधकों को सौंप दिया जाता है ।

संयुक्त पूँजी कम्पनी' शब्द की परिभाषा - अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश **मार्शल** के अनुसार - ''निगम एक कृत्रिम व्यक्ति है जो अदृश्य एवं अमूर्त है और जिसका अस्तित्व केवल विधान की दृष्टि में ही होता है । केवल विधान द्वारा निर्मित होने के कारण इसको वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो इसका निर्माणकर्ता अनुज्ञापत्र में स्पष्ट. रूप से प्रदान करता है अथवा जो इसके अस्तित्व

के लिये आवश्यक है ।" कम्पनी व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों की एक समामेलित एवं ऐच्छिक संस्था है जिसमें संयुक्त पूँजी निश्चित अंकित मूल्य के हस्तांतरणीय अंशों में विभाजित होती है और जिसमें सीमित दायित्व सामान्य मुद्रा एवं शाश्वत उत्तराधिकार होता है ।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार एक कंपनी की अग्रलिखित विशेषताएँ या लक्षण होते हैं-

1. **समामेलित संगठन** - दो या दो से अधिक व्यक्तियों का कोई भी संगठन जो व्यवसाय करने के लिये कंपनी अधिनियम, 1956 के अधीन समामेलित होता है, उसे समामेलित संगठन कहते हैं । कंपनी-निर्माण का यह पहला कदम है ।
2. **कृत्रिम वैधानिक व्यक्ति** - एक कंपनी **'कृत्रिम वैधानिक'** व्यक्ति है । इसका आशय है कि कंपनी का जन्म एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा होता है जिसमें प्राकृतिक जन्म जैसी कोई बात नहीं होती और एक प्राकृतिक व्यक्ति की भाँति इसमें शारीरिक लक्षण भी नहीं होते । फिर भी कंपनी को एक प्राकृतिक व्यक्ति के सभी अधिकार प्राप्त होते हैं । यह अदृश्य और अमूर्त, अमर (विधान द्वारा ही आरंभ एवं विघटन संभव है और विधान की दृष्टि में ही इसका अस्तित्व है) । कम्पनी की कोई आत्मा, शरीर, चेतन शक्ति नहीं होती । इन सभी लक्षणों के कारण ही कम्पनी को कृत्रिम व्यक्ति कहा जाता है । यह कृत्रिम होती है, परन्तु वास्तव में इसका अस्तित्व होता है । इस प्रकार विधान के एक प्राकृतिक व्यक्ति की तरह कम्पनी के भी अधिकार और कर्तव्य होते हैं । वैधानिक व्यक्ति होने के कारण कम्पनी वह सब काम नहीं कर सकती जो कि एक जीवित व्यक्ति द्वारा किए जा सकते हैं, जैसे न्यायालय में व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत होना, वकालत या डॉक्टरी पेशा करना, विवाह करना या तलाक लेना इत्यादि ।
3. **स्वतंत्र वैधानिक अस्तित्व** - कम्पनी एक वैधानिक व्यक्ति होता है जिसका स्वयं कानूनी व्यक्तित्व होता है । यह कानूनी व्यक्तित्व कम्पनी के सदस्यों से अलग एवं स्वतन्त्र होता है । यह सम्पत्ति की स्वामी बन सकती है ओर संपत्ति-संबंधी स्वामित्व का हस्तांतरण कर सकती है । कोई भी सदस्य व्यक्तिगत रूप से या संयुक्त रूप से कम्पनी की संपत्ति में स्वामित्व-संबंधी अधिकार का दावा नहीं कर सकता । यह मुकदमा कर सकती है और इसके ऊपर सदस्य और बाहरी व्यक्ति भी वाद प्रस्तुत कर सकते हैं । इसी प्रकार कम्पनी के लेनदार कम्पनी के सदस्यों के विरूद्ध प्रत्यक्ष रूप में वाद प्रस्तुत नहीं कर सकते ।

   यद्यपि कम्पनी एक वैधानिक व्यक्ति होती है जिसकी राष्ट्रीयता होती है, परन्तु यह एक नागरिक नहीं होती । इसलिये एक नागरिक के कुछ अधिकार, जैसे वोट देने का अधिकार, कम्पनी को प्राप्त नहीं होता, परन्तु एक कम्पनी किसी अधिनियम को चुनौती दे सकती है यदि इसके मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन होता है ।
4. **शाश्वत उत्तराधिकार** - संयुक्त पूँजी कम्पनी का अस्तित्व शाश्वत होता है । इसका अस्तित्व संचालकों या सदस्यों की मृत्यु दिवालियापन या अवकाश-ग्रहण से प्रभावित नहीं होता । सदस्य प्रवेश करते हैं, अवकाश ग्रहण करते हैं, परन्तु कम्पनी उस समय

तक कार्य कर सकती है जब तक विधान की शर्तों को यह पूरा करती है । इस प्रकार कम्पनी का अस्तित्व शाश्वत होता है ।

5. **सार्वमुद्रा** - कम्पनी एक कृत्रिम व्यक्ति होने के कारण प्रलेखों पर हस्ताक्षर नहीं कर सकती । इसलिये प्रलेखों पर हस्ताक्षर के लिये सार्वमुद्रा का प्रयोग किया जाता है । इस सार्वमुद्रा पर कम्पनी का नाम होता है । कोई भी प्रलेख जिस पर कम्पनी की सार्वमुद्रा है और जिस पर कम-से कम दो संचालकों के हस्ताक्षर हैं, कम्पनी के ऊपर वैधानिक रूप से बाध्यकारी होता है ।
6. **सीमित दायित्व** - सदस्यों का दायित्व उनके खरीदे गये अंशों या दी गई गारन्टी तक सीमित होता है । कम्पनी के सदस्य अंशों की रकम ही केवल देने के लिए बाध्य होते हैं, यद्यपि कम्पनी की सम्पत्ति लेनदारों के दावों का भुगतान करने के लिये पर्याप्त नहीं है । अंशधारी की निजी सम्पत्ति कम्पनी के ऋणों के लिये प्रयोग नहीं की जा सकती यदि अंशधारी के अंश पूर्ण प्रदत्त हैं ।
7. **अंशों का हस्तांतरण** - लोक कम्पनी के सदस्य अपने अंशों को किसी को भी हस्तांतरण कर सकते हैं । स्टॉक एक्सचेंज के माध्यम से अंशों को खरीदा और बेचा जा सकता है।
8. **स्वामित्व एवं प्रबन्ध में पृथकता** - सामान्यतया अंशधारियों की संख्या, जो कम्पनी के सदस्य होते हैं, अधिक होती है, इसलिये वे सभी अंशधारी कम्पनी के दैनिक प्रबंध में भाग नहीं ले सकते । कम्पनी अधिनियम में संचालक मण्डल की व्यवस्था है जिसका चुनाव कम्पनी की वार्षिक सभा में कम्पनी की देख रेख के लिये किया जाता है ।

कम्पनी के उपर्युक्त लक्षण कम्पनी अधिनियम में सम्मेलन या पंजीकरण द्वारा ही प्राप्त होते हैं । एक साझेदारी फर्म का पंजीकरण भारतीय साझेदारी अधिनियम 1932 के अन्तर्गत हो सकता है, परन्तु एक फर्म को उपर्युक्त लक्षण प्राप्त नहीं होते ।

कम्पनी और साझेदारी में अन्तर

तत्व /आधार	साझेदारी	कम्पनी
1 अधिनियम	भारतीय साझेदारी अधिनियम, (1932)	कम्पनी अधिनियम, (1956)
2 सदस्यों की संख्या	न्यूनतम-2 अधिकतम-सामान्य व्यवसाय में 20 और बैंकिंग व्यवसाय में 10	निजी कम्पनी न्यूनतम-2 अधिकतम-50, लोक कम्पनी-न्यूनतम 7 अधिकतम-अधिकृत पूँजी जितने अंशों में विभाजित हो ।
3 अस्तित्व	साझेदारों से पृथक कोई अलग अस्तित्व नहीं ।	सदस्यों से पृथक इसका वैधानिक अस्तित्व है ।
4 दायित्व	असीमित ।	सीमित ।

5	प्रबन्ध	सभी साझेदार प्रबन्ध में भाग ले सकते हैं ।	संचालक गण के सदस्य ही प्रबन्ध में भाग ले सकते हैं ।
6	हितों का हस्तांतरण	सभी साझेदारों की सहमति के बिना संभव नहीं ।	निजी कम्पनी को छोड़कर अंशों का हस्तांतरण मुक्त रूप से होता है ।
7	निर्माण	कोई वैधानिक औपचारिकता नहीं ।	वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा करने के बाद ही निर्माण ।
8	पंजीकरण	अनिवार्य नहीं ।	पंजीकरण (सम्मेलन) के बाद ही कम्पनी का अस्तित्व ।
9	अवधि	अस्थिर जीवन-अवकाश- ग्रहण मृत्यु या साझेदार के पागल होने पर साझेदारी समाप्त ।	शाश्वत जीवन-अंशधारियों की मृत्यु अवकाश - ग्रहण, दिवालियापन इत्यादि से कम्पनी समाप्त नही होती ।
10	खातों का अंकेक्षण	कानूनी रूप से अनिवार्य नही।	वैधानिक रूप से अनिवार्य है ।
11	वित्तीय साधन	साझेदारों द्वारा लगायी गई पूजीं तक ही सीमित है।	अंशों व ऋण पत्रों का निर्गमन करके अधिक वित्तीय साधन इकट्ठे किये जा सकते हैं ।
12	उद्देश्य में परिवर्तन	बिना किसी वैधानिक औपचारिकताओं और सभी साझेदारों की सहमति द्वारा।	अधिनियम मे दी गई व्यवस्थाओं को पूरा करने के बाद ही ।
13	कार्य का नियमन	दैनिक कार्यो का कोई वैधानिक रूप से नियमन नहीं ।	विभिन्न वैधानिक आवश्यकताओं को और सरकार की विभिन्न रिपोर्ट एवं प्रलेख फाइल करने पड़ते हैं ।
14	बहुमत का नियम	नीति-संबंधी मामलों में सभी साझेदारों की सहमति आवश्यक ।	नीति-संबंधी मामले बहुमत के आधार पर तय किए जाते हैं ।
15	विघटन	बिना किसी औपचारिकता को पूरा किये इच्छा पर ही विघटन संभव है ।	इच्छा पर विघटन संभव नहीं, केवल विधान में दिये गये नियमों के अनुसार ही समाप्ति होती है ।

1.5 कम्पनी के प्रकार

कम्पनी का विभाजन विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर किया जा सकता है जो इस प्रकार है -

1. सम्मेलन की विधि के आधार पर -
   (i) वैधानिक कम्पनी
   (ii) समामेलित कम्पनी

2. सदस्यों की संख्या के आधार पर -
   (i) निजी कम्पनी
   (ii) लोक कम्पनी
   (iii) सरकारी कम्पनी
3. सदस्यों के दायित्व के आधार पर -
   (i) अंशों द्वारा सीमित कम्पनी
   (ii) गारंटी द्वारा सीमित कम्पनी
   (iii) असीमित कम्पनी
4. कम्पनियों के बीच संबंधों के आधार पर -
   (i) सूत्रधारी कम्पनी
   (ii) सहायक कम्पनी
5. राष्ट्रीयता के आधार पर -
   (i) राष्ट्रीय कम्पनियाँ
   (ii) बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ

1. सम्मेलन की विधि के आधार पर -

किसी कम्पनी का सम्मेलन संसद के विशेष अधिनियम या राज्य विधान मंडल के किसी अधिनियम या कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत हो सकता है । इस प्रकार इस दृष्टिकोण से एक कम्पनी निम्न प्रकार की हो सकती है -

(i) **वैधानिक कम्पनी** - ऐसी कम्पनियों का सम्मेलन केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार के किसी अधिनियम के अधीन होता है । ऐसी कम्पनी के उदाहरण हैं - रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, औद्योगिक वित्त निगम, जीवन बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट, एयर लाइन्स निगम, एयर इंडिया निगम, इत्यादि । इन कम्पनियों / नियमों के उद्देश्य एवं अधिकार आइ- नियम द्वारा परिभाषित होते हैं, इसलिए ऐसी कंपनियों के लिए पार्षद सीमा नियम रखना जरूरी नहीं होता । इसके अतिरिक्त ऐसी कंपनियों के नाम के साथ 'Limited' शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं है । भारत का कंपट्रोलर एण्ड ऑडिटर जनरल ऐसी कम्पनियों का अंकेक्षण करता है।

(ii) **समामेलित कम्पनी** - कम्पनी अधिनियम के अधीन पंजीकृत कम्पनियाँ समामेलित या पंजीकृत' कम्पनियाँ कहलाती हैं । वैधानिक कम्पनी / निगम को छोड़कर इस श्रेणी में सभी कम्पनियाँ आती हैं । यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि बीमा, बैंकिंग एवं बिजली कम्पनी का सम्मेलन यद्यपि कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत ही होता है, परन्तु उनका संचालन एवं नियमन क्रमश: बीमा अधिनियम 1938, बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 और बिजली आपूर्ति अधिनियम, 1949 के अंतर्गत होता है । कम्पनी अधिनियम की व्यवस्थाएँ इन कम्पनियों में उस सीमा तक लागू होती हैं और उन मामलों के संबंध में लाग होती हैं जिनके संबंध में इन अधिनियमों में कोई विरूद्ध बात न कही गयी हो ।

2. सदस्यों की संख्या या लोकहित के आधार पर -
   (i) निजी कम्पनी
   (ii) लोक कम्पनी
   (iii) सरकारी कम्पनी

सदस्यों की संख्या या सार्वजनिक हित के आधार पर पंजीकृत कम्पनियों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है

(i) **निजी कम्पनी** - निजी कम्पनी के अंतर्नियम में निम्न व्यवस्थायें होती हैं-
   1. सदस्यों के अंश हस्तांतरण-सम्बन्धी अधिकार पर प्रतिबन्ध रहता है ।
   2. सदस्यों की अधिकतम संख्या 50 होती है । इसमें कम्पनी रो सेवायोजन में लगे सदस्य सम्मिलित नहीं होते हैं ।
   3. ऐसी कम्पनी के अंश या ऋणपत्र जनता को नहीं बेचे जाते हैं ।

निजी कम्पनी के निर्माण के लिये आवश्यक न्यूनतम संख्या 2 है । ऐसी कम्पनी अपने नाम के साथ 'प्राइवेट' शब्द लिखती है । निजी कम्पनी को कुछ विशेषाधिकार एवं छूट प्रदान की जाती है जो अन्य कम्पनियों को प्राप्त नहीं होती है ।

(ii) **लोक कम्पनी** - लोक कम्पनी वह है जो निजी कम्पनी नहीं होती है । ऐसी कम्पनी में गिन बातें पाई जाती हैं -
   1. अंशों के हस्तांतरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता,
   2. सदस्यों की अधिकतम संख्या निश्चित नहीं होती,
   3. अंश एवं ऋणपत्र बेचने के लिए जनता को आमंत्रित किया जाता है ।

सार्वजनिक कम्पनी के निर्माण के लिये न्यूनतम सदस्य संख्या 7 है ।

निजी कम्पनी और सार्वजनिक कम्पनी में अन्तर

	तत्व /आधार	प्राइवेट कम्पनी	लोक कम्पनी
1.	सदस्यों की संख्या	न्यूनतम-2 अधिकतम-50	न्यूनतम-7 अधिकतम अधिकृत पूँजी के अनुसार
2.	संचालकों की संख्या	न्यूनतम-2	न्यूनतम-3
3.	'लिमिटेड' शब्द का प्रयोग	प्राइवेट लिमिटेड का प्रयोग	केवल 'लिमिटेड' शब्द का प्रयोग
4.	अंश एवं ऋणपत्र	जनता को नही बेचे जा सकते।	अंश एवं ऋणपत्र जनता को आमंत्रित किये जाते हैं ।
5.	प्रविवरण का निर्गमन	निर्गमन करने की आवश्यकता नही।	निर्गमन करने की आवश्यकता होती है।
6.	अंशों का आवंटन	सम्मेलन के बाद ही अंशों का आवंटन हो सकता है।	अंशों का आवंटन प्रविवरण निर्गमन अंश, निर्गमन, न्यूनतम पूँजी संबंधी व्यवस्थाओं के पूरा करने के बाद ही संभव है ।

7.	योग्यता अंश	संचालकों के लिये आवश्यक नही है।	संचालक बनने के लिए योग्यता अंश आवश्यक नही है।
8.	अंश हस्तांतरण	प्रतिबन्ध है	कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।
9.	अंश प्रमाण पत्र	वाहक अंश के लिए शेयर वारंट निर्गमित नहीं किए जा सकते ।	निर्गमित हो सकते है।
10.	वैधानिक सभा	ऐसी सभा करने के लिए कम्पनी बाध्य नहीं है ।	ऐसी सभा वैधानिक रूप से आवश्यक है, जिसके संबंध में वैधानिक रिपोर्ट कम्पनी के रजिस्ट्रार को देनी पड़ती है ।
11.	संचालकों को ऋण	कम्पनी के संचालकों को कम्पनी के ऋण केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना मिल सकता है।	केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना संचालकों को ऋण नहीं मिल सकते ।
12.	व्यवसाय का प्रारूप	सम्मेलन प्रमाण पत्र प्राप्त करने के बाद ही व्यवसाय का प्रारंभ हो जा सकता है ।	'व्यवसाय प्रारंभ का प्रमाण-पत्र' प्राप्त करने के बाद ही व्यवसाय प्रारम्भ किया जा सकता है ।
13.	प्रबंधकीय पारिश्रमिक	कोई प्रतिबंध नहीं ।	वार्षिक लाभ का 11 प्रतिशत हो सकता है । अपर्याप्त लाभ होने पर सीमा 50,000 रूपये है ।

(iii) **सरकारी कम्पनी** - एक कम्पनी उस समय सरकारी कम्पनी होती है जब ऐसी कम्पनी की कम-से-कम 51 प्रतिशत पूँजी केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार या संयुक्त रूप से दोनों के पास हो । इस परिभाषा में सरकारी कम्पनी की सहायक कम्पनी को भी सम्मिलित करते हैं ।

3. सदस्यों के दायित्व के आधार पर -

सदस्यों के दायित्व के आधार पर निम्न प्रकार की कम्पनियों का पंजीकरण हो सकता है -

(i) अंशों द्वारा सीमित कम्पनी

(ii) गारन्टी द्वारा सीमित कम्पनी

(iii) असीमित कम्पनी

(i) **अंशों द्वारा सीमित कम्पनी**: जब कम्पनी के सदस्यों का दायित्व उनके द्वारा खरीदे गये अंशों के मूल्य तक सीमित रहता है तो उसे सीमित कम्पनी कहते हैं । यदि किसी सदस्य ने अंशों पर सभी मूल्यों का भुगतान कर दिया है तो वह कम्पनी के प्रति कोई दायित्व नहीं रखता । यदि किसी व्यक्ति ने अंश के कुछ मूल्य का भुगतान कर दिया है तो उसका दायित्व भुगतान न किये अंश तक ही सीमित रहता है । भारत में बहुत-सी कम्पनियाँ इस श्रेणी में आती हैं ।

(ii) **गारन्टी द्वारा सीमित कम्पनियाँ** - ऐसी कम्पनी में सदस्यों का दायित्व उस धन तक सीमित रहता है जो धन वे कम्पनी के विघटन के समय कम्पनी की सम्पत्ति के रूप में देने का वचन देते हैं । जब तक कम्पनी का विघटन नहीं होता, तब तक सदस्यों से यह धन माँगा नहीं जा सकता । इसलिये यह 'संचय पूंजी के रूप में रहता है । ऐसी कम्पनी में अंशपूँजी का होना आवश्यक नहीं है । ऐसी कम्पनियों का निर्माण मुख्यतया अव्यावसायिक कार्यो के लिये, जैसे कला, संस्कृति, खेलकूद का विकास इत्यादि के लिये होता है । कम्पनी के अंतर्नियम के सदस्यों की संख्या रजिस्ट्रेशन के समय लिखी होनी चाहिए ।

(iii) **असीमित कम्पनी** - जिस कम्पनी के सदस्यों का दायित्व सीमित नहीं होता है, उसे असीमित कम्पनी कहते हैं । ऐसी कम्पनी में सदस्यों का दायित्व उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति से भी संबंधित होता है । इस दृष्टिकोण से यह कम्पनी साझेदारी फर्म के समान होती है । यह साझेदारी से भिन्न है, क्योंकि ऐसी कम्पनी के लेनदार प्रत्यक्ष रूप से कंपनी के विरूद्ध वाद प्रस्तुत नहीं कर सकते । गलती होने पर लेन-देन कम्पनी के विघटन के लिए कार्यवाही कर सकते हैं । इसका कारण यह है कि कंपनी का एक अलग वैधानिक अस्तित्व होता है । साझेदारी फर्म में साझेदारों का कोई अलग अस्तित्व नहीं होता है । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सदस्यों का दायित्व कम्पनी के विघटन के समय ही उत्पन्न होता है ।

4. कम्पनी और कम्पनी के बीच सम्बन्धों के आधार पर -

जब एक कम्पनी किसी दूसरी कम्पनी के प्रबन्ध पर नियन्त्रण करती है तो नियन्त्रण करने वाली कम्पनी को 'सूत्रधारी कम्पनी' कहते हैं और नियन्त्रित की जाने वाली कम्पनी को सहायक कम्पनी कहते हैं । सूत्रधारी कम्पनी सहायक कम्पनी के संचालक मण्डल पर बहुमत का नियन्त्रण रखती है जिससे कि उसके प्रबन्ध पर नियन्त्रण किया जा सके इसके लिए सूत्रधारी कम्पनी ऐसी सहायक कम्पनी के आधे से अधिक अंशों की मालिक होती है ।

5. **राष्ट्रीयता के आधार पर -**

इस आधार पर कम्पनी (क) **राष्ट्रीय,** और (ख) **बहुराष्ट्रीय** हो सकती है । राष्ट्रीय कम्पनी अपना व्यवसाय उस देश तक ही सीमित रखती है जिस देश में उसका पंजीकरण हुआ रहता है । बहुराष्ट्रीय कम्पनी पंजीकरण वाले देश से बाहर अन्य देशों में भी व्यवसाय करती है ।

1.6 संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी के लाभ एवं दोष

संयुक्त पूँजी कम्पनी भारत में ही नहीं, बल्कि अन्य देशों में भी लोकप्रिय हैं । कम्पनी संगठन की लोकप्रियता के अग्रलिखित कारण है -

1. **अत्यधिक वित्तीय साधन** - अंशों एवं ऋण पत्रों का निर्गमन करके संयुक्त पूँजी कम्पनी अधिक धन इकट्ठा कर सकती है । कम्पनी के अंश 10,20,25,50,100 रूपये

में विभाजित होते है । इस प्रकार कम आय वाले व्यक्ति भी विनियोग कर सकते हैं । कम्पनी के अंशधारी अपने अंश का हस्तांतरण भी कर सकते हैं । इस प्रकार व्यावसायिक क्रियाओं के लिये कम्पनियों में अधिक धन इकट्ठा हो सकता है ।

2. **सीमित दायित्व** - कम्पनी के अंशधारियों का दायित्व उनके द्वारा खरीदे गये अंश के अंकित मूल्य तक ही सीमित होता है । उनकी व्यक्तिगत संपत्ति कम्पनी के ऋण के लिये प्रयोग नहीं की जा सकती है । इसकी तुलना में सकल स्वामित्व एवं साझेदारी फर्म में दायित्व असीमित होता है ।
3. **निरन्तरता** - एक कम्पनी का निर्माण विधान द्वारा होता है और विधान के अन्तर्गत इसका एक पृथक अस्तित्व होता है । इसलिये सदस्यों के छोड़कर चले जाने से इसके अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । समामेलित संस्था के रूप में इसका शाश्वत अस्तित्व होता है । जिस व्यवसाय के बनाने एवं स्थापित करने में दीर्घकाल की आवश्यकता होती है, उसके लिये यह संगठन उपयुक्त है ।
4. **अंशों का हस्तांतरण** - सार्वजनिक कम्पनी में अंशधारी अंशों का हस्तांतरण कर सकते हैं । इसके विनियोग में तरलता बनी रहती है । स्कन्ध विनिमय के होने से अंशों का पुन: हस्तांतरण संभव हो जाता है।
5. **बडे पैमाने पर किया** - एक कम्पनी अधिक मात्रा में पूँजी इकट्ठा कर सकती है और बड़े पैमाने पर क्रियाओं के लिये आवश्यक वित्त की आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है । बड़े पैमाने पर क्रियाओं के होने से उत्पादन, क्रय, विक्रय प्रबन्ध, विज्ञान इत्यादि में बचत होती है, फलस्वरूप कार्यक्षमता में वृद्धि होती है और उत्पादन लागत में कमी आती है ।
6. **पेशेवार प्रबंध** - वित्तीय साधन की प्रचुरता एवं व्यावसायिक क्रियाओं की आवश्यकता के अनुरूप कम्पनी में पेशेवार प्रबन्ध का विकास किया जाता है । संचालक मंडल एवं विभिन्न प्रबन्धकीय स्थिति पर कुशल प्रबन्धक नियुक्त किये जा सकते हैं । पेशेवार प्रबन्धक प्रबन्धकीय कुशलता का प्रयोग करके कम्पनी में अधिक लाभप्रद बनते हैं जिससे प्रतिस्पर्द्धी फर्मो के साथ कम्पनी की क्षमता मजबूत होती है।
7. **लोक-विश्वास** - कम्पनी का निर्माण एवं विघटन सभी क्रियाएँ कम्पनी अधिनियम के अनुसार होती हैं । कम्पनी के खातों का विधिवत् अंकेक्षण होता है और खातों का प्रकाशन भी किया जाता है । इन सभी क्रियाओं से लोकविश्वास में वृद्धि होती है ।
8. **विस्तार एवं उन्नति के लिये अवसर** - व्यावसायिक क्रियाओं के विस्तार के लिये कम्पनी संगठन उपयुक्त है । देश एवं विदेशों में वृहद् उपक्रम का जो विकास हुआ है, उसमें कम्पनी संगठन का अत्यधिक योगदान है । अन्य व्यावसायिक संगठनों में वित्तीय साधन कम होते हैं और दायित्व भी असीमित होता है, परन्तु कम्पनी संगठन में इन दोनों बातों के अनुकूल होने से कम्पनी में उन्नति की अधिक संभावना होती है।
9. **सामाजिक लाभ** - कम्पनी संगठन के माध्यम से समाज में होने वाली छोटी-छोटी बचतों को इकट्ठा किया जा सकता है और वाणिज्य एवं औद्योगिक उपक्रमों में उनका विनियोग भी संभव है । कम्पनी संगठन से अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलता है

और समाज को अधिक मात्रा में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन मिलता है । प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों द्वारा सरकार को अधिक आय प्राप्त होती है ।

10. **कर-सम्बन्धी लाभ** - आयकर अधिनियम में कम्पनी एवं अन्य संगठनों के सम्बन्ध में कर-सम्बन्धी निमयों में अन्तर है । कम्पनियों के ऊपर एक अलग संस्था के रूप में कर लगता है और अंशधारियों को भी लाभांश मिलने पर अलग से कर देना पड़ता है । इसके विपरीत साझेदारी फर्म या एकल स्वामित्व का स्वामियों से विपरीत कोई अलग अस्तित्व नहीं होता । ऐसे व्यवसाय में टैक्स कुल आय पर लगता है, चाहे वह आय साझेदारों में बाँट दी जाती हो या व्यवसाय में रोक ली जाती हो । इस प्रकार समायोजित और असमामेलित संगठनों में कर प्रभाव-सम्बन्धी अन्तर होता है । साधारणतया अधिक आय के लिये समामेलित स्वरूप उपयोगी होता है, जबकि कम आय की दशा में समामेलित संगठन उपयोगी हो सकते हैं ।

दोष-

कम्पनी संगठन के निम्नलिखित दोष हैं -

1. **कठिन एवं खर्चीला निर्माण** - कम्पनी के निर्माण में अनेक वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा करना पड़ता है । इसके लिये कम्पनी अधिनियम की व्यवस्थाओं को पूरा करना आवश्यक है । इन प्रारंभिक औपचारिकताओं को पूरा करने में ही अधिक व्यय करना पड़ता है । इसके अतिरिक्त विभिन्न प्राधिकरणों से अनुमोदन एवं स्वीकृति प्राप्ति करनी होती है । इन सभी व्यवस्थाओं को पूरा करने में अधिक समय लगता है, फलस्वरूप कम्पनी निर्माण के लिये लोग उत्साहित नहीं हो पाते ।
2. **कपटपूर्ण प्रबन्ध का डर** - कम्पनी निर्माण में प्रवर्तक बेईमानी व धाँधली कर सकते हैं । निर्दोष एवं अनभिज्ञ विनियोजकों से पैसा इकट्ठा करके कम्पनी का निर्माण करने के बाद कम्पनी का विघटन कर सकते हैं । साउथ सी नवल कम्पनी इसका एक ही उदाहरण है ।
3. **व्यक्तिगत रूचि का अभाव** - कम्पनी का प्रबन्ध संचालक मण्डल व प्रबन्धकों द्वारा होता है जो कि कम्पनी के स्वामी नही होते हैं । इस प्रकार प्रबन्धक-वर्ग एवं अंशधारियों में अलगाव होता है, फलस्वरूप कम्पनी संगठन में व्यक्तिगत लगन एवं रूचि का पूर्णतया अभाव दिखायी देता है । इसके विपरीत एकल स्वामित्व एवं साझेदारी फर्म में व्यक्तिगत रूचि सदैव पाई जाती है ।
4. **प्रबन्ध में एकाधिकार** - कम्पनी का प्रबन्ध साधारणतया केवल कुछ व्यक्तियों के द्वारा होता है । सिद्धान्त में, प्रत्येक अंशधारी वार्षिक साधारण सभा में एवं अन्य सभाओं में भाग लेने का अधिकार रखता है और इस अधिकार द्वारा वह संचालकों, अंकेक्षकों की नियुक्ति करता है, परन्तु आमतौर पर अंशधारियों में सभा में उपस्थित रहने की इच्छा नहीं रहती है । केवल वे सभा में उपस्थित होते हैं जो कम्पनी के प्रबन्ध में भाग लेते हैं । इस प्रकार कम्पनी के प्रबन्ध पर नियंत्रण प्राप्त करते हैं और प्रत्येक वर्ष नियंत्रण बनाये रखते हैं ।

5. **निर्णय में अनुचित देरी** - कम्पनी का कार्य-संचालन कम्पनी अधिनियम एवं अन्य निर्देशन के अधीन किया जाता है, इसलिये एक कम्पनी विभिन्न औपचारिकताओं को पूरा करने के बाद ही प्रबन्ध-सम्बन्धी कोई निर्णय ले सकती है । इन औपचारिकताओं के पूरा होने में अधिक समय लगता है । इसी बीच व्यावसायिक अवसर प्राप्त हो जाते हैं । एकल स्वामित्व एवं साझेदारी फर्म की तुलना में कम्पनी संगठन अनुपयोगी सिद्ध होता है ।
6. **अत्यधिक नियमन** - एक कम्पनी को विभिन्न वैधानिक अवस्थाओं को पूरा करना पड़ता है । विशेष रूप से एक सार्वजनिक कम्पनी में यह बात अत्यधिक रूप से लाग होती है।
7. **सट्टे की संभावना** - कम्पनी के संचालक एवं प्रबन्धक कम्पनी की क्रियाओं के सम्बन्ध में आन्तरिक सूचनाओं की जानकारी रखते हैं । इस प्रकार कम्पनी की शक्ति एवं दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर कम्पनी के अंश एवं ऋणपत्र में लेन-देन करते हैं । इससे अच्छी से अच्छी कम्पनियाँ भी वित्तीय कठिनाई में पड़ सकती हैं और अंशों के मूल्य में अत्यधिक उच्चावचन हो सकते हैं ।
8. **गुप्तता का अभाव** - कम्पनी अधिनियम, 1956 के अनुसार कम्पनी को सूचनाएँ प्रकट करनी पड़ती हैं । इससे कम्पनी का प्रबन्ध गुप्त नही रह पाता, जबकि एकल स्वामित्व और साझेदारी फर्म में व्यवसाय की गुप्तता बनी रहती है ।
9. **अल्पमत की उपेक्षा** - कम्पनी का प्रबन्ध बहुमत के सिद्धान्त के आधार पर होता है, इसलिये जो अंशधारी अल्पमत में होते हैं, उनका प्रतिनिधित्व कभी संचालक मण्डल पर नहीं हो पाता है, फलस्वरूप अल्पमत के हितों की रक्षा नहीं हो पाती है और वे बहुमत द्वारा शासित होते हैं ।
10. **एकाधिकार का निर्माण** - कम्पनी का स्वरूप विस्तृत होने से कच्चे माल की खरीद, अन्तिम माल की आपूर्ति, पेटेट्स इत्यादि के सम्बन्ध में कम्पनी को एकाधिकार की स्थिति प्राप्त हो जाती है । व्यवहार में एकाधिकार के पनपने से श्रमिकों एवं उपभोक्ताओं का शोषण होता है ।
11. **औद्योगिक शान्ति का अभाव** - कम्पनी में बड़े पैमाने पर श्रमिकों को आवश्यकता होती है और अधिक श्रमिकों के होने रो उनमें संघ-प्रवृत्ति का विकास होता है । इसके अतिरिक्त श्रमिकों एवं प्रबन्धकों में सन्देह एवं अविश्वास का वातावरण जन्म लेता है । बाद में इससे औद्योगिक झगड़े, हडताल एवं तालाबन्दी होती है ।
12. **राजनैतिक हस्तक्षेप** - कम्पनी संगठन वृहत् स्वरूप प्राप्त करके देश के साधनों पर काबू पा लेता है । कम्पनियाँ राजनैतिक दलों एवं प्रमुख राजशतक व्यक्तियों को चुनाव के समय धन देती हैं । इन सभी क्रियाओं से देश का राजनैतिक जीवन प्रभावित होता है, फलस्वरूप शासक दल ऐसा कोई निर्णय लेने में कतराता है जिससे बडे व्यवसाय-गृहों पर विपरीत प्रभाव पडता है ।

निष्कर्ष -

समामेलित संगठन के गुण एवं दोषों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कम्पनी संगठन के लाभ, हानियों से अधिक हैं । कम्पनी संगठन की उपर्युक्त जो भी सीमाएँ हैं, वे संगठन-प्रणाली के कारण नहीं हैं, बल्कि उन व्यक्तियों की दुर्बलताओं के कारण उत्पन्न होती हैं जो कम्पनी का प्रबन्ध करते हैं । इसलिये कम्पनी संगठन स्वयं दोषपूर्ण नहीं हैं, परन्तु उस समय दोषपूर्ण हो जाता है जब प्रबन्ध गलत व्यक्तियों के हाथ में पहुँच जाता है । यही कारण है कि संगठन का कम्पनी स्वरूप अग्रलिखित व्यावसायिक क्रियाओं के लिए उपयुक्त है -

1. जहाँ पर अधिक पूँजी विनियोग की आवश्यकता है ।
2. जिस व्यवसाय को केवल कम्पनी द्वारा ही चलाया जा सकता है, जैसे बैंकिंग व्यवसाय साझेदारी फर्म और एकल स्वामित्व द्वारा चलाया नहीं जा सकता ।
3. जहाँ व्यवसाय में असीमित दायित्व न रखना हो ।
4. व्यावसायिक क्रिया बड़े पैमाने पर करना है और उसमें अधिक जोखिम एवं अनिश्चितता निहित है ।

1.7 सहकारी संगठन

उपर्युक्त जितने प्रकार के व्यावसायिक संगठन का वर्णन किया गया है, उनका उद्देश्य लाभ कमाना है । सहकारी संगठन अन्य व्यावसायिक संगठनों से भिन्न हैं, क्योंकि इसकी स्थापना लाभ कमाने के लिये नहीं की जाती है, बल्कि यह समाज एवं सदस्यों को सेवा प्रदान करने के लिये ही बनाया जाता है । सहकारी संगठन मुख्य रूप से समाज के कमजोर वर्गो के आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिये स्थापित किया जाता है । एक सहकारी संगठन का मुख्य आधार लाभ के स्थान पर सेवा, प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग, निर्भरता के स्थान पर आत्मनिर्भरता, अनैतिक व्यावसायिक क्रियाओं के स्थान पर नैतिक मुख्य है । इस प्रकार सहकारी संगठन आर्थिक अथवा व्यावसायिक हित को पूरा करने के लिये व्यक्तियों का एक ऐच्छिक संगठन है ।
विशेषताएँ या लक्षण -

सहकारी संगठन की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं -

1. **ऐच्छिक संघ** - किसी सामान्य उद्देश्य को पूरा करने के लियेकुछ व्यक्ति एक संघ का निर्माण कर सकते हैं । अपनी इच्छानुसार सदस्य अपनी पूंजी को वापस ले सकते हैं । इस प्रकार सहकारी सहायता दो मुख्य तत्व होते हैं -
   - कोई भी व्यक्ति चाहे किसी धर्म, जाति, रंग, विचार का हो, इस संगठन का सदस्य हो सकता है।
   - सदस्य बिना किसी डर या भय के संघ का निर्माण कर सकते हैं ।
2. **प्रजातन्त्रीय कार्य-प्रणाली** - सहकारी संगठन का कार्य प्रबन्ध समिति द्वारा होता है, इसके सदस्य पक सदस्य एक वोट' के आधार पर चुने जाते हैं । सामान्य नीति का निर्धारण सदस्यों की सामान्य सभा द्वारा किया जाता है और उस नीति के अनुसार ही प्रबन्धकीय समिति कार्य करती है ।

3. **पूँजी** - सहकारी संगठन की पूँजी सदस्यों की अंशपूँजी द्वारा इकट्ठी की जाती है, परन्तु अंशपूँजी सम्पूर्ण पूँजी का एक अल्प भाग होता है । पूँजी का अधिकांश भाग सरकारी ऋण एवं अनुदान द्वारा पूरा किया जाता है ।
4. **पूँजी पर सीमित लाभ** - सहकारी संगठन में लगाई गयी पूँजी पर एक निश्चित दर से सदस्यों को दिया जाता है । इसके अतिरिक्त इन संगठनों में लाभ कमाने का कोई मौलिक उद्देश्य नहीं रहता ।
5. **सेवा-प्रयोजन** - जैसा कि पहले कहा गया है, सहकारी संगठन समाज और विशेष रूप से अपने सदस्यों को सेवा प्रदान करने के लिये स्थापित किया जाता है, परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि संगठन लाभ के लिए कार्य नहीं करता ।ऐसे बहुत-से सहकारी संगठन हैं जो उचित लाभ अर्जित कर रहे हैं, परन्तु इन संगठनों में लाभ के स्थान पर सेवा पर अधिक जोर दिया जाता है ।
6. **आधिक्य का वितरण** - सहकारी संगठन द्वारा अर्जित व्यापार-आधिक्य सदस्यों को लाभांश के रूप में बॉटा नहीं जाता है । वर्तमान विधान के अनुसार लाभ का एक-चौथाई भाग सामान्य संचय में हस्तान्तरित करना पड़ता है । इसी प्रकार लाभ का 10 प्रतिशत तक समाज के कल्याण के लिए खर्च किया जा सकता है । शेष बोनस आधिक्य का प्रयोग एक निश्चित आधार पर बोनस के रूप में किया जाता है । सदस्यों को बोनस सहकारी संगठन द्वारा की गई खरीद या समाज को दी गयी वस्तुओं के आधार पर बाँटा जाता है ।
7. **पृथक वैधानिक अस्तित्व** - एक कम्पनी की भाँति सहकारी संगठन का पृथक एवं सदस्यों से अलग अस्तित्व होता है, इसलिये इसका शाश्वत जीवन होता है । सदस्यों के आने या चले जाने का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । यह संगठन अपने नाम से वाद प्रस्तुत कर सकता है । इसी प्रकार सम्पत्ति को खरीदने तथा विक्रय करने का कार्य इस संगठन के द्वारा अपने नाम से ही किया जा सकता है ।
8. **राज्य-नियमन** - सहकारी संगठन का निर्माण सहकारी समिति अधिनियम, 1919 अथवा अन्य राज्य सहकारी समिति अधिनियम के अनुसार किया जाता है । सहकारी संगठन को सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के पास पंजीकरण होने के लिए कुछ निश्चित वैधानिक आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है ।

लाभ -

विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों के अपने गुण-दोष हैं, परन्तु कुछ सामान्य गुण सभी प्रकार की समितियों में पाये जाते हैं जो इस प्रकार हैं -

1. **सुगम निर्माण** - ऐच्छिक संस्था होने के कारण सहकारी समितियों का निर्माण बहुत ही सुगम है । इसके निर्माण में अधिक वैधानिक व्यवस्थाओं को पूरा नहीं करना पड़ता है । कोई भी दस सदस्य ऐच्छिक रूप से एक संघ बना सकते है और रजिस्ट्रार के यहाँ इसका विधिवत् पंजीकरण करा सकते हैं ।
2. **प्रजातांत्रिक प्रणाली** - सहकारी समितियों का प्रबन्ध सदस्यों द्वारा चुनी गई एक प्रबन्ध कमेटी के हाथ में होता है । इस प्रबन्ध कमेटी का चुनाव रंक व्यक्ति एक वोट' के

आधार पर किया जाता है । इस प्रकार यदि किसी सदस्य के कई अंश हैं तो उसको भी एक ही वोट प्राप्त होता है ।

3. **सीमित दायित्व** - संयुक्त कम्पनी संगठन की भाँति एक सहकारी संगठन में सदस्यों का दायित्व सीमित होता है । सीमित दायित्व-सम्बन्धी तथ्य सहकारी समितियों के नियमन में लिखा रहता है जिसका पंजीकरण के समय रजिस्ट्रार सत्यापन करता है ।
4. **निरन्तरता** - कम्पनी की भाँति सहकारी समितियों का भी एक पृथक वैधानिक अस्तित्व होता है जो सदस्यों से भिन्न होता है, अंत: सहकारी संगठन किसी सदस्य के मरने, दिवालिया होने या सजा होने से प्रभावित नहीं होता है ।
5. **कर-सम्बन्धी छूट** - सहकारी समितियों को उनके द्वारा अर्जित आमदनी पर विभिन्न प्रकार की कम दी जाती है । उदाहरणार्थ एक सहकारी संगठन की आमदनी पर न्यूनतम छूट 15 हजार रूपये तक हैं ।
6. **राज्य द्वारा सहायता** - विभिन्न राज्यों में सहकारी आन्दोलनों आर्थिक नीति के रूप में अपनाया गया है, इसलिये राज्य सरकारी द्वारा इन समितियों को ऋण, अनुदान एवं वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है ।
7. **सामाजिक सेवा** - सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों में नैतिक एवं शैक्षणिक मूल्यों का विकास करती है । ये मूल आदर्श जीवन के लिये आवश्यक हैं ।
8. **असमानता को कम करना** - सहकारी समितियों के लाभ समाज के उन वर्गो को अधिक मिलते हैं, जो गरीब एवं आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं । इससे गरीब वर्ग की आर्थिक उन्नति होती है और अमीर तथा गरीब के बीच जो अन्तर या असमानता है, कम होने लगती है ।

दोष -

1. **सीमित पूँजी** - सहकारी समितियों के सदस्य एक विशेष क्षेत्र से सम्बन्धित होते है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को एक ही वोट प्राप्त होता है, चाहे उसके अंश के मूल्य कितने ही क्यों न हों । इन सभी कारणों से समितियों की अंशपूँजी कम होती है ।
2. **अत्यधिक राज्य नियमन** - सहकारी समितियों को राज्य के सहकारी विभाग द्वारा आर्थिक एवं वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है, इसलिये इन समितियाँ पर राज्य सरकार के विभागों द्वारा अधिक नियमन थोपा जाता है । अधिक नियमन के प्रयोग के किये जाने से राज्य सरकार का हस्तक्षेप बढ़ जाता है ।
3. **प्रबन्धकीय प्रतिभा का अभाव** - सहकारी समितियों का प्रशासन एक प्रबन्ध कमेटी द्वारा किया जाता है, जिसके सदस्य समिति के सदस्यों में से चुने जाते है । इन सदस्यों में प्रबन्ध-सम्बन्धी कुशलता एवं योग्यता नहीं होती है । इन अकुशल प्रबन्धकों द्वारा समिति की देखरेख एवं प्रबन्ध-व्यवस्था कारगर नहीं हो सकती, परन्तु उच्च स्तर पर यह कमी नहीं होती है, क्योंकि राज्य स्तर या शीघ्र स्तर पर कुशल व्यक्ति

नियुक्त किये जा सकते हैं, फिर भी कम्पनी संगठन में जितने कुशल एवं योग्य व्यक्ति पाये जाते हैं, उतने कुशल व्यक्ति सहकारी समिति संगठन में नहीं मिलते ।

4. **गुप्तता का अभाव** - सहकारी समितियों का पृथक् वैधानिक अस्तित्व होता है, इसलिये इनको अपने सदस्यों को सम्पूर्ण क्रियाओं को प्रकट करना पड़ता है । यही बात कम्पनी संगठन में भी लागू होती है । सभी गतिविधियाँ एवं व्यावसायिक क्रियाओं को प्रकट करने से संगठन में गुप्तता नही रह पाती है ।
5. **प्रलोभन या प्रेरणा का अभाव** - सहकारी समितियों के सदस्यों को एक निश्चित को एक निश्चित दर से (61/2प्रतिशत) लाभांश मिलता है, इसलिये अधिक परिश्रम से कार्य करने के लिये प्रबन्ध कमेटी के सदस्यों को प्रोत्साहन नहीं मिलता है ।
6. **सदस्यों में मन मुटाव** - यद्यपि सहकारी समितियों का निर्माण सहकारिता एवं आत्म-निर्भरता जैसे मूल्यों के लिये किया जाता है, परन्तु समय की समाप्ति के साथ सदस्य इन मूल्यों की रक्षा नहीं कर पाते । छोटे-छोटे मामलों पर सदस्यों के बीच मतभेद तथा मनमुटाव दिखाई देता है । इससे सहकारी संगठन के पतन का डर सदैव बना रहता है ।

सहकारी संगठन स्वरूप के गुण एवं दोषों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह छोटे एवं मध्यम आकृति वाले व्यवसाय के लिये उपयुक्त हैं, क्योंकि इसमें सीमित पूँजी, सीमित साधन, सीमित राज्य हस्तक्षेप, कम साख क्षमता पायी जाती है, परन्तु आजकल कुछ सहकारी संगठन बड़े पैमाने पर चलाये जा रहे हैं, जैसे भारतीय किसान खाद सहकारी जिसमें 100 करोड़ रूपये से भी अधिक पूँजी लगी हुई है ।

1.8 श्रेष्ठ व्यावसायिक संगठन का चुनाव

किसी नये व्यवसाय की स्थापना करते समय संगठन का चुनाव-संबंधी निर्णय कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे - व्यवसाय का स्वरूप, व्यवसाय का परिणाम और क्षेत्र, नियंत्रण की सीमा, दायित्व की सीमा, प्रारंभिक पूँजी की आवश्यकता, व्यवसाय की निरंतरता, सरकारी हस्तक्षेप और कर-प्रभाव । ये सभी घटक एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर हैं । उदाहरण के लिये, पूँजी की आवश्यकता व्यवसाय की मात्रा और प्रकृति द्वारा प्रभावित होती है । जोखिम की सीमा व्यावसायिक क्रियाओं के पैमाने पर निर्भर करती है । नियंत्रण और लाभ-विभाजन व्यवसाय में जोखिम एवं दायित्व से सम्बन्धित हैं । संगठन के चुनाव पर विभिन्न घटकों के प्रभावों का वर्णन नीचे किया जा रहा है -

1. **व्यावसायिक क्रिया का स्वभाव** - सर्वप्रथम उपक्रमी को यह निश्चित करना पड़ता है कि वह किस प्रकार का व्यवसाय प्रारम्भ करे, अर्थात् व्यापार, उत्पादन या सेवा । व्यवसाय की प्रकृति को निश्चित करने के बाद ही वह संगठन के बारे में सोच सकता है । छोटे पैमाने पर कोई व्यापार करने के लिए एकल व्यवसाय उपयुक्त है, परन्तु निर्माणी व्यवसाय के लिये साझेदारी फर्म या कम्पनी-संगठन उपयुक्त है ।

2. **व्यवसाय का पैमाना** - यदि उत्पादित एवं विक्रय वस्तु की मात्रा अधिक हो तो कम्पनी संगठन उपयुक्त है, इसके विपरीत छोटे पैमाने पर व्यवसाय करने के लिये साझेदारी फर्म या एकल व्यवसाय उपयुक्त होगा ।
3. **व्यवसाय का क्षेत्र** - यदि व्यवसाय का विस्तार दूर-दूर तक क्षेत्रों में होने की संभावना है तो कम्पनी संगठन किसी अन्य संगठन से अधिक उपयुक्त है, परन्तु यदि व्यवसाय को किसी विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रखना है तो साझेदारी फर्म या एकल व्यवसाय पर्याप्त होगा ।
4. **नियन्त्रण की सीमा** - यदि कोई व्यापारी व्यवसाय पर नियन्त्रण रखना चाहता है तो उसके लिये एकल व्यवसाय ठीक रहेगा, परन्तु यदि वह प्रत्यक्ष नियन्त्रण में उत्सुक नहीं है और बड़े पैमाने पर व्यवसाय करना चाहता है तो कम्पनी या सहकारी संस्था अधिक उपयोगी होगी ।
5. **प्रारम्भिक वित्त की आवश्यकता** - यदि व्यवसाय में प्रारम्भ के अधिक वित्त की आवश्यकता है तो कम्पनी संगठन का चुनाव ठीक रहेगा, लेकिन यदि प्रारम्भ में कम पूँजी की आवश्यकता हो तो एकल व्यवसाय या साझेदारी फर्म से काम चल सकता है ।
6. **दायित्व** - यदि उपक्रमों को असीमित दायित्व की चिंता नहीं है तो वह व्यवसाय को एक एकल व्यवसाय के रूप में प्रारम्भ कर सकता है, परन्तु यदि वह असीमित दायित्व का बोझ नहीं सह सकता है तो उसे साझेदारी या कम्पनी निर्माण पर ही जोर देना चाहिये ।
7. **व्यवसाय की निरंतरता** - यदि व्यवसाय को दीर्घकाल तक चलाना है तो कम्पनी या सहकारी संगठन ठीक रहेगा । इसके विपरीत अल्पकाल के लिये ही व्यवसाय खोलने के लिए एकल व्यवसाय या साझेदारी फर्म उपयुक्त मानी गयी है ।
8. **सहकारी नियमन** - यदि व्यवसायी सहकारी हस्तक्षेप या नियमन से बचना चाहता है तो साझेदारी फर्म या एकल व्यवसाय अधिक उपयोगी हो सकता है । कम्पनियों एवं सहकारी संगठनों पर सहकारी हस्तक्षेप अधिक होता है ।
9. **कर-प्रभाव** - कर प्रभाव के दृष्टिकोण से कम्पनी-संगठन उतना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि कम्पनी के लाभ पर दोहरा कर लगता है । प्रथम, कम्पनी की आमदनी पर, द्वितीय अंशधारियों की लाभांश-आय पर । इस दृष्टिकोण से एकल स्वामित्व उत्तम संगठन है । परन्तु अन्य तत्वों को ध्यान में रखते हुए कम्पनी-संगठनों ही उत्तम हैं । जैसे कम्पनियों में कर की समान दर लागू होती है जबकि साझेदारों एवं अन्य व्यवसाय में कर की दर लाभ की मात्रा पर निर्भर होती है । इसलिये इस विचार से कम्पनी-संगठन का चुनाव लाभदायक होता है ।

निष्कर्ष -

यद्यपि संगठन के चुनाव में उपर्युक्त सभी घटकों को ध्यान में रखना चाहिये, परन्तु सभी घटकों को समान महत्व नहीं दिया जा सकता । सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं-व्यवसाय की आकृति, पूँजी विनियोग की मात्रा, दायित्व की सीमा । बड़े पैमाने के व्यवसाय में, जिसमें प्रारम्भ में ही

अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और जोखिम भी अधिक होता है, कम्पनी संगठन उपयुक्त। है क्योंकि कम्पनी पूँजी साधन को अधिक मात्रा में प्राप्त कर सकती है, परन्तु उस व्यवसाय में जहाँ पर इन घटकों का कोई महत्व नहीं है, एक व्यवसाय या साझेदारी फर्म अपनाया जा सकता है । इन व्यवसायों में स्वामी को सम्पूर्ण लाभ मिल जाता है, व्यवसाय पर प्रत्यक्ष एवं सीधा नियन्त्रण बना रहता है तथा सहकारी नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप भी कम होता है ।

1.9 व्यवसाय का विस्तार एवं स्वामित्व में परिवर्तन

व्यवसाय की स्थापना के बाद व्यवसाय का विस्तार किया जा सकता है । विस्तार संबंधी निर्णय लेते समय यह सोचना पड़ता है कि विद्यमान संगठन कहीं तक उपयुक्त रहेगा । या कभी-कभी संगठन में परिवर्तन लाने की आवश्यकता पड़ती है तो उसकी उपयुक्तता पर विचार करना होगा । संगठन-संबंधी निर्णय बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि व्यवसाय के विस्तार से निम्नलिखित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं -

1. अधिक पूँजी की आवश्यकता,
2. आन्तरिक पुर्नगठन की आवश्यकता
3. विशेष सेवाओं. जैसे - लेखांकन, वित्त, विपणन इत्यादि की आवश्यकता,
4. नियन्त्रण एवं समन्वय की समस्या,
5. जोखिम एवं व्यक्तिगत दायित्व में वृद्धि
6. कर-दायित्व में वृद्धि ।

उपक्रम को ऐसे संगठन का चुनाव करना चाहिए जो इन उपर्युक्त समस्याओं को दूर करने में मदद करे । एकल व्यवसायी एक प्रबन्धक की नियुक्ति कर सकता है जो व्यवसाय में साझेदार रख सकता है । जब व्यवसाय साझेदारी के रूप में होता है तो साझेदारों की संख्या 20 तक हो सकती है अथवा साझेदारी को एक निजी कम्पनी में परिवर्तित किया जा सकता है । इसी प्रकार एक निजी कम्पनी सार्वजनिक कम्पनी में परिवर्तित की जा सकती है ।

1.10 सारांश

व्यवसाय का संगठन कई तरह से किया जा सकता है । जब व्यवसाय का संगठन कोई एक ही व्यक्ति करे तो उसे एकल स्वामित्व कहा जाता है । जब इसका संगठन दो या अधिक व्यक्ति आपसी समझौते से करें तो यह साझेदारी कहलाती है । परंपरागत रूप से संयुक्त हिन्दू परिवार के अन्तर्गत भी व्यवसाय संचालित किया जाता था और जब यह संगठन लोगों के बड़े समूह द्वारा किया जाये, तो यह संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी कहलाती है । समाज के तुलनात्मक रूप से कमजोर वर्गो के द्वारा अपने आर्थिक संसाधनों में वृद्धि के लिए जब समानता के सिद्धान्त पर व्यवसाय किया जाता है तो उसे सहकारी संगठन कहा जाता है ।

सभी व्यवसायिक प्रारूपों के तुलनात्मक लाभ एवं दोष हैं जिन्हें ध्यान में रखकर व्यवसायी की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर चुना जाना चाहिए । एक प्रारूप को आवश्यकतानुसार आगे चलकर परिवर्तित भी किया जा सकता है ।

1.11 शब्दावली

व्यवसायी	:	वह व्यक्ति जो पूँजी लगाता या जुटाता है तथा व्यवसाय से सम्बन्धित जोखिम उठाता है ।
एकाकी स्वामित्व	:	ऐसा संगठन जिसका एक ही मालिक या स्वामी हो ।
साझेदारी	:	यह दो या अधिक व्यक्तियों के आपसी अनुबन्ध से स्थापित होता है ।वे सब उस व्यवसायिक संगठन को चलाने तथा उसके लाभ /हानि को आपस में बांटने को सहमत होते हैं ।
संयुक्त पूँजी कम्पनी	:	कम्पनी अधिनियम के अधीन पंजीकृत व्यक्तियों की संस्था ।
सहकारी संगठन	:	समाज के कमजोर वर्गो के हितों की रक्षा के लिए परस्पर सहयोग व समानता के सिद्धान्त पर आधारित संगठन ।

1.12 स्वपरख प्रश्न

1. व्यवसाय के विभिन्न स्वरूपों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए ।
2. एकाकी स्वामित्व से क्या आशय है? इसके अन्य व्यवसायिक प्रारूपों की तुलना में लाभ एवं दोष बताइए ।
3. साझेदारी की परिभाषा कीजिए । यह एकाकी स्वामित्व की तुलना में क्यों बेहतर है?
4. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी की विशेषताएँ बतलाइए । इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए ।
5. सहकारी संगठन से क्या आशय है? यह कम्पनी संगठन से किस प्रकार भिन्न है?
6. एक व्यवसाय की स्थापना के साथ स्वामित्व चुनाव हेतु किन बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए? व्यवसाय में वृद्धि की दशा में स्वामित्व के कौनसे विकल्प उपलब्ध होते हैं?

1.13 उपयोगी पुस्तकें

1.	आर.एल. नौ लखा	:	व्यावसायिक संगठन (आदर्श प्रकाशन, जयपुर)
2.	जी.एस.सुधा	:	व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध (रमेश बुक डिपो, जयपुर)
3.	सैन, जैन, गुप्ता	:	व्यावसायिक संगठन (साहित्य भवन, आगरा)
4.	रमेश चन्द्र अग्रवाल	:	व्यावसायिक संगठन (कॉलेज बुक हाउस, जयपुर)
5.	वी.बी. सक्सेना	:	व्यावसायिक संगठन(नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली)

इकाई -2: व्यावसायिक उद्यमिता
(Business Entrepreneurship)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्यमिता की अवधारणा

2.3 व्यावसायिक उद्यमिता के प्रकार

2.4 व्यावसायिक उद्यमिता के कार्य

2.5 उद्यमिता की भूमिका

2.6 व्यावसायिक उद्यमी के गुण

2.7 व्यावसायिक उद्यमिता की सीमाएं

2.8 सारांश

2.9 शब्दावली

2.10 स्वपरख प्रश्न

2.11 उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरांत आप जान सकेंगे कि -

- उद्यमिता की संकल्पना क्या है?
- उद्यमी में कौनसा सामर्थ्य एवं क्षमताएं होनी चाहिए?
- एक उद्यमी की व्यवसाय में क्या भूमिका होती है?
- भारत में व्यावसायिक उद्यमी का विकास किस प्रकार हुआ है?
- उद्यमिता के विकास में कौनसी बाधाएं प्रमुख हैं व उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?

2.1 प्रस्तावना

आप एक उद्यमी को किस तरह परिभाषित करेंगे? क्या आप किसी उद्यमी को देखकर पहिचान सकते हैं कि वह उद्यमी है? उद्यमी की सर्वमान्य परिभाषा दी जा सकती है कि ''वह व्यक्ति जो व्यवसाय को संगठित, प्रबन्धित एवं जोखिम उठाने का कार्य करता है ।''

उद्यमी अनेक प्रकार के हो सकते हैं वे अकेले अथवा समूह के साथ मिलकर जोखिम वहन कर सकते है । व्यक्ति का स्वभाव ही कर्म प्रधान है । उद्यमीपन जीवन का अंग है । एक उद्यमी स्वयं के लिए ही धन सृजन नहीं करता, अपितु व्यापक आर्थिक एवं सामाजिक विकास का संवाहक होता है । वास्तव में व्यावसायिक उद्यमिता एक कौशल, तकनीक व योग्यता तो है ही, साथ ही यह एक जीवन पद्धति भी है । उद्यमी समाज में प्रगति एवं परिवर्तन का माध्यम होता है । उसमें व्यापक रूप में जोखिम वहन करने की क्षमता, नये अवसरों का सृजन व उनका लाभ

उठाने की योग्यता, दूरदर्शिता एवं बाह्य वातावरण के साथ निरंतर सामंजस्य स्थापित करने का गुण होता है ।

2.2 उद्यमिता की अवधारणा (Concept of Entrepreneurship)

व्यावसायिक दृष्टि से उद्यमिता की विचारधारा की उत्पत्ति 18वीं शताब्दी की देन है, किन्तु 'उद्यमी' शब्द का प्रयोग इस शताब्दी से पूर्व भी किया जाता रहा है । अनेक अर्थशास्त्रियों, औद्योगिक क्षेत्र के विचारकों एवं विद्वानों ने इस पर अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं । उनके विचारों में एकता का अभाव रहा है । विलियम वोमोल के अनुसार "उद्यमिता का विषय सैद्धान्तिक रूप से भ्रामक रहा है ।" कुछ विद्वानों ने जोखिमों को उठाने व अनिश्चितताओं का सामना करने की क्षमता एवं योग्यता के रूप में इस पर विचार व्यक्त किये हैं तो कुछ न कुछ विशिष्टता प्राप्त करने. नये उपक्रम की स्थापना करने, उपक्रम में नवीन सुधारों एवं परिवर्तनों को स्वीकार करने, उत्पादन के साधनों को संगठित करने, नवीन तकनीकों व प्रणालियों को जन्म देने आदि को साहसवादिता कहा है । उद्यमिता के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने निम्न पहलुओं को स्पष्ट किया है -

- **जोखिमों को वहन करने की क्षमता**: अनेक विद्वानों उद्यमशीलता को जोखिम वहन करने की क्षमता के रूप में स्वीकार किया है । इस प्रतिष्ठित या प्राचीन विचारधारा के विद्वानों की यह मान्यता है कि एक उद्यमी को व्यवसाय प्रारम्भ करने तथा उसका निरन्तर संचालन करने में अनेक अनिश्चितताओं, आन्तरिक व बाह्य परिवर्तन, प्रतिस्पर्धा, हास, अप्रचल, मूल्यों में कमी-वृद्धि, प्राकृतिक विपदाओं आदि का सामना करना पड़ता है तथा ये अनिश्चितताएँ ही जोखिमों को जन्म देती हैं । **रिचर्ड कण्टीलॉन** के मतानुसार, "**उद्यमिता असीमित जोखिम वहन करने का कार्य है एवं उद्यमी वस्तुओं को अतिरिक्त मूल्य पर क्रय एवं विक्रय करने वाला एक प्रतिनिधि है ।" फ्रेंक एच. नाइट** ने ऐसे व्यक्तियों के विशिष्ट समूह को उद्यमी कहा है जो अनिश्चित पूँजी का सामना करता है । उनके मतानुसार उद्यमिता "**जोखिम उठाने की योग्यता. इच्छा तथा अनिश्चितता के विरूद्ध गारण्टी प्रदान करने की शक्ति है ।"**
- **प्रबन्ध कौशल**: विद्वानों के मतानुसार प्रबन्ध कौशल उद्यमिता का एक महत्वपूर्ण तत्व है । जे.एस. मिल का विचार है कि उद्यमिता व्यवसाय में जोखिम उठाने व अनिश्चितताओं का सामना करने के साथ-साथ निरीक्षण व निर्देशन व नियन्त्रण की योग्यता है । इसी प्रकार मार्शल का विचार है कि **"उद्यमी को व्यवसाय की स्थापना करने के साथ-साथ एक साहसी प्रबन्धक के रूप में कार्य करना होता है ।"**
- **संगठन की योग्यता** : जे.बी.से. के विचारानुसार, "**उद्यमिता वंह आर्थिक घटक है जो उत्पादन के समस्त साधनों को संगठित करता है ।**" इस प्रकार उद्यमिता को उन्होंने उत्पादन के समस्त साधनों - भूमि, श्रम, पूँजी को एकत्रित करके एक समन्वित रूप से संगठित करने का कार्य माना है ।

- **नव-प्रवर्तक योग्यता** : सर्वप्रथम **जोसेफ शुम्पीटर** ने उद्यमिता को नवप्रवर्तन योग्यता के रूप में अपनी अवधारणा को प्रस्तुत किया था । उनके विचारानुसार, "**एक विकसित अर्थव्यवस्था में उद्यमी यह व्यक्ति है. जो अर्थव्यवस्था में किसी नयी बात को प्रस्तुत करता है ।**" इस प्रकार व्यवसाय में नवीन परिवर्तनों को जन्म देना स्वीकार करना व लागू करना है यथा - नवीन तकनीकी, नवीन वस्तुओं या सेवाओं, नये बाजारों, उत्पादन व वितरण की नवीन प्रणालियों व साधनों आदि के प्रयोग द्वारा न्यूनतम प्रयासों से अधिकतम लाभ प्राप्त करना है ।
- **नेतृत्व व सृजनात्मकता की योग्यता**: **फ्रेडरिक हरबिसन** के अनुसार, "**उद्यमिता में नेतृत्व एवं सृजनात्मकता का होना बहुत महत्वपूर्ण होता है न कि नवप्रवर्तन का ।**" इसके अनुसार सृजनात्मकता क योग्यता नवीन विचारों, दृष्टि व समझ को जन्म देती है तथा नेतृत्व योग्यता ऐसे विचारों को आर्थिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु समन्वित तरीके से कार्य रूप में परिणित करती है । नेतृत्व एवं सृजनात्मकता संगठन निर्माण योग्यता के लिए बहुत आवश्यक है तथा संगठन-निर्णय योग्यता आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का महत्वपूर्ण आधार है ।
- **उच्च उपलब्धि प्राप्ति की क्षमता** : **मैक्लीलैण्ड** के विचारानुसार उच्च उपलब्धि प्राप्त करने की इच्छा व क्षमता ही उद्यमिता है तथा इसके लिए कार्य को नए एवं कुशल ढंग से करने क योग्यता नव-प्रवर्तन व अनिश्चितता में निर्णय लेने क क्षमता का होना बहुत आवश्यक होता है । इनके मतानुसार, उद्यमिता एक आकस्मिक व्यवहार न होकर मनोवैज्ञानिक प्रेरणा के रूप में होती है तथा यह प्रेरणा ही व्यक्ति को उद्यम या साहसी बनाती है ।

उद्यमिता की परिभाषा

उद्यमिता से आशय उस प्रवृत्ति से है, जो जोखिम तथा अनिश्चितता को वहन करने से सम्बन्धित है तथा जिसके द्वारा कुछ विशिष्टता प्रदान करने का प्रयास किया जाता है । **थॉम्पसन** तथा **स्ट्रिकलैण्ड** ने इसे व्यूहरचनात्मक योग्यता के रूप में बतलाने का प्रयास किया है जिसमें वातावरणीय अवसरों एवं चुनौतियों के मद्देनजर, संगठनात्मक क्षमताओं एवं कमजोरियों को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त व्यूहरचना का चयन किया जाता है, ताकि व्यूहरचनात्मक लाभों को प्राप्त किया जा सके । व्यापक रूप में, उद्यमिता व्यवसाय में जोखिम उठाने की क्षमता के साथ नवप्रवर्तन, नेतृत्व तथा व्यूहरचनात्मक लाभों को प्राप्त करने की योग्यता है । यह व्यवसाय में नये-नये परिवर्तन को लाने, उनका लाभ उठाने, स्थापित संगठनात्मक प्रक्रियाओं को बदलने क योग्यता है । **लिन तथा लिन** उद्यमिता हेतु नव-उद्यमिता शब्द का प्रयोग किया है जिसमें समय के अनुरूप संगठन को ढालने, आन्तरिक साहसिकता को अपनाने तथा प्रतिस्पर्धात्मक लाभों को प्राप्त करने की योग्यता सम्मिलित है ।

विभिन्न विद्वानों ने 'उद्यमिता को निम्नलिखित रूपों में परिभाषित किया है

प्रो. पारीक एण्ड नाडकर्णी के अनुसार, "उद्यमिता का अर्थ समाज में नये उपक्रम स्थापित करने की साधारण प्रकृति से है ।"

वी.आर. गायकवाड़ ने उद्यमिता का अर्थ बतलाते हुए स्पष्ट किया कि "उद्यमिता से हमारा तात्पर्य नव-प्रवर्तन से है । यह अनिश्चितताओं का सामना करने के लिए जोखिम लेने की अन्तःप्रेरणा और इच्छा है, अर्थात् यह भावी घटनाओं को इस प्रकार देखने की क्षमता है जो बाद में सही सिद्ध हो ।"

जोसफ ए. शुम्पीटर के अनुसार, "एक विकसित अर्थव्यवस्था में उद्यमिता वह है, जो अर्थव्यवस्था में नवीनता लाता है । यथा - उत्पादन में किसी नयी विधि को अपनाना, जिसे पहले किसी ने नहीं अपनाया, किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन करना जिससे उपभोक्ता पहले से परिचित नहीं हो, कच्चे माल के नये साधनों का उपयोग करना और नये बाजारों की खोज करना इत्यादि ।"

प्रो. राव एवं मेहता के अनुसार, "उद्यमिता वातावरण का सृजनात्मक एवं नवप्रवर्तनशील प्रत्युत्तर है । उद्यमिता की यह परिभाषा परिवर्तित परिरिथतियों के अनुरूप व्यवसाय में नवप्रवर्तन एवं सृजनात्मकता को अपनाने पर बल देती है । **फ्रैंकलिन लिण्डसे** तथा **रिचमैन एवं कोपेन** का भी यही मत है । **लिण्डसे** के अनुसार, "उद्यमिता समाज की भावी आवश्यकताओं का पूर्वानुमान करने तथा संसाधनों के नवीन, सृजनात्मक एवं कल्पनाशील संयोजनों के द्वारा इन आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक पूरा करने का कार्य है । "उद्यमिता को नवप्रवर्तन एवं गतिशील नेतृत्व का कार्य बतलाते हुए **रिचमैन तथा कौपेन** ने लिखा है कि "उद्यमिता किसी सृजनात्मक, बाह्य या खुली प्रणाली की ओर संकेत करता है । यह नव-प्रवर्तन, जोखिम वहन करने तथा गतिशील नेतृत्व का कार्य है ।"

उद्यमिता की उपरोक्त दोनों परिभाषाएं नव-प्रवर्तन के साथ उपयोगिताओं एवं मूल्यों के सृजन एवं संतुष्टि पर बल देती है । एवं उद्यमी को समाज का गतिशील प्रतिनिधि या अगुवा स्वीकार करती हैं । **कुर्राटकों तथा अन्य** ने भी इस मत को स्वीकार करते हुए उद्यमिता को विद्यमान आन्तरिक संसाधनों में वांछित समायोजन करते हुए नये अवसरों को खोजने एवं उनका विदोहन करने की योग्यता के रूप में बतलाने का प्रयास किया ।

पीटर किलबाई के अनुसार, "उद्यमिता व्यापक क्रियाओं का सम्मिश्रण है । इसमें विभिन्न कार्यो के साथ-साथ बाजार अवसरों का ज्ञान प्राप्त करना, उत्पादन के साधनों का संयोजन एवं प्रबन्ध करना तथा उत्पादन तकनीक एवं वस्तुओं को अपनाना सम्मिलित है । "

एच.एन. पाठक ने उद्यमिता को 'निर्णय योग्यता के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है । इसके अनुसार, "उद्यमिता में वे सभी व्यापक क्षेत्र सम्मिलित हैं, जिनके सम्बन्ध में निर्णय लेने होते हैं । इन निर्णयों को व्यापक रूप में निम्न तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है (अ) अवसरों का ज्ञान करना, (ब) औद्योगिक इकाई का संगठन करना (स) औद्योगिक इकाई को एक लाभप्रद, गतिशील तथा विकासशील संस्था के रूप में संचालित करना ।" **स्टेपनेक** ने उद्यमिता को जोखिम उठाने, संगठन की योग्यता एवं विविधीकरण करने तथा नव-प्रवर्तनों को जन्म देने की इच्छा के रूप में परिभाषित किया है । **शुम्पीटर** ने 'नव-प्रवर्तन' को उद्यमिता का प्रमुख तत्व माना है, क्योंकि आर्थिक विकास की गति नये सुधारों, परिवर्तनों एवं नवाचारों पर

ही निर्भर है । इसके अनुसार, "उद्यमिता एक नवप्रवर्तनकारी कार्य है । यह स्वामित्व की अपेक्षा एक 'नेतृत्व कार्य' है ।" प्रबन्ध विद्वान **पीटर एफ. ड्रकर** ने उद्यमिता को व्यवसाय में अवसरों को अधिकाधिक अर्थपूर्ण करने की क्रिया के रूप में बतलाने का प्रयास किया है इसके अनुसार, "व्यवसाय में अवसरों को अधिकाधिक करना अर्थपूर्ण है ।" वास्तव में, उद्यमिता की यही सही परिभाषा है ।

इस प्रकार उद्यमिता उद्यमी योग्यताओं का प्रयोग कर नव-प्रवर्तन करने, व्यावसायिक उपक्रम स्थापित करने, व्यूहरचनात्मक योग्यता को दर्शाने तथा अवसरों का बेहतर या अर्थपूर्ण उपयोग करने की क्रिया है । यह आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा अन्य विभिन्न चरों के संयोजन का जटिल स्वरूप है । **मार्टिन लूथर किंग** ने कहा है कि 'उद्यमिता न तो विज्ञान है, न कला । यह तो एक व्यवहार है जिसका आधार ज्ञान होता है । उद्यमिता में ज्ञान रूपी साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त किया जाता है । व्यवहार में ज्ञान काफी सीमा तक उद्देश्यों द्वारा परिभाषित होता है । ' उद्यमिता वृद्धित समृद्धि सृजित करने की एक गतिशील प्रक्रिया है । यह समृद्धि उन व्यक्तियों द्वारा, सृजित की जाती है जो किसी उत्पाद या सेवा में मूल्य प्रदान करने के सन्दर्भ में समता, समय तथा कैरियर प्रतिबद्धता की प्रमुख जोखिमों को उठाते हैं । उद्यमी अपने चातुर्य तथा संसाधनों के द्वारा उत्पाद या सेवा में मूल्य का सृजन करता है । **पीटर एफ. ड्रकर** का मत है कि 'उद्यमिता नवप्रवर्तन की एक प्रक्रिया है जो नये अवसरों के लिए संसाधनों का पुर्नआवंटन करता है । नये अवसरों का सृजन उद्यमी के असामान्य संसाधन संयोजन तथा जोखिम उठाने के चातुर्य के द्वारा होता है । इस प्रकार, उद्यमिता एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें उद्यमान फर्मो में से कम उद्यमी फर्मो का अंत हो जाता है । यह नवप्रवर्तन, जोखिम वहन करने, चुनौतियाँ स्वीकार करने व उत्कृष्ट प्रबन्धन द्वारा व्यवसाय का सफल बनाने का उपक्रम है ।

उद्यमिता की विशेषताएँ:

साहसिकता की प्रमुख विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं :-

1. **एकाकी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह** : एकाकी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह होता है जो किसी नवीन उपक्रम की स्थापना करता है अथवा नवप्रवर्तन का कार्य करता है । विकासशील अर्थव्यवस्था में तो एक नवीन उपक्रम की स्थापना करने वाला व्यक्ति उद्यमी कहलाता है, जबकि विकसित अर्थव्यवस्था में साहसी नवप्रवर्तन का कार्य करता है ।
2. **नवीन उपक्रम की स्थापना अथवा नवप्रवर्तन**: उद्यमिता का दूसरा प्रमुख लक्षण यह है कि वह किसी नवीन उपक्रम की स्थापना करता है अथवा नवप्रवर्तन का कार्य करता है। विकासशील अर्थव्यवस्था में तो एक नवीन उपक्रम की स्थापना करने वाला व्यक्ति उद्यमी कहलाता है, जबकि विकसित अर्थव्यवस्था में साहसी नवप्रवर्तन का कार्य करता है ।
3. **जोखिम या अनिश्चितता वहन करना**: उद्यमिता का तीसरा महत्वपूर्ण लक्षण है कि वह किसी उपक्रम की स्थापना करने या नवप्रवर्तन का कार्य करने में जोखिम या

अनिश्चितता उठाता है । उपक्रम की सफलता पर उसका प्रतिफल निर्भर करता है । यदि उपक्रम सफल होता है तो लाभ होता है । इसके विपरीत यदि उपक्रम असफल होता है तो उसे हानि होती है । सच तो यह है कि उपक्रम के गर्भकाल में उद्यमियों / प्रवर्तकों का ही धन लगता है । जनता अपना धन उस समय लगाती है, जबकि उपक्रम या तो उत्पादन शुरू करने की स्थिति में आ जाए अथवा वास्तव में उत्पादन शुरू कर दे ।

4. **पूंजी प्रदान करना :** उद्यमिता का चौथा महत्वपूर्ण लक्षण है कि वह उपक्रम की स्थापना के समय प्रारम्भिक पूँजी स्वयं अपने पास से ही लगाता है । उपक्रम की स्थापना के बाद भी पूँजी के अधिकांश भाग उद्यमी का ही लगा होता है ।
5. **विश्वासश्रित सम्बन्ध** : यदि उद्यमिता अथवा उद्यमियों द्वारा उपक्रम की स्थापना कम्पनी प्रारूप के रूप में की जाती है तो कम्पनी तथा साहसियों के मध्य विश्वासश्रित सम्बन्धों की स्थापना होती है । ऐसी स्थिति में उद्यमी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह कम्पनी के निर्माण सम्बन्धी सभी तथ्यों को संचालक मण्डल तथा कम्पनी के सदस्यों के समक्ष सही रूप में प्रस्तुत करे । साथ ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में किसी प्रकार का लाभ न कमाये, और यदि ऐसा लाभ कमाया भी जाता है तो उसे बिना किसी हिचकिचाहट के प्रकट करें ।
6. **उद्यम का प्रतिफल लाभ होना** : 'लाभ जोखिम का प्रतिफल है ।' चूँकि उद्यमी जोखिम उठाता है अतएव उसे अपनी जोखिम के प्रतिफल में लाभ प्राप्त होता है । लाभ पाने की आशा से ही वह उपक्रम की स्थापना या नवप्रवर्तन का कार्य करता है ।
7. **उद्यमी बनाये जा सकते हैं** : एक समय था जब यह आम धारणा थी कि "उद्यमी जन्म लेते हैं, बनाये नहीं जाते ।" अब यह धारणा गलत सिद्ध हो चुकी है और इसके स्थान पर उद्यमी बनाये जा सकते हैं की विचारधारा आ रही है । आज प्राय: सभी राज्यों में उद्यमियों को तैयार करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं । राजस्थान में यह कार्य 'राजस्थान परामर्शदाता' संगठन के तत्वावधान में किया जा रहा है । इसके द्वारा प्रशिक्षित उद्यमी कई लघु मध्यम तथा बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित कर चुके हैं । केन्द्रीय सरकार ने इस हेतु 'राष्ट्रीय औद्योगिक सहायता तथा लघु व्यवसाय विकास संस्थान' की स्थापना का निर्णय ले लिया है ।
8. **उद्यमी के विभिन्न प्रकार होना** : उद्यमी का एक प्रमुख लक्षण यह है कि वे विभिन्न प्रकार के होते हैं । कुछ साहसी नवीन उपक्रम की स्थापना करने में विश्वास रखते हैं तो कुछ नवप्रवर्तन का कार्य करने में विश्वास रखते हैं । यही नहीं, कुछ उद्यमी नकल कर नवीन वस्तु बनाने में विश्वास रखते हैं साथ ही कुछ उद्यमी परिवर्तन के समर्थक होते हैं तो अन्य किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करते हैं ।
9. **सरकार के रूप में** : पहले यह कहा जाता था कि यदि सरकार उद्यमिता का कार्य करेगी तो फिर जनता क्या करेगी? अर्थात् सरकार का कार्य तो प्रशासन चलाना है एवं देश की रक्षा करना है । उद्यमिता अर्थात् व्यवसाय का कार्य करना तो जनता का ही

कार्य है, किन्तु अब यह मान्यता निर्मूल हो चुकी है । वर्तमान में विश्व के प्राय: सभी देश में सरकारें व्यावसायिक उपक्रमों की स्थापना एवं उनका संचालन कर रही है । भारत में भी केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों ने विभिन्न सरकारी उपक्रमों की स्थापना की है । सरकार उद्यमी के रूप में कार्य प्राय: उस समय करती है, जबकि जन-हित में ऐसा करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है।

10. **उद्यमिता सभी क्रियाओं में आवश्यक है** : यह आम धारणा है कि उद्यमिता का क्षेत्र केवल आर्थिक क्रिया तक ही सीमित है, किन्तु अब यह धारणा मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। वर्तमान में उद्यमिता की आवश्यकता आर्थिक और अनार्थिक सभी क्षेत्रों में है ।
पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार, ''उद्यमिता किसी भी तरह से आर्थिक क्षेत्र तक सीमित नहीं है यद्यपि इसका जन्म यहीं से हुआ है । यह मानव जीवन का अस्तित्व बनाये रखने सम्बन्धी क्रियाओं के अतिरिक्त सभी प्रकार की क्रियाओं से सम्बन्धित है ।"
11. **उद्यमी प्रबन्धक से भिन्न है** : उद्यमी प्रबन्धक से भिन्न है । उदाहरण के लिए, उद्यमी का मुख्य व्यवसाय की जोखिम वहन करना होता है जबकि प्रबन्धक का मुख्य कार्य उत्पादन के विभिन्न साधनों को एकत्रित करके उनको अनुकूलतम अनुपात में मिलाना एवं समन्वय स्थापित करना होता है । यही नहीं, उद्यमी का प्रतिफल लाभ होता है जबकि प्रबन्धक का प्रतिफल वेतन होता है ।
12. **उत्पादन का साधन** : अर्थशास्त्र के छात्र जानते हैं कि उद्यमिता उत्पादन का महत्वपूर्ण एवं स्वतंत्र साधन है । वास्तव में साहसी ही उत्पादन के अन्य सभी साधनों को एकत्रित एवं संगठित करता है ।
13. **उद्यमिता एक विकासशील व्यवहार है** : उद्यमिता का एक लक्षण यह भी है कि वर्तमान में यह एक विकासशील व्यवहार बन गया है ।" अब उद्यमी जितना अधिक अनुभव प्राप्त करता है और जितना अधिक साहसिक कार्य करता है उसमें उतना ही अधिक निखार आता है । जितना अधिक निखार आता है उतना अधिक वह अपने कार्य में सफलता प्राप्त करता है । कुछ वर्ष पूर्व लोगों में उद्यमिता की भावना कम दिखलायी देती थी, किन्तु अब जैसे-जैसे लोगों का उद्यमी के रूप में अनुभव बढता जा रहा है, वैसे-वैसे उनमें निखार आता जा रहा है उतनी ही अधिक सफलता उन्हें अपने कार्य में प्राप्त हो रही है ।
14. **औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास की आधारशिला** : आर्थिक विकास का आधार औद्योगीकरण है और औद्योगीकरण का आधार उद्यमिता है । इस प्रकार उद्यमिता सम्पूर्ण औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास का आधार है ।

2.3 व्यावसायिक उद्यमिता के प्रकार

उद्यमिता वर्ग में सजातीयता नहों पाई जाती है । यह अनेक रूपों मे विद्यमान होती है । उद्यमिता स्वरूपों का वर्णन विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है, जिसका वर्णन निम्न प्रकार है

(अ) पूँजी के स्वामित्व के आधार पर: पूँजी के स्वामित्व के आधार पर उद्यमिता के निम्न स्वरूप हो सकते हैं:

(i) **निम्न उद्यमिता** : जब व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह निजी क्षेत्र में व्यवसाय प्रारम्भ करते हैं, जोखिम लेते हैं, तथा नव प्रवर्तन करते हैं, तो वह निजी उद्यम कहलाता है । पूँजीवादी देशों जैसे अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी आदि में निजी उद्यम के कारण ही तीव्र आर्थिक विकास हुआ है । निजी उद्यमी सावधानीपूर्वक व्यावसायिक परियोजनाएँ प्रारम्भ करते है ।

(ii) **सरकारी या सार्वजनिक उद्यमिता** : जब सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र में व्यावसायिक उपक्रम शासन द्वारा किये जाते हैं, नवकरण किया जाता है तो वह सरकारी या सार्वजनिक उद्यमिता कहलाता है । समाजवादी एवं साम्यवादी देशों जैसे - रूस, चीन आदि में प्राय: उद्यमिता का यही स्वरूप देखने में आता है । इन देशों में अधिकांश उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में ही विकसित किये गये है । स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में भी सार्वजनिक उद्यमिता का विस्तार हुआ है ।

(iii) **संयुक्त उद्यमिता** : निजी स्वामित्व एवं राजकीय स्वामित्व का मिला-जुला रूप है । संयुक्त उद्यमिता की स्थिति में यद्यपि निजी क्षेत्र के साहसियों को भी विनियोजन के अवसर प्रदान किये जाते हैं, परन्तु सरकार (केन्द्रीय, राज्य अथवा दोनों) की भूमिका प्रमुख होती है । भारत में संतुलित आर्थिक विकास तथा रूग्ण इकाइयों को पुनर्जीवित करने के लिए संयुक्त उद्यमिता की भूमिका बढ़ रही है ।

(iv) **सहकारी उद्यमिता** : जब बहुत से व्यक्ति पारस्परिक सहयोग से उपक्रम प्रारम्भ करते हैं या नवकरण करते हैं तो वह सरकारी उद्यमिता कहलाती है । भारत में शक्कर मिलों की स्थापना में सहकारी उद्यमिता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । डेयरी उद्योग, लघु उद्योग, कृषि उद्योग आदि में सहकारी उद्यमिता का महत्व बढ़ रहा है।

भारत एक मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला देश है । यद्यपि स्वतंत्रता के पूर्व भारत में निजी उद्यमिता का ही विकास हुआ था, परन्तु स्वतंत्रता के बाद सार्वजनिक उद्यमिता का आशातीत विस्तार हुआ है । निजी एवं सार्वजनिक उद्यमिता के साथ ही साथ भारत में संयुक्त एवं सहकारी उद्यमिता भी विकसित हो रही है ।

(ब) विकास या परिवर्तन के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर: विकास अथवा परिवर्तन के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर उद्यमिता के निम्नांकित दो स्वरूप हो सकते हैं:

(i) **परम्परागत या विकासात्मक उद्यमिता** : यदि उद्यमी परिवर्तनों को बहुत ही धीमी गति से लागू करते हैं, शोध एवं विकास पर कम खर्च करते हैं, उत्पादन की परम्परागत प्रक्रिया का प्रयोग करते हैं तथा केवल विद्यमान उद्योगों में ही प्रवेश की प्रवृत्ति रखते हैं तो यह परम्परागत या विकासात्मक उद्यमी कहलाता है । ये उद्यमी विकास की स्वाभाविक गति में विश्वास रखते हैं । भारत में अधिकांश उद्यमियों की यही प्रकृति है ।

(ii) **आधुनिक या क्रांतिकारी उद्यमिता** : जो उद्यमी उत्पादन की नई विधियाँ अपनाते हैं, नवकरण में अग्रणी रहते हैं, जोखिमपूर्ण योजनाएं प्रारम्भ करते हैं तीव्रगति से व्यावसायिक उपक्रम स्थापित करते हैं, तो वे आधुनिक या क्रांतिकारी उद्यमी कहते हैं। रूस, चीन एवं पूर्वी यूरोप के कुछ देशों के औद्योगिक विकास में क्रांतिकारी उद्यमी की विचारधारा ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है । आधुनिक शिक्षित नवयुवक भी क्रांतिकारी उद्यमिता में ही विश्वास रखते हैं ।

(स) स्थानीयकरण के आधार पर: स्थानीयकरण के आधार पर उद्यमिता केन्द्रीकृत या विकेन्द्रित हो सकती है:

(i) **केन्द्रीकृत उद्यमिता** : यदि अधिकांश उद्यमी एक ही स्थान पर केन्द्रित है. तथा नये उद्यमी भी इन्हीं स्थानों की तरफ आकर्षित होते हैं तो यह केन्द्रीकृत उद्यमिता कहलाती है । जहां पहले से ही व्यावसायिक इकाइयां कार्यरत होती है । अनेक आधारभूत सुविधाएं उपलब्ध होती हैं । नये उद्यमी इन सुविधाओं का लाभ प्राप्त करने के लिए इन्हीं स्थानों की तरफ आकर्षित होते हैं, परन्तु अर्थशारत्र के दृष्टिकोण से एक सीमा के बाद इन स्थानों पर व्यावसायिक उपक्रम स्थापित करना लाभदायक नहीं होता है ।

(ii) **विकेन्द्रित उद्यमिता** : जब उद्यमी देश के विभिन्न भागों में प्रवेश करके व्यावसायिक उपक्रम स्थापित करते हैं, तो वह विकेन्द्रित उद्यमी कहलाता है । सरकार एवं उद्यमी के विकास हेतु स्थापित संस्थाएं, उद्यमियों को पिछड़े हुए क्षेत्रों में सुविधाएं एवं प्रेरणाएं देकर विकेन्द्रित उद्यमिता विकसित कर सती है ।

(द) आकार के आधार पर.

(i) **वृहत या दीर्घ उद्यमिता** : जब व्यवसाय में अपेक्षाकृत अधिक पूंजी विनियोजित होती है, अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, तब वह दीर्घ या बृहत् उद्यमिता कहलाती है । भारत में टाटा, बिडला, दॉगड़, अम्बानी, साराभाई, आदि दीर्घ उद्यमी की श्रेणी में आते हैं । यह उद्यमिता के विकास की उच्चतम अवस्था है । इन अवस्थाओं में एकाधिकार प्रवृतियाँ विकसित होने का भय रहता है ।

(ii) **लघु उद्यमिता** : जब व्यावसायिक इकाई का आकार छोटा होता है, व्यवसाय में अपेक्षाकृत पूँजी विनियोजित होती है तथा कम श्रमिक कार्य करते है, तब वह लघु उद्यमिता कहलाती है । उद्यमिता के विकास से तात्पर्य मुख्यत: लघु उद्यमिता के विकास से ही होता है । लघु उद्यमिता के विकास से देश में ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों का विकास संभव होता है ।

उक्त के अतिरिक्त भी उद्यमिता शहरी तथा ग्रामीण भी हो सकते हैं । यदि उद्यमिता का विकास केवल बड़े शहरों तक ही सीमित होता है तो यह शहरी उद्यमिता कहलाता है । इसके अतिरिक्त उद्यमिता का विकास यदि छोटे-छोटे गाँवों एवं कस्बों में होता है तो यह ग्रामीण उद्यमिता कहलाती है । शहरी उद्यमी के विकास से शहरों में अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं यथा गन्दी बस्तियाँ, अशांति, दूषित वातावरण, सामाजिक अपराध आदि बढ़ने लगते हैं

। भारत में ग्रामीण उद्यमिता के विकास से ही समानता पर आधारित व्यवस्था बनाई जा सकती है ।

2.4 व्यावसायिक उद्यमिता के कार्य

व्यावसायिक उद्यमिता के कार्यो को लेकर मतैक्य का अभाव रहा है, भिन्न- भिन्न विद्वानों ने उद्यमिता के भिन्न-भिन्न कार्यो का उल्लेख किया है । अत एव उद्यमिता के कार्यों को विस्तृत रूप में वर्णन करने से पूर्व कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा बतलाये गये कार्यो का उल्लेख नीचे किया जा रहा है

अर्थशास्त्री रिचार्ड केन्टीलान के अनुसार उद्यमिता के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है

- निश्चत मूल्य पर माल क्रय करना ।
- अनिश्चित मूल्य पर माल विक्रय करना ।
- जोखिम उठाना ।

अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के अनुसार उद्यमिता के प्रमुख कार्य निम्न हैं -

- पूँजी उपलब्ध कराना, तथा
- उपक्रम का प्रबन्ध करना ।

अर्थशास्त्री जेबीसे के अनुसार उद्यमिता के कार्य हैं -

- उत्पादनों के साधनों को एकत्रित करना ।
- प्रबन्ध करना ।
- जोखिम उठाना ।

अर्थशास्त्री अकेड मार्शल के अनुसार उद्यमिता के निम्नलिखित तीन प्रमुख कार्य हैं-

- जोखिम वहन करना ।
- नवाचार एवं अनुसंधान करना ।
- प्रबन्ध करना ।

जोसेफ ए. शुम्पीटर के अनुसार उद्यमिता के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं -

- किसी नवीन वस्तु का उत्पादन करना ।
- उत्पादन की नवीन विधि का उपयोग करना ।
- बाजारों की खोज करना ।
- कच्चे अथवा अर्द्धनिर्मित माल के नवीन स्त्रोतों को ज्ञात करना ।
- किसी उद्योग में नये संगठन का निर्माण एवं संचालन करना ।

जेम्स वर्न के अनुसार व्यावसायिक उद्यमिता के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं -

- व्यवसाय का प्रवर्तन करना ।
- पूँजी की व्यवस्था करना ।
- जोखिम सहन करना ।
- तकनीकी नवकरण करना और उसे अपनाना ।
- व्यवसाय का प्रबन्ध करना ।

निष्कर्ष रूप में उद्यमिता के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

(I) **जोखिम वहन करने सम्बन्धी कार्य** : उद्यमिता का प्राथमिक कार्य जोखिम उठाना है । आधुनिक व्यवसाय में विभिन्न जोखिम एवं अनिश्चितताएँ बनी रहती हैं । इनमें से कुछ जोखिमें ऐसी हैं जिनका बीमा कराकर साहसी मुक्त हो जाता है, जैसे - अग्नि, दुर्घटना, चोरी, डकैती, भूकम्प आदि । इन्हें ज्ञात जोखिमें कहते है, किन्तु इसके विपरीत कुछ जोखिमें ऐसी भी हैं, जिनका पूर्व अनुमान नहीं लगाया जा सकता और इसलिए उनका बीमा नहीं कराया जा सकता । इन्हें अज्ञात जोखिमें कहते हैं जिन्हें व्यवसायी को उठाना ही पड़ता है, जैसे प्रतियोगिता सम्बन्धी जोखिमे, रूचि, फैशन तथा माँग में परिवर्तन सम्बन्धी जोखिम तेजी-मंदी सम्बन्धी जोखिम, रूचि, फैशन तथा मांग में परिवर्तन सम्बन्धी आदि ।

(II) **प्रवर्तन सम्बन्धी कार्य** : उद्यमिता का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अपने उपक्रम का प्रवर्तन करना है । इसी कारण कुछ लोग उद्यमी को 'प्रवर्तक' भी कहते हैं । सामान्यत: एक उद्यमी प्रवर्तन सम्बन्धी निम्नलिखित कार्य करता है -

- उपक्रम की स्थापना के विचार को जन्म देना ।
- विचार से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करना ।
- राजकीय नीति का अध्ययन करना ।
- विचार की व्यावहारिकता व लाभदेयता की जांच करना ।
- विपणन अनुसंधान करना ।
- स्वामित्व के प्रारूप का चयन करना ।
- उपक्रम के स्थान का चयन करना ।
- उपक्रम का आकार निर्धारित करना।
- उपक्रम के उद्देश्यों व क्षेत्र का निर्धारण करना ।
- उपकरण एवं निर्माण प्रक्रिया का चयन करना ।
- प्रारंभिक पूंजी की आवश्यकता का अनुमान लगाना एवं वित्तीय नियोजन करना ।
- संयत्र अभिन्यास करना ।
- प्रबन्ध एवं संगठन के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय लेना ।
- पंजीयन एवं अन्य वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करना ।
- आवश्यक साधनों एवं सुविधाओं को जुटाना ।

(III) **संगठन तथा प्रबन्ध संबन्धी कार्य**: किसी भी उपक्रम की सफलता अथवा विफलता बहुत कुछ सीमा तक उसके कुशल संगठन एवं प्रबन्ध पर निर्भर करती हैं । अतएव उद्यमिता का तीसरा प्रमुख कार्य उपक्रम या संगठन एवं प्रबन्ध करना है । संगठनात्मक उद्यमी को चाहिए कि वह उपक्रम की प्रकृति एवं आकार के अनुसार संगठन के उपयुक्त प्रारूप का चयन करें । इसके अन्तर्गत वह 'सही व्यक्ति को सही कार्य' सौंपे तथा सभी सम्बन्धित कार्य अलग-अलग विशेषज्ञों तथा व्यक्तियों के समूहों में बाँट दे ।

(IV) **वित्त सम्बन्धी कार्य**: व्यावसायिक उद्यमिता के इस कार्य में उपक्रम की प्रकृति एवं आकार के अनुसार आवश्यक वित्त की व्यवस्था करते समय उद्यमी को वित्त प्राप्त करने के लिए विभिन्न स्त्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए एव अपेक्षाकृत मितव्ययी वित्तीय स्त्रोतों को चुनना चाहिए । इस हेतु उसे वित्तीय नियोजन करना चाहिए । वित्त की व्यवस्था निजी साधनों द्वारा तथा बाहर के स्त्रोतों जैसे अंश, निर्गमन ऋण-पत्र निर्गमन, वित्तीय संस्थाओं से ऋण आदि लेकर की जा सकती है ।

(V) **नवप्रवर्तन कार्य** : एक विकसित अर्थव्यवस्था के संदर्भ में उद्यमिता से आशय नव प्रवर्तक से लगाया जाता है, अतएव उद्यमी का एक प्रमुख कार्य नवप्रवर्तन करना भी है। नवप्रवर्तन से आशय व्यवसाय में नवीन विषयों को लागू करने से है । पीटर एफ ड्रकर के अनुसार - "व्यवसाय के लिए बड़ा होते रहना उतना आवश्यक नहीं जितना कि निरन्तर नवीन होते रहना' । इस कार्य में सम्मिलित हैं -

- नई वस्तुओं की खोज करना ।
- नई वस्तुओं का उत्पादन करना ।
- उत्पादन में नई तकनीक, नवीन यंत्र एवं उपकरण काम में लेना ।
- वस्तुओं की किस्म, आकार, रंग व डिजाइन व पैकिंग आदि में सुधार करना ।
- वस्तुओं के नये-नये उपयोगों की तलाश करना ।
- नये बाजारों की खोज करना ।
- कार्यालय एवं प्रबन्ध व्यवस्था में सुधार लाना आदि ।

(IV) **वितरण सम्बन्धी कार्य** : उद्यमिता विभिन्न उत्पत्ति के साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार पुरस्कार वितरण सम्बन्धी कार्य भी करता है । इस हेतु वह उत्पत्ति के इन साधनों, (श्रमिकों, सम्पत्तियों, पूंजीपतियों व प्रबंधकों आदि) को उनकी सेवाओं के प्रतिफल में पारिश्रमिक प्रदान करता है । सभी साधनों को पुरस्कार देने के पश्चात् उद्यमी के पास जो भी शेष बचता है वह उसका अपना हिस्सा अर्थात् लाभ होता है ।

(VII) **विपणन सम्बन्धी कार्य**: उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त आधुनिक विपणन सम्बन्धी कार्य भी करने पड़ते हैं । इस हेतु चाहिए कि वह बाजार में प्रचलित वितरण माध्यमों का अध्ययन कर अपने लिए सबसे अधिक उपयोगी माध्यम का चयन करें, माँग उत्पन्न करें । उसे बनाये रखने तथा उसमें वृद्धि करने के लिए उपर्युक्त विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन साधनों को काम में लाये और योग्य एवं अनुभवी विक्रेताओं को नियुक्त करें ।

साहसिकता का महत्व अथवा भूमिका

किसी भी देश का औद्योगीकरण एवं उसके आर्थिक विकास की गति उसके साहसियों पर निर्भर करती है । इसी कारण साहसिकता को औद्योगीकरण तथा आर्थिक विकास का मूलाधार भी कहते हैं । अविकसित, विकासशील तथा विकसित सभी राष्ट्रों में साहसिकता की भूमिका निर्विवाद है ।

2.5 उद्यमिता की भूमिका

एक राष्ट्र के आर्थिक विकास में व्यावसायिक उद्यमिता की भूमिका महत्वपूर्ण है । उद्यमिता से बेरोजगारी, गरीबी, निम्न जीवन स्तर, कम उत्पादकता जैसी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है । उद्यमिता के विकास द्वारा एक आदर्श औद्योगिक समाज की स्थापना की जा सकती है तथा उद्योगों के केन्द्रीयकरण से उत्पन्न आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है । संक्षेप में व्यावसायिक उद्यमिता के विकास की आवश्यकता या उद्यमिता का महत्त्व निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

1. **उद्यमी प्रवृत्तियों का विकास**- उद्यमिता के नियोजित विकास से व्यक्तियों में उद्यमशील मनोवृतियॉ तथा प्रवृत्तियाँ विकसित की जा सकती हैं ।प्रशिक्षण कार्यक्रमों में उद्यमीय योग्यताएँ एवं क्षमताएं विकसित की जा सकती हैं [व्यक्तियों में कुछ प्राप्त करने, स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने, रचनात्मक क्रियाओं में व्यस्त रहने जैसी प्रवृत्तियाँ विकसित होने से एक सुखी एवं सम्पन्न समाज की स्थापना हो सकती है ।
2. **नवप्रवर्तन को प्रोत्साहन**- उद्यमिता के फलस्वरूप अनुसंधान पर अधिक व्यय होता है, व्यक्तियों में वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक चिंतन को प्रोत्साहन मिलता है एवं तकनीकी ज्ञान में वृद्धि होती है, अत: समाज में नवकरणों को जन्म मिलता है । उत्पादन की पुरानी विधियों के स्थान पर नई विधियाँ अपनाई जाती हैं, नई-नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, जिससे संगठनों का विस्तार होता है ।
3. **सफल उपक्रमों की स्थापना-** उद्यमियों को प्रशिक्षित एवं उपकरणों से सुसज्जित करने से व्यावसायिक क्षेत्र में अधिक से अधिक सफल इकाइयों की स्थापना संभव होगी । अविकसित, अकुशल एवं आलसी उद्यमी व्यावसायिक संस्था को शाश्वत जीवन प्रदान करने में असुल होते है । उद्यमिता के विकास के उपक्रमों की असफलताओं की संभावनाएं कम होंगी, जिससे राष्ट्रीय साधनों का सर्वोत्तम उपयोग संभव होगा । साथ ही, सरकार पर रूग्ण इकाइयों के पुनर्जीवित करने का भार नहीं बढ़ेगा ।
4. **संतुलित आर्थिक विकास :** उद्यमिता के फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में व्याप्त विकासात्मक दूरी को कम किया जा सकता है । विकासशील देश, विकसित देशों की तुलना में तकनीकी एवं व्यावसायिक विकास के दृष्टिकोण से बहुत पिछडे हुए हैं । इसी प्रकार एक ही देश में विभिन्न जिलों में औद्योगिक एवं व्यावसायिक विकास में बहुत अंतर पाया जाता है । इन प्रान्तीय एवं क्षेत्रीय अन्तरों को लघु उद्यमिता के विकास से कम किया जा सकता है ।
5. **साधनों का सर्वोत्तम उपयोग** : देश के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों, जैसे प्राकृतिक सम्पदा, कच्चा माल, मानवीय कौशल आदि का सर्वोत्तम उपयोग उद्यमिता के विकास से ही संभव है । उद्यमी अप्रयुक्त साधनों का उपयोग

करते हैं, उत्पादन क्षमता में वृद्धि करते हैं तथा प्रबन्धकीय कौशल से साधनों का सर्वोत्तम विदोहन करते हैं ।

6. **रोजगार अवसरों में वृद्धि** : उद्यमिता के विकास से नये-नये उपक्रमों की स्थापना होती है, जिससे अधिक व्यक्तियों को विशेष रूप से स्थानीय समुदाय के व्यक्तियों को रोजगार मिलता है । विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत शिक्षित बेरोजगारों को स्व-रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं । नवकरणों से उपक्रमों का विस्तार होता है, अत: रोजगार के अतिरिक्त अवसरों का सृजन होता है । उद्यमिता के विकास से महिलाओं हेतु भी रोजगार का सृजन किया जा सकता है ।
7. **आत्मनिर्भर समाज :** देश के विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में उत्पादकता क्रांति से ही एक आत्म निर्भर समाज की स्थापना संभव है । विकसित उद्यमिता व्यावसायिक उपक्रमों के उत्पादन में वृद्धि करके, स्थानीय समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही साथ निर्यात संवर्द्धन में भी योगदान देंगे । रोजगार एवं उत्पादकता में वृद्धि से व्यक्तियों के जीवन स्तर में सुधार होगा, बचत एवं पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा, वस्तुओं के आयात में कमी होगी, जिससे एक आत्मनिर्भर समाज की स्थापना का स्वप्न साकार होगा ।
8. **आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान :** उद्यमिता के विकास से देश के विभिन्न भागों में व्यावसायिक उपक्रम स्थापित होंगे, जिससे शहरों में व्याप्त आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं यथा - वर्ग संघर्ष, दूषित वातावरण, गंदी बस्तियों का निर्माण, सामाजिक अपराध आदि कम होंगे । ग्रामीण क्षेत्रों में व्यावसायिक प्रवृतियाँ विकसित होने से सामाजिक बुराइयों में कमी होगी तथा व्यक्तियों का ध्यान सकारात्मक प्रवृत्तियों की ओर प्रवृत्त होगा ।

2.8 व्यावसायिक उद्यमी के गुण

उद्यमी के गुणों के सम्बन्ध में सभी विद्वानों में मतैक्य नहीं है । इसका कारण यह है कि एक उद्यमी को व्यवसाय एवं उद्योग की स्थापना से लेकर वस्तुओं की विक्रयोपरान्त सेवाओं तक विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं, जिनके निष्पादन के लिए उसमें अनेक गुणों का होना आवश्यक है ।

ए.सी. ब्रेडफोर्ड के अनुसार, वर्तमान युग में व्यवसाय एवं उद्योग के नेतृत्व के लिए न केवल तकनीकी मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान आवश्यक है, वरन् भिन्न -भिन्न व्यावसायिक समुदायों के मध्य सहयोग के सिद्धान्त का ज्ञान, राष्ट्र के सामाजिक जीवन में सक्रिय सहयोग, अर्थशास्त्र के मूलसिद्धान्तों का परिचय, मानवता के लिए गहरी सहानुभूति, व्यक्तियों के चुनाव एवं शिक्षण सम्बन्ध संतुलित निर्णायक बुद्धि और सेवा के उच्चतम आदर्शों से प्रेरित विशाल दृष्टिकोण आवश्यक है । '

मैक्लीलैण्ड के अनुसार एक सफल उद्यमी में निम्न गुण पाये जाते हैं -

- असाधारण सृजनशीलता ।
- जोखिम क्षमता तथा सफलता प्राप्त करने की तीव्र इच्छा ।

सफल उद्यमी के गुणों को क्रमबद्ध अध्ययन निम्नलिखित के अन्तर्गत किया जा सकता

(I) शारीरिक एवं मानसिक गुण ।

(II) सामाजिक एवं चारित्रिक गुण ।

(III) व्यावसायिक गुण ।

(I) शारीरिक एवं मानसिक गुण :

यदि देखा जाये तो किसी उद्यमी की सफलता में उसके शारीरिक एवं मानसिक गुण महत्वपूर्ण योगदान देते हैं । ये शारीरिक एवं मानसिक गुण निम्नलिखित हैं -

1. **प्रभावी व्यक्तित्व** : उद्यमी की सफलता उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है । एक आदर्श उद्यमी वह है जिसका शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास उच्चकोटि का है। व्यक्तित्व का प्रभावशाली व्यक्तित्व उसके जन्म के सरकारों, वातावरण तथा अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार बनता है यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है ।
2. **यर्थाथता या शुद्धता**: सफलता का दूसरा मुख्य तत्व यह भी है कि साहसी को इस बात का पूर्ण रूप से ज्ञान हो कि मैं क्या कह रहा हूँ तथा मेरा तात्पर्य क्या है? क्योंकि उसे सामान्य आवश्यकताओं से निबटना पडता है एवं वे शुद्ध चिन्तन पर निर्भर करते हैं अतएव साहसी के विचारों में शुद्धता होनी चाहिये ।
3. **परिश्रमी** - "परिश्रम सफलता की कुँजी है" जो व्यक्ति परिश्रम करते हैं सफलता स्वत: उनके चरण चूमती है । अतएव उद्यमी की सफलता के लिए उसका परिश्रमी होना नितान्त आवश्यक है । परिश्रम करने पर ही वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा । अत: साहसी को निरन्तर परिश्रम करते रहना चाहिये । उसे गीता की यह उपदेश सदैव ध्यान में रखना चाहिए "कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषू कदाचन: ।उद्यमी को फल की चिन्ता छोड्कर सदैव परिश्रम करते रहना चाहिए । परिश्रम का फल सदैव मीठा होता है । एडीसन के अनुसार "किसी भी कार्य की सफलता में प्रतिभा एक प्रतिशत कार्य करती है जबकि परिश्रम निन्यानवे प्रतिशत । "
4. **उत्साह, साहस. लगन और दूरदर्शिता**: एक सफल उद्यमी में इन चारों गुणों का होना नितान्त आवश्यक है । व्यवसाय में तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते रहने के कारण अच्छे से अच्छे साहसी भी असफल हो जाते हैं । असफलताओं के होते हुए भी साहसी को सदैव उत्साह, साहस और लगन से काम लेना चाहिये । किसी ने ठीक ही कहा है क "व्यवसाय का मार्ग कोई पुष्पों की सेज नहीं है । इसमें पग-पग पर जोखिम है, अत: बिना साहस के सफलता पाना अत्यन्त कठिन है ।. उसे दूरदर्शी होना चाहिए । "असफलता ही सफलता की कुँजी है । " - उसे इस सिद्धान्त को मानकर सदैव आगे बढ़ते रहना चाहिये ।
5. **विवेक एवं कल्पना-शक्ति** : किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उस पर गंभीरता से विचार कर लेना -चाहिये । इस सम्बन्ध में एक कहावत है - "बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय" । अमेरिका के प्रसिद्ध **विद्वान एण्ड्रयू कार्नेगी** के शब्दों में, "जो व्यक्ति कल्पनाशील नहीं है, उसमें उन्नति की आकांक्षा नहीं है तथा जो अपने जीवन

को उच्च ध्येय की ओर निर्देशित नहीं करता, वह मनुष्य कभी भी सफल नहीं हो सकता और न उसे कभी अन्य व्यक्तियों की सहायता ही प्राप्त हो सकती है । " इस प्रकार सफलता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक उद्यमी में सबसे पहले महत्वाकांक्षा अर्थात किसी भी कार्य को करने की तीव्र लालसा तथा इसके पश्चात विवेकपूर्ण कल्पना शक्ति होनी चाहिये ।

6. **चतुर तथा चौकन्ना** : किसी भी साहसी को जो सफलता के लिए उद्यत है, अपने को बाहरी जगत के सम्पर्क में रखना पडता है तथा उसे अपनी जागरूकता बनाये रखनी पड़ती है । उसमें प्रत्येक बात को समझने की शक्ति का होना तो आवश्यक है ही किन्तु साथ ही उसको बाहरी वातावरण में तथा उस व्यवसाय में होने वाली गतिविधियों के प्रति भी सतर्क रहना चाहिये ।
7. **कुशल आलोचक** : साहसी अपनी योजना में तभी सफल हो सकता है जब उसकी अच्छाइयों तथा बुराईयों को, उसको कार्य-रूप में लाने से पूर्व भली प्रकार अध्ययन करके तथा उसके अनुसार अपनी योजना में परिवर्तन ले आये, किन्तु आलोचनायें आलोचना के लिए ही न रहकर, रचनात्मक होनी चाहिये । इसलिए वह कुशल आलोचक भी होना चाहिए ।
8. **समय का मूल्य जानने वाला** - सफल उद्यमी को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि '**समय ही धन**' है । व्यवस्था में अनुमान की बात नहीं चलती, सारे कार्य अंकों एवं वास्तविकता पर निर्भर करते हैं । जिस साहसी ने संख्या एवं समय पर उचित ध्यान दिया है, वह अवसर के उपस्थित होने पर इससे मध्यम से अधिक लाभ उठाने को हमेशा तत्पर रहेगा ।
9. **परिपक्वता** : उद्यमी को मानसिक दृष्टि से पूर्ण परिपक्व होना चाहिये । उसमें अपने उत्तरदायित्वों को समझने एवं निभाने की क्षमता होनी चाहिये । यही नहीं, उसमें अपनी आलोचनाओं को सुनकर भी आलोचकों की प्रशंसा करने, उत्तेजित व्यक्तियों तथा अन्य व्यक्तियों से वार्तालाप करते समय अपने मानसिक संतुलन बनाये रखने की भी क्षमता होनी चाहिये ।
10. **गतिशील विचार** : उद्यमी की सफलता का एक महत्वपूर्ण घटक उसके गतिशील विचारों का होना है । वह अपने गतिशील विचारों के कारण ही व्यवसाय की स्थापना एवं संचालन में नवीनतम तकनीकों, आधुनिक यंत्रों एवं उपकरणों तथा नवीनतम प्रबन्ध तकनीकों का उपयोग कर सकेगा तभी वह नव प्रवर्तक कहलाये जाने का अधिकारी हो सकेगा ।
11. **आशावादिता** : उद्यमी को अपने कार्य में पल-पर जोखिमों व अनिश्चितताओं का सामना करना पड़ता है । यह आवश्यक नहीं कि उद्यमी को अपने कार्य में शुरू में ही सफलता मिल जाये । ऐसी स्थिति में यदि वह आशावादी नहीं रहेगा तो उसके लिए कार्य करना असंभव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही हो जायेगा ।

(II) सामाजिक एवं चारित्रिक गुण

शारीरिक एवं मानसिक गुणों के अतिरिक्त एक उद्यमी में चारित्रिक गुणों का होना भी परम आवश्यक है तभी वह समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगा तथा कर्मचारियों एवं बाहरी पत्रकारों पर अच्छा प्रभाव डाल सकेगा । इस दृष्टि से एक सफल उद्यमी से निम्नलिखित सामाजिक एवं चारित्रिक गुणों का होना आवश्यक है -

1. **चरित्र बल** : नैतिक बल से युक्त होने के लिए नेता को धर्मभीरू तथा ईश्वरोज़ख होना चाहिये । उसे वैसा होना चाहिए, जो अपने द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य को आत्म-निरीक्षण करता हो । **प्रो हाकिंग** के शब्दों में "चरित्रवान व्यक्ति अपनी आँखों, वाणी, हाव-भाव एवं कथन के द्वारा अपने लोगों में स्वयं का मन डाल देते हैं' । उद्यमी को बिना नैतिक चरित्र ऊँचा किये सफलता नहीं मिल सकती ।
2. **सच्चाई एवं मानवता** : उद्यमी की सफलता एवं उन्नति का एकमात्र आधार सच्चाई एवं मानवता है । यह कथन सर्वथा सत्य है कि "ईमानदारी व्यवसाय की सर्वोत्तम नीति है । " झूठ बोलकर या कपट के द्वारा केवल क्षणिक लाभ ही उठाया जा सकता है, किन्तु अन्त में सर्वनाश निश्चित है ।
3. **सहयोगात्मक क्षमता** : साहसी का एक महत्वपूर्ण गुण यह भी है कि उसमें अधिक से अधिक लोगों के साथ मिलकर काम करने की क्षमता होनी चाहिये । उसमें समझौता करने, सामंजस्य करने, अनुकूलित होने की क्षमता होनी चाहिए तथा समय आने पर उसे अपनी भूलों को स्वीकार करने में तनिक भी हिचकिचाहट महसूस नहीं करना चाहिए ।
4. **मिलनसारिता एवं व्यवहार कुशलता** : एक सफल उद्यमी में मिलनसारिता एवं व्यवहार कुशलता का भी गुण होना चाहिये । मिलनसारिता होने पर उद्यमी अन्य व्यक्तियों के साथ स्वतंत्रतापूर्वक मिलजुल सकता है तथा उनमें अपने प्रति आत्मीयता एवं विश्वास उत्पन्न कर सकता है ।
5. **नम्रता या विनम्रता** : उद्यमी को सभी पक्षों के साथ सदैव नम्रता से व्यवहार करना चाहिये । नम्रता से आशय यह कदापि नहीं है कि वह अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखे तथा दूसरों के साथ आवश्यक रूप से चापलूसी करे । उसे अपनी स्थिति के अनुकूल ही दूसरों के साथ नम्रता, शिष्टता, प्रेम, सद्भाव एवं सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करना चाहिये । नम्रता के कारण उद्यमी की लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ती है जबकि उसके लिए उसे कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है ।
6. **सुशील व्यवहार** : उद्यमी का व्यवहार मृदु मनमोहक एवं सुशील होना चाहिये । नम्रता, सद्व्यवहार, सहिष्णुता, प्रसन्नता आदि से उद्यमी सुशील बनता है । सुशील व्यवहार द्वारा शत्रु भी मित्र बन जाता है ।
7. **आदरभाव** : उद्यमी को सदैव आदरभावी होना चाहिये अर्थात् उसे छोटे-बडे सभी लोगों के साथ आदरभाव पूर्ण व्यवहार करना चाहिये । इस सम्बन्ध में किसी ने ठीक ही कहा है कि 'जो दूसरे के साथ आदरभाव का व्यवहार करते हैं वे एक प्रकार से स्वयं का आदरभाव करते हैं । '

(III) **व्यावसायिक गुण-**

एक सफल उद्यमी में व्यावसायिक गुणों का होना भी परम आवश्यक है । इस संदर्भ में विद्वान **हेनरी पी. डटन** ने ठीक ही कहा कि "वह व्यक्ति जिसने एक बार भी व्यवसायी बनने के व्यवसाय में सिद्धता प्राप्त करली हो जो संगठन आर्थिक प्रबन्ध, हिसाब-किताब सहयोगियों के साथ कार्य एवं उनका शासन, क्रय एवं विक्रय के मूलभूत सिद्धान्तों को सीख लेता है वह बहुत ही शीघ्र व्यवसाय में कुशलता एवं सफलता प्राप्त कर लेता है । " इस दृष्टि से एक उद्यमी में निम्नलिखित व्यावसायिक गुणों का होना आवश्यक है

1. **व्यावसायिक योग्यता शिक्षा तथा प्रशिक्षण** : व्यावसायिक सफलता के लिए व्यावसायिक योग्यता शिक्षा एवं प्रशिक्षण का होना अत्यन्त आवश्यक है । आज का युग विशिष्टीकरण एवं प्रतिस्पर्धा का युग है । इसमें केवल उद्यमी का अनुभव ही काम नहीं करता वरन उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह पढ़ा-लिखा एवं व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए हो ।
2. **ख्याति**: ख्याति किसी भी उद्यमी के लिए एक अमूल्य निधि होती है, जिसका लाभ उसे स्वयं को तो होता ही है. अपितु यह आगे भी पीढियों तक चलती है, बशर्ते कि भावी पीढ़ी कोई ऐसा कार्य न करे जो कि व्यवसाय के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो । ख्याति का निर्माण व्यवसायी की स्वयं की ईमानदारी, परिश्रम तथा ग्राहकों की सेवा आदि तत्वों द्वारा होता है । इसको बनाये रखने के लिए व्यवसायिक संस्थाओं को बडे संकल्प करने पड़ते हैं ।
3. **नेतृत्व क्षमता** : नेतृत्व से आशय किसी व्यक्ति विशेष के उस गुण से है जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों का मार्ग-प्रदर्शन करता है तथा नेता के रूप में उसकी क्रियाओं का संचालन करता है । नेतृत्व वह क्षमता है जिसके द्वारा उसके अनुयायियों के समूह में वांछित कार्य स्वेच्छापूर्वक कराये जाते हैं । मार्शल के अनुसार, 'उद्यमी उद्योग का कप्तान होता है.... । अतएव उसमें नेतृत्व का गुण होना आवश्यक है ।
4. **निर्णय क्षमता** : एक उद्यमी को स्थापना से लेकर अन्त तक अनेक निर्णय लेने पडते है । व्यावसायिक अवसरों का लाभ भी तभी मिलता है जबकि उपयुक्त समय पर सही निर्णय लिये जायें जो अवसर एक बार हाथ से निकल जाता है वह पुन: वापिस लौटकर नहीं आता है । निर्णयों को टालने वाला साहसी कभी भी सफल साहसी नहीं बन सकता।
5. **जोखिम सहने की क्षमता** : उद्यमी को उपक्रम की स्थापना एवं संचालन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यो (जैसे - नियोजन, संगठन, समन्वय नियंत्रण तथा अभिप्रेरणा आदि) का निष्पादन करना पड़ता है । इन सभी कार्यो के लिए कुशल निष्पादन के लिए यह परम आवश्यक है कि उद्यमी में कुशल प्रबन्ध करने की क्षमता हो ।
6. **प्रबन्धकीय क्षमता**: उद्यमी को उपक्रम की स्थापना एवं संचालन के संबंध में विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यो (जैसे - नियोजन, संगठन, समन्वय, नियंत्रण तथा अभिप्रेरणा आदि)

का निष्पादन करना पड़ता है । इन सभी कार्यो के लिए कुशल निष्पादन के लिए यह परम आवश्यक है कि उद्यमी में कुशल प्रबन्ध करने की क्षमता हो ।

7. **आर्थिक कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता** : व्यवसाय एक आर्थिक क्रिया है । अतएव व्यवसाय में आर्थिक कठिनाइयों का आना स्वाभाविक है । इसलिए सफल उद्यमी में इन आर्थिक कठिनाइयों से घबराये बिना धैर्यपूर्वक इनका सामना करने में क्षमता होनी चाहिये ।
8. **नवीनतम तकनीकों. अनुसंधानों एवं परिवर्तनों की जानकारी** : परिवर्तन जीवन का नियम है । आधुनिक युग में विभिन्न क्षेत्रों में नवीनतम तकनीकों, अनुसंधानों एवं परिवर्तनों को देखने का मिलता है । उद्यमी को इन नवीनतम तकनीकों, अनुसंधानों एवं परिवर्तनों का ज्ञान होना परम आवश्यक है । तभी वह नव प्रवर्तक के रूप में अपना कार्य कुशलतापूर्वक कर सकता है ।
9. **मानवीय प्रकृति एवं सबंधों का ज्ञान**: उद्यमी को मानवीय प्रकृति तथा मानवीय सम्बन्धें का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तभी वह व्यवसाय के लिए योग्य, अनुभवी तथा कुशल व्यक्तियों का चयन कर सकेगा उनसे स्वयं को समायोजित कर सकेगा तथा उनकी योग्यता के अनुकूल कार्य सौंप सकेगा एवं ले सकेगा ।
10. **सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजगता**: आधुनिक व्यवसाय में सफलता पाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उद्यमी अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रगतिपूर्ण सजग रहे । प्रत्येक उद्यमी को अपने कर्मचारियों, उपभोक्ताओं, सरकार, आपूर्तिकर्ताओं व अन्य व्यावसायिक संस्थाओं के प्रति अपना सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग रहे । प्रत्येक उद्यमी को अपने कर्मचारियों, उपभोक्ताओं, सरकार, आपूर्तिकर्ताओं व अन्य व्यावसायिक संस्थाओं के प्रति अपना सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाना चाहिये ।
11. **राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों का ज्ञान**: प्रत्येक उद्यमी को व्यवसाय एवं उद्योग से सम्बन्धित देश की राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों (जैसे - औद्योगिक नीति, औद्योगिक लाइसेन्सिंग नीति, आयात-निर्यात नीति आदि) का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है । इन्हीं नीतियों के आधार पर सरकार देश के औद्योगिक एवं व्यावसायिक उपक्रमों का नियंत्रण एवं नियमन करती है ।
12. **बाजार की दशाओं का ज्ञान**: यदि देखा जाये तो उद्यमी को सफलता केवल उत्पादन करने पर ही निर्भर नहीं करती है बल्कि उत्पादित वस्तुओं की सफलतापूर्वक बिक्री करने पर ही निर्भर करती है । इसके लिए आवश्यक है कि साहसी को बाजार की परिस्थितियों (उपभोक्ताओं की मांग, फैशन, रूचि, मूल्यों में उतार-चढ़ाव आदि का व्यापक रूप में ज्ञान हो ।

2.7 व्यावसायिक उद्यमिता की सीमाएं

उद्यमिता जहाँ लाभदायक एवं उपयोगी है वहां इसकी कुछेक सीमाएं भी हैं । प्रमुख सीमाएं निम्नानुसार है:

1. **अनिश्चित आय**: उद्यमिता अपनाने का एक बड़ा दोष यह है कि सदैव आय की निश्चितता का सामना करना पडता है । यह कभी कम तो कभी ज्यादा हो सकती है । ऐसे से उद्यमी एक निश्चत प्रकार का जीवन स्तर बनाए रखने में कठिनाई भी अनुभव करता है ।
2. **गर्भकाल**: उद्यमिता की एक सीमा यह भी है कि कुछ उपक्रमों का गर्भकाल लम्बा होता है । ऐसे व्यवसायों की स्थापना एवं संचालन में अनेक वर्ष तक लग जाते हैं । वृहद् स्तर के उपक्रमों की परियोजनाओं में तो अत्यधिक समय लग जाता है । ऐसे संसाधन वाले उद्यमियों को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पडता है । कमजोर आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति इसलिए उद्यमिता को नहीं अपना पाते हैं ।
3. **कठोर परिश्रम** : उद्यमिता अपनाने वाले व्यक्तियों को कठोर श्रम करना होता है । अमेरिका में एक सर्वेक्षण (1999) से यह ज्ञात हुआ है । 20 प्रतिशत उद्यमी 51 से 60 घंटे प्रति सप्ताह कार्य करते हैं जबकि 17 प्रतिशत उद्यमी प्रति सप्ताह 60 घंटों से अधिक समय तक कार्य करते हैं । विकासशील देशों में जहाँ कार्य के घण्टों का सरकार द्वारा कडाई से नियमन नहीं किया जाता है, उद्यमी इससे भी अधिक लम्बे समय तक कार्य करते हैं । हमारे देश के लघु उद्यमी तो 12- 14 घंटे प्रतिदिन (प्राय: 75 घंटों से अधिक प्रति सप्ताह) कार्य करते देखे जा सकते हैं । ऐसे उद्यमियों को यह मानना है कि जब संस्थान जल्दी बंद हो जायेगा तो ग्राहक अन्य उद्यमियों के पास चला जायेगा । फलत: उनकी आय में कमी आयेगी ।
4. **अत्यधिक जोखिम** - उद्यमिता में भारी जोखिम निहित है । जोखिम की मात्रा उद्यम की प्रवृत्ति से प्रभावित होती है । कुछ उद्यम जो बाह्य वातावरण के घटकों से अधिक प्रभावित होते हैं उनमें प्राय: जोखिम अधिक होती है, फलत: उद्यम एवं उद्यमी को असफलता का मुँह देखना पड़ता है । अमरीका में हुए सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि 35 प्रतिशत छोटे व्यवसाय दो वर्षो में तथा 54 प्रतिशत व्यवसाय चार वर्षो में असफल होकर बंद हो जाते हैं । 64 प्रतिशत व्यवसाय छ: वर्षों के भीतर ही समाप्त हो जाते है।
5. **असफलता का आघात**: उद्यमिता में असफलता से उद्यमियों को वित्तीय हानि का सामना नहीं करना पड़ता है । बल्कि उसे अनेक प्रकार के आघात को भी सहन करना पड़ता है । उद्यमी के असफल होने पर सबसे पहले परिवारजनों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । असफलता रो उद्यमी के सामाजिक सम्मान को भी आघात लगता है । यही नहीं, असफलता उद्यमी को मानसिक रूप से भी गहरी चोट पहुँचाती है ।
6. **आमोद-प्रमोद के लिए सीमित अवसर**: उद्यमिता अपनाने का एक बड़ा दोष यह है कि उद्यमी को फुर्सत एवं आनन्द के बहुत ही सीमित अवसर मिलते हैं । वे परिवारजनों के साथ खाना खाने, खरीददारी करने तथा मनोरंजन हेतु कोई विशेष समय नहीं दे पाते हैं । सप्ताह दो सप्ताह के लिए भ्रमण पर जाने का अवसर तो कई उद्यमियों को जीवन में कभी-कभार ही मिल पाता है । अमेरीका जैसे समृद्ध देश में लगभग 30

प्रतिशत उद्यमी ऐसे पाये गये हैं जिनकी छुट्टियों में भ्रमण पर जाने की कोई योजना होती है ।

7. **चिन्ता. तनाव एवं अवसाद** - उद्यमिता अपनाने वाले लोग प्राय: चिन्ताओं से घिरे रहते हैं और उनका जीवन तनाव पूर्ण होता है । इनके कारण भी स्पष्ट हैं । वे एक ओर अपना सब कुछ निवेश कर देते हैं तथा घर सम्पत्तियों तक को भी बन्धक रख देते हैं। दूसरी ओर व्यवसाय में बढ़ती प्रतिस्पर्धा, ग्राहकों, कर्मचारियों के व्यवहार आदि की चिंता भी बनी रहती है । फलतः उनके जीवन में तनाव उत्पन्न होता ही है । वे एक सामान्य व्यक्ति की भांति सहज जीवन नहीं जी पाते हैं ।
8. **दायित्व भार**: उद्यमिता को अपनाने से एक ओर उद्यमी को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर मिलता है तो दूसरी ओर उसे दायित्वों का भार भी उठाना होता है । दायित्वों का भारत और अधिक असीमित हो जाता है जबकि उद्यमी अकेला ही उद्यमिता को अपनाता है । ऐसे में कई महत्वपूर्ण एवं दीर्घकालीन निर्णय लेने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है । संकट के समय कई मामलों में जब उसे कोई निर्णय करना होता है तो उस अकेले व्यक्ति के कंधे दायित्व बोझ से झुक जाते हैं ।
9. **आर्थिक संसाधनों की कमी**: उद्यमिता की एक बडी सीमा यह है कि वित्त की कमी का सामना कभी भी करना पड सकता है । स्थायी पूँजी की व्यवस्था प्राय: आसानी से हो जाती है, किन्तु कार्यशील पूँजी का संकट कई उद्यमियों के सामने उपस्थित होता रहता है । ऐसा माल का संग्रह अधिक कर लेने, विक्रय में अचानक कमी हो जाने, उधार पर माल बेचने आदि कारणों से हो जाता है । ऐसे उद्यमी को वित्तीय संकट का सदैव सामना करना पड़ता है । इससे कभी-कभी उसकी साख पर विपरीत प्रभाव पडने का भय भी बना रहता है ।
10. **कर्मचारियों द्वारा कपटपूर्ण व्यवहार**: सामान्यत: प्रत्येक उद्यमी को किसी न किसी प्रकार के कर्मचारी की सेवाएं लेनी ही पड़ती हैं । कारण स्पष्ट है कि कोई भी सभी कार्य स्वयं नहीं कर सकता है । उद्यम के विकसित होने पर कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि होना भी स्वाभाविक ही है, किन्तु सभी कर्मचारी सदैव अपने सेवायोजक के प्रति निष्ठावान बने रहें, यह आवश्यक ही नहीं है । यही कारण है कि आये दिन कर्मचारियों द्वारा धोखा देने, गबन करने, हेराफेरी करने, माल चोरी करने की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं । उद्यमी को कपट या विश्वासघात की भारी कीमत चुकानी पड़ती है ।
11. **औपचारिकताएँ** : उद्यमिता अपनाने पर कुछ कानूनी, सरकारी तथा व्यापारिक औपचारिकताएँ तो पूरी करनी आवश्यक होती है । किन्तु हमारे देश के उद्यमियों को कई अनावश्यक कानूनी एवं सरकारी औपचारिकताओं को पूरा करना पड़ता है । यदि किसी लघु उद्यमी को देश के लगभग 30 कानूनों की औपचारिकताओं को पूरा करना पड़े तो उसकी दशा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । हमारे देश की सरकार का इस ओर ध्यान गया है । सरकार शीघ्र ही लघु एवं मध्यम आकार के उद्यमियों के लिए एक ही कानून बनाने जा रही है, ताकि उन्हें अनेक कानूनी औपचारिकताओं से बचाया जा सके ।

12. **भ्रष्ट व्यवस्था का सामना** : उद्यमिता की एक बड़ी सीमा यह है कि उद्यमी को भ्रष्टाचार को सहन करना पड़ता है । छोटा उद्यमी भ्रष्टाचार का सामना नहीं कर सकता है । उसे भ्रष्टाचार के आगे घुटने टेकने को बाध्य होना पड़ता है ।

2.8 सारांश

उद्यमिता वर्तमान काल का युगधर्म बन गयी है । जिस उद्यमिता का क्षेत्र उत्पादों को बनाने से विपणन तक के कार्यो तक विस्तृत होता है उसे व्यावसायिक उद्यमिता कहते हैं । इसके अन्तर्गत भारी निवेश करना पड़ता है तथा जोखिम अपेक्षाकृत अधिक होती है । उद्यमिता की परिभाषा समय के साथ परिवर्तित होती रही है । इसे एक विशेषण एवं क्रिया के रूप में देखा जा सकता है । उद्यमिता किसी व्यक्ति की किसी नये कार्य को करने की भावना, इच्छा, योग्यता या प्रवृत्ति से है । क्रिया के रूप में उद्यमिता के अनेक प्रारूप देखने को मिलते हैं । यह किसी व्यक्ति के जीवन में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था व समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है, तथापि उद्यमी को अनेक कठिनाइयों एवं सीमाओं के भीतर कार्य करना पड़ता है ।

2.9 शब्दावली

उद्यमिता	:	जोखिमपूर्ण कार्य को प्रारम्भ व संचालित करना ।
औद्योगिक उद्यमिता	:	वह जोखिमपूर्ण कार्य हो उत्पादन या निर्माण गतिविधियों का संचालन करने से सम्बन्धित है ।
समूह उद्यमिता	:	जब दो या अधिक व्यक्तियों का समूह मिलकर उद्यमिता को अपनाता है ।
नव प्रवर्तक उद्यमी	:	वह उद्यमी जो किसी नवीन गतिविधि को अपनाता है ।

2.10 स्वपरख प्रश्न

1. उद्यमिता से आप क्या समझते है? इसकी प्रकृति को स्पष्ट कीजिए ।
2. उद्यमिता की अवधारणाओं को समझाइए । व्यावसायिक उद्यमी की भूमिका पर प्रकाश डालिये।
3. उद्यमिता क्या है? व्यावसायिक उद्यमिता की सीमाओं को बतलाइये ।
4. उद्यमी के विभिन्न गुणों अथवा योग्यताओं को बतलाइये ।
5. व्यावसायिक उद्यमिता के प्रकारों का वर्णन कीजिए ।
6. व्यावसायिक उद्यमी के कार्यो का उल्लेख कीजिए ।

2.11 उपयोगी पुस्तकें

1. आर. एल. नौ लखा व्यावसायिक संगठन (आदर्श प्रकाशन, जयपुर)
2. सैन, जैन, गुप्ता. व्यावसायिक संगठन (साहित्य भवन, आगरा)
3. रमेश- चन्द्र अग्रवाल. व्यावसायिक संगठन (कॉलेज बुक हाउस, जयपुर)
4. वी.बी. सक्सेना. व्यावसायिक संगठन (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली)

इकाई - 3 : व्यावसायिक वातावरण (Business Environment)

इकाई की रूपरेखा-

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 इतिहास एवं विकास

3.3 अर्थ एवं परिभाषा

3.4 महत्त्व

3.5 क्षेत्र एवं प्रकृति

3.6 प्रकार

3.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध (व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाने के सुझाव)

3.8 विशेषताएँ

3.9 कार्य

3.10 उदाहरण

3.11 सारांश

3.12 स्वपरख प्रश्न

3.13 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

वातावरण मानव जीवन का अभिन्न अंग है । वातावरण के अनुरूप ही मानव स्वयं को ढाल लेता है । मनुष्य को वातावरण का दास कहना तो उपयुक्त नहीं होगा, परन्तु वह वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होता है और अत्यन्त सीमित रूप में ही वातावरण को प्रभावित कर सकता है, अत: कहा जा सकता है कि किसी व्यवसाय की सफलता उसके व्यावसायिक वातावरण से सामंजस्य पर निर्भर करती है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यावसायिक वातावरण किसी भी संस्था की वे बाह्य गतिशील दशाएँ, परिस्थितियाँ तथा घटक हैं जिनसे उस संकरा की कार्यकुशलता तथा सफलता प्रभावित होती है । इन पर उस संस्था का कोई नियन्त्रण नहीं होता है । संस्था को उस वातावरण के अनुरूप स्वयं को ढालना पड़ता है तथा उसमें समुचित अवसर ढूँढकर अपने लक्ष्यों को पूरा करना पड़ता है ।

वातावरण के मुख्य तीन उद्देश्य होते हैं :

प्रथम: वातावरण में होने वाले भावी परिवर्तनों की समस्त जानकारी प्राप्त करना जो व्यवसाय के लिए महत्वपूर्ण हो ।

द्वितीय: वातावरणीय विश्लेषण से निर्णयन हेतु आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं ।

तृतीय : संगठन में विभिन्न व्यूह रचनाओं के निर्माण में सहायक होता है ।

इसके अतिरिक्त व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होता है ।

1. व्यवसाय का सफल संचालन व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन पर पर्याप्त सीमा तक निर्भर है । वातावरण के अनुरूप ही व्यवसाय को संचालित करके सफलता प्राप्त की जा सकती है ।
2. व्यवसाय में विभिन्न व्यूह रचनाओं के विकास एवं दीर्घकालीन नीतियों के निर्माण में भी व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन सहायक होता है ।
3. वातावरण में परिवर्तन से व्यवसाय गतिशील बनता है । आज के समय में स्थिरता के स्थान पर गतिशीलता आवश्यक है । इस बदलते हुए परिवेश में वही व्यवसाय बाजार में टिक सकता है जो गतिशील सोच पर आधारित हो ।
4. तकनीकी प्रगति के अनुसार व्यवसाय में विकास कार्यक्रम तैयार किये जा सकते हैं
5. वातावरण का अध्ययन और उससे प्राप्त सूचनाएँ व्यावसायिक निर्णयन में अत्यन्त सहायक हैं । निर्णयों की सत्यता, विश्वसनीयता सूचनाओं पर ही निर्भर करती है ।
6. व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन से नवीन अवसरों का ज्ञान प्राप्त होता है और उनसे लाभ प्राप्त किया जा सकता है । नवीन साहसिक क्रियाओं के विकास के क्षेत्रों की जानकारी वातावरणीय अध्ययन से ही प्राप्त होती है ।
7. सम्पूर्ण देश के आर्थिक विकास को बल मिलता है ।
8. प्रतिस्पर्द्धियो की व्यूह रचनाओं की जानकारी प्राप्त होती है और उनका मुकाबला करने के लिए उचित व्यूह रचना विकसित की जा सकती है ।

3.1 प्रस्तावना

व्यवसाय, राष्ट्र एवं समाज के वातावरण ने रहकर अपनी क्रियाओं को संचालित करता है । समाज में बदलती हुई विचारधाराएँ, प्रबन्ध का नया दर्शन, परिवर्तनशील औद्योगिकी तथा सांस्कृतिक परिवेश आदि सभी कुछ व्यवसाय को छूता है । इस प्रकार वातावरण नये स्वरूप व नई मान्यताओं को ग्रहण करने के लिए व्यवसाय को बाध्य करता है । व्यवसाय वातावरण से पूँजी, श्रम, तकनीक, कच्चा माल प्राप्त करता है तथा वातावरण को परिणाम एवं उपलब्धियाँ प्रदान करता है । वातावरण जहाँ एक ओर व्यवसाय को चुनौतियाँ प्रदान करता है वहीं लाभ के अवसर भी उपलब्ध कराता है । व्यवसाय की तरह प्रत्येक व्यावसायिक संगठन भी वातावरण की एक इकाई है । मनुष्य अपने वातावरण की उपज एवं परिस्थितियों का दास है, उसका जीवन एवं वातावरण परस्पर इस प्रकार से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि उन्हें पृथक करना कठिन है । यदि हम विभिन्न स्थानों के निवासियों के रहन-सहन, खान-पान, शारीरिक एवं मानसिक विकास, उद्योग-धन्धों आदि का अध्ययन करें तो हमें बड़ी भिन्नताएं देखने को मिलेंगी । इसलिए हम यह कह सकते हैं कि देशवासियों का रहन-सहन का तप केवल संयोग की बात नहीं है वरन् वहाँ के वातावरण की देन व परिणाम है ।

'वातावरण मनुष्य की हड्डी, पसलियों, स्नायुओं मस्तिष्क एवं आत्मा में भी रम गया है ।.-

ई. सेम्पल

आज न केवल भारत, वरन् सम्पूर्ण विश्व में पर्यावरण में हो रहे परिवर्तनों और उससे उत्पन्न होने वाले दुष्प्रभावों की चर्चा हो रही है । वातावरण में हो रहे इन परिवर्तनों ने सभी को प्रभावित किया है । यही कारण है कि वातावरण के प्रति जितने चिन्तित वैज्ञानिक हैं, उतने ही अर्थशास्त्री, प्रबन्धक, विचारक एवं अन्य व्यक्ति भी हैं ।

3.2 इतिहास एवं विकास

जिस प्रकार मानव वातावरण की उपज है उसी प्रकार व्यवसाय भी सम्बन्धित वातावरण की ही उपज है । मानव को हवा, पानी, तापमान, धरातल आदि प्रभावित करते हैं तो व्यावसायिक इकाईयों को देश का आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक, वैधानिक, तकनीकी एवं सांस्कृतिक वातावरण प्रभावित करते हैं । यही कारण है कि व्यवसाय को व्यावसायिक वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप आवश्यक परिवर्तन करते रहना पड़ता है । वातावरण की इन शक्तियों का समुचित प्रयोग करके एक व्यावसायिक संस्था निरन्तर प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ सकती है, अत: कहा जा सकता है कि किसी व्यवसाय की सफलता उसके व्यावसायिक वातावरण से सामंजस्य पर निर्भर करती है । क्या उत्पादन करना है, कितना उत्पादन करना है, किन साधनों का प्रयोग करना है, उत्पादित माल को कही एवं कैसे बेचना है? आदि सभी प्रकार के व्यावसायिक निर्णय वातावरण से भी प्रभावित होते है ।

प्रत्येक व्यावसायिक संस्था भी अपने वातावरण की एक इकाई होती है । यह वातावरण व्यावसायिक संस्था के कार्यकलापों का मंच होता है । सभी व्यावसायिक संस्थाओं का संयुक्त प्रभाव ही नवीन वातावरण का सृजन कर पाता है, परन्तु व्यवसाय और उसकी क्रियाएँ स्वयं भी कुछ सीमा तक वातावरण को प्रभावित करती है । आज तो नवाचारों की सहायता से व्यवसायियों ने कुछ सीमा तक वातावरण को भी बदला है । व्यवसायी सरकारी नीतियों को भी बदलने में कामयाब हुए हैं, परन्तु फिर भी मुख्य रूप से यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि व्यवसाय को वातावरण के अनुरूप कार्य करना होता है । विश्व के विभिन्न भागों में व्यवसायों के जो रूप व प्रकृति देखने को मिलती है वह मात्र संयोग नहीं है वरन् वहाँ के वातावरण का ही परिणाम है ।

3.3 अर्थ एवं परिभाषा

व्यावसायिक वातावरण शब्द व्यवसाय + वातावरण से मिलकर बना है, अत: सर्वप्रथम वातावरण शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है । सामान्यत: वातावरण शब्द उन सभी घटकों के समूह को प्रकट करता है जो किसी भी इकाई के बाहर विद्यमान होते हैं तथा वे घटक उस इकाई के नियन्त्रण के बाहर होते है । सामान्यत: वातावरण उन सब घटकों का समूह है जो किसी इकाई के अन्दर एवं बाहर विद्यमान होते हैं । ये घटक इस इकाई के नियन्त्रण में नहीं होते । व्यावसायिक वातावरण किसी व्यवसाय के प्रबन्ध क्षेत्र में कार्यरत उन समस्त तत्वों के योग को कहा जा सकता है जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से व्यवसाय के संचालन को प्रभावित करते हैं, अत: व्यवसाय की सफलता व्यावसायिक वातावरण के साथ उसके समायोजन पर निर्भर करती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यह उन समरस बाह्य घटको का योग है जिनके प्रति व्यवसाय अपने को अनावृत करता है तथा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है ।

वातावरण ही व्यवसाय को नये आकार, स्वरूप, नई भूमिकाएँ, मान्यताएँ व नये तेवर ग्रहण करने को बाध्य करता है । अनेक परिस्थितियों में नये अवसरों की खोज में वातावरण से व्यवसाय को प्रोत्साहन व एक नयी ऊर्जा प्राप्त होती है और यह भी सच है कि व्यवसाय भी वातावरण के परिवर्तन में एक महत्वपूर्ण घटक होता है । व्यावसायिक वातावरण की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :-

"व्यावसायिक वातावरण उन परिस्थितियों व शक्तियों से बना है जिसमें व्यवसाय समस्त कार्यकुशलता व प्रभावी तरीके से हो सके ।"

– डेविड व ब्लॉमस्टॉर्म

"किसी संगठन का वातावरण संगठन के बाहर की ज्ञात दशाओं, प्रभावों अथवा शक्तियों का समूह है जो उस संगठन के लक्ष्यों एवं कार्यों से सम्बन्ध रखता है ।"

– रोबर्ट अलबानीज (Robert Albonese)

"व्यवसायिक वातावरण व्यावसायिक फर्मों तथा उद्योगों के बाहर की उन सभी बातों का योग (Total) है जो उनके संगठन एवं संचालन को प्रभावित करती है ।"

– व्हीलर (Wheelar)

"वातावरण उन संस्थाओं अथवा शक्तियों से बना होता है जो किसी संगठन के कार्य-निष्पादन को प्रभावित करतीं है, किन्तु उस संगठन का उन पर बहुत कम नियन्त्रण होता है ।"

– रॉबिन्स (Robins)

"वातावरण में दबाव एवं नियंत्रण होते हैं जो अधिकांशत: वैयक्तिक फर्म एवं इसके प्रबन्धकों के नियन्त्रण के बाहर होते हैं ।"

– रिचमैन तथा कोपन

"व्यावसायिक वातावरण आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक और संस्थागत उन दशाओं का समूह है जिनमें व्यावसायिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं ।"

– आर्थर बीमर

3.4 महत्त्व

व्यावसायिक वातावरण व्यावसायिक सफलता को प्रभावित करता है । उपयुक्त वातावरण जहाँ उद्योगों की सफलता और विकास का मार्ग प्रशस्त करता है वहाँ दूसरी ओर उपयुक्त वातावरण का अभाव, गरीबी, बेकारी और अस्थिरता पैदा कर सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को कमजोर बना देता है । यह व्यावसायिक वातावरण उपभोक्ता, समाज, उत्पादक और राष्ट्र सभी को प्रभावित करता है । व्यावसायिक वातावरण के महत्त्व को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता है :-

1. **व्यावसायिक जटिलता का ज्ञान**: वातावरण में अनेक घटक होते हैं व अपना भिन्न-भिन्न प्रभाव रखते हैं । इनमें समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहते. हैं जिससे वातावरण में अनेक जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती है । इन जटिलताओं का ज्ञान करने के लिए व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन आवश्यक है ।

2. **गतिशील व्यवहार के लिए**: आन्तरिक वातावरण के साथ व्यवसाय के बाहरी वातावरण, आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक दशाओं एवं नवीन घटनाओं के प्रति जागरूक रहना व्यवसाय के लिए जरूरी होता है । व्यवसाय की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को निरन्तर गतिशील व्यवहार करने की स्थिति में बनाये रखे ।
3. **आर्थिक विकास** : आर्थिक विकास औद्योगिक विकास पर निर्भर है और औद्योगिक विकास हेतु अनुकूल व्यावसायिक वातावरण आवश्यक है । उद्योगों के विकास से आर्थिक समृद्धि एवं उच्च जीवन स्तर का मार्ग प्रशस्त होता है । जिन राष्ट्रों में व्यावसायिक वातावरण अच्छा है और उद्योग विकसित हैं वे राष्ट्र स्वयं भी विकसित है।
4. **परिवर्तनों का ज्ञान**: व्यवसाय एक गतिशील वातावरण में किया जाता है जिसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं । उपभोक्ताओं की प्रतिस्पर्द्धा, रूचियों, उत्पाद, आराम एवं विलासिता की नवीन वस्तुओं की उपलब्धता आदि सभी में परिवर्तन होता रहता है । इन सबकी जानकारी के लिए आवश्यक है कि हम निरन्तर व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन सही रूप से करते रहें ।
5. **कृषि विकास** : औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि से कृषिगत कच्चे माल की मांग बढ़ने से कृषि उत्पादन में वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है, फलस्वरूप कृषि के क्षेत्र में उन्नत तकनीकों व नवीन साधनों का प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार व्यावसायिक वातावरण कृषि विकास को भी प्रभावित करता है ।
6. **खतरों के प्रति सतर्कता**: व्यवसाय एक खुले वातावरण में कार्य करता है । अर्थव्यवस्थाओं में भी खुलापन आ रहा है । इस प्रकार हम यह देख सकते है कि खुलेपन से जहाँ एक ओर नये अवसर प्राप्त हुए हैं तो दूसरी ओर प्रतिपल नये खतरों, संकटों व समस्याओं के उत्पन्न हो जाने की आशंका बनी रहती है । आर्थिक नीतियों, माँग में वृद्धि व कमी, प्रतिस्पर्द्धा आदि में होने वाले परिवर्तन व्यवसाय के लिए अनेक चुनौतियाँ खड़ी कर देते हैं । इन सबका सामना करने के लिए व्यावसायिक वातावरण का मूल्यांकन करना आवश्यक होता है ।
7. **कार्य योजनाओं का निर्माण**: वातावरण के अनुरूप नियोजन कर लेने से ही नियोजन के अनुरूप कार्य किया जा सकता है । इसके लिए कार्य योजनाओं का निर्माण करना पड़ता है । कार्य-योजनाओं का निर्माण करते समय वातावरण के घटकों से सम्बन्धित सूचनाओं को ध्यान में रखना पड़ता है, अत: कार्य को नियोजित रूप से करने के लिए भी वातावरण का अध्ययन करना आवश्यक होता है ।
8. **संचार साधनों का विकास**: व्यावसायिक संगठनों के विकास से संचार के साधनों का भी तेजी से विकास होता है । आज तो देश में संचार क्रान्ति का सा माहौल दिखाई देने लगा है । तार, टेलीफोन, फैक्टर, डाक, ई-मेल, मोबाइल फोन आदि का तेजी से विस्तार हुआ है । इन सबके परिणामस्वरूप व्यावसायिक विकास को गति मिल रही है।
9. **रोजगार में वृद्धि** : अनुकूल व्यावसायिक वातावरण व्यावसायिक संगठनों का विकास करता है और व्यावसायिक संगठनों का विकास रोजगार के अवसरों में वृद्धि करता है ।

यदि हम विश्व के विभिन्न राष्ट्रों पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में बेरोजगारी कम है । इससे भी इसी बात को बल मिलता है कि उद्योगों का विकास रोजगार अवसरों के सृजन में सहायक होता है ।

10. **प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि** : व्यावसायिक वातावरण उद्योगों का विकास करता है और रोजगार के अवसरों में वृद्धि करता है जिसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है । इनसे लोगों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है ।
11. **अन्य महत्त्व** -
    i. वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास में सहायक ।
    ii. आर्थिक समृद्धि लाने में सहायक ।
    iii. व्यावसायिक वातावरण जनसंख्या, उसकी गुणवत्ता को प्रभावित करने की क्षमता भी रखता है । प्राय: देखा गया है कि औद्योगिक रूप से विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या वृद्धि दर कम होती है । साथ ही जीवन स्तर अच्छा होने के कारण व्यक्ति की औसत आयु अधिक होती है और मृत्यु दर में कमी होती है ।
    iv. अन्तर्राष्ट्रीय साख बढ़ती है । औद्योगिक विकास के कारण देश विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आता है ।

3.5 क्षेत्र एवं प्रकृति

व्यवसाय एवं वातावरण के मध्य एक विशिष्ट सम्बन्ध विद्यमान होता है । इनके पारस्परिक सम्बन्धों को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है :-

1. **गतिशीलता**: व्यवसाय का समस्त वातावरण गतिशील होता है, अत: समय के साथ-साथ व्यवसाय की पर्यावरण समस्याएँ भी बदलती रहती हैं । व्यावसायिक घटकों में निरन्तर परिवर्तन के फलस्वरूप व्यवसाय के उद्देश्य, योजनाएँ एवं नीतियाँ भी बदलती रहती हैं।
2. **परस्पर निर्भर घटक**: व्यावसायिक गतिशील वातावरण के गतिशील घटक एक दूसरे पर निर्भर होते हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित भी करते है । आर्थिक घटक- सामाजिक घटकों से, सामाजिक घटक - राजनैतिक घटकों से एक-दूसरे को प्रभावित करते है एवं उनसे प्रभावित होते हैं ।
3. **बदलते हुए परिदृश्य पर निरन्तर निगाहें रखना**: व्यवसाय को हमेशा सजग रहना चाहिए ताकि वह यह सुनिश्चित करें कि वातावरण का बदलता हुआ परिदृश्य बिना देखे गुजर जाय । इससे न केवल उसे अपनी व्यावसायिक व्यूह-रचनाएँ तैयार करने में सहायता मिलेगी बल्कि वातावरण के परिवर्तन-अध्ययन से वातावरण पूर्वानुमान करने व समझने में पर्याप्त सफलता प्राप्त होगी ।
4. **सूचनाओं का आदान-प्रदान**: प्रत्येक संस्था अपने बाह्य वातावरण से सूचनाओं का आदान-प्रदान करती है । प्रत्येक संस्था अपने बाह्य वातावरण का अध्ययन करती है और अपने आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि वातावरणों के सम्बन्धों में सूचनाओं का निर्माण करती है । इन सूचनाओं के आधार पर विभिन्न प्रकार के अनुमान लगाए

जा सकते है जो कि विभिन्न प्रकार की समस्या का समाधान करने में सहायता प्रदान करती है ।

5. **चुनौतियों से मुकाबला**: एक वातावरण की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करते समय अनेक चुनौतियों से मुकाबला करना पडता है । इनसे मुकाबले में जो संस्था असफल हो जाती है उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है ।
6. **कार्य-योजनाओं का निर्माण**: एक संस्था अपना नियोजन करते समय वातावरण का ध्यान रखती है । इस नियोजन के क्रियान्वयन के लिए वह कार्य-योजनाओं का निर्माण करती है ताकि उद्देश्यों की प्राप्ति सही ढंग से की जा सके । इन कार्य-योजनाओं का निर्माण करते समय भी वातावरण सम्बन्धी सूचनाओं का ध्यान रखा जाता है ।
7. **संसाधनों का अनुकूलतम उपयोगार्थ**: संसाधन दो प्रकार के हो सकते हैं- प्रथम - प्राकृतिक, द्वितीय - मानवीय संसाधन । देश के प्राकृतिक संसाधन व्यवसाय की प्रकृति, उसका स्थानीयकरण एवं प्रगति निर्धारित करते हैं । मानवीय संसाधनों द्वारा व्यवसाय में अपनाये जाने वाली तकनीक, ज्ञान, प्रबन्धकीय कुशलता बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित होती हैं । किसी भी देश का प्रबन्धकीय वातावरण उसर देश के व्यवसाय को नई ऊँचाइयों पर ले जाता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाह्य वातावरण व्यवसाय को प्रभावित करता है एवं स्वयं भी व्यवसाय से प्रभावित होता है ।

3.6 प्रकार

व्यावसायिक वातावरण अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल है, साथ ही यह निरन्तर परिवर्तनशील भी है। व्यवसाय के वातावरण के अन्तर्गत सूक्ष्म अथवा आन्तरिक वातावरण (Micro or Internal Environment) तथा वृहद् अथवा बाह्य वातावरण (Micro or External Environment**)** को सम्मिलित किया जाता है ।

1. **आन्तरिक वातावरण**: यह वह वातावरण माना जाता है जिसकी कि व्यवसाय के आन्तरिक वातावरण पर नियन्त्रण रखना आसान होता है । इस प्रकार यह नियन्त्रण योग्य है । आन्तरिक वातावरण में वे कारक सम्मिलित हैं जो कम्पनी के आस-पास दिखाई देते हैं । इनका कम्पनी के कार्य पर प्रभाव पड़ता है । आन्तरिक वातावरण पर्याप्त सीमा तक नियन्त्रणीय होता है । आन्तरिक वातावरण के प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं
   (i) **आपूर्तिकर्ता** : व्यवसाय के सुचारू संचालन के लिए विश्वसनीय आपूर्तिकर्ताओं का होना आवश्यक है, अन्यथा व्यवसायी को अधिक मात्रा में कच्चे माल का स्टॉक करना पड़ता है जिससे लागत बढ़ जाती है । आपूर्ति की स्थिति में व्यवसायी को चाहिए कि वह किसी एक आपूर्तिकर्ता पर निर्भर न रहकर एक से अधिक आपूर्तिकर्ता नियुक्त करें ।
   (ii) **ग्राहक** : व्यवसाय का मुख्य कार्य ग्राहक सृजन करना और उन्हें बनाये रखना है । व्यवसाय का अस्तित्व ग्राहकों पर ही निर्भर करता है । ग्राहकों को अनेक वर्गो में

बांटा जा सकता है जैसे विशेष, गृहणियाँ, औद्योगिक संस्थाएँ आदि । ग्राहक वर्ग का चयन अत्यन्त सावधानी से किया जाना चाहिए और ऐसा करते समय प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति लाभप्रदता, विकास की सम्भावना आदि कारकों पर विचार किया जाना चाहिए ।

(iii) **प्रतिस्पर्द्धी**: प्रतिस्पर्धियों से आशय समान प्रकार की वस्तुओं का विपणन करने वाली संस्थाओं से ही नहीं है, वरन् ऐसी प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं से भी है जो उपभोक्ता की सीमित आय के लिए प्रतिस्पर्द्धी करती है । प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए आवश्यक है कि व्यवसायी अपनी वस्तु के लिए एक प्राथमिक तथा विशेष माँग करने की क्षमता सीमित है ।

(iv) **विपणन मध्यस्थ** : विपणन मध्यस्थ से आशय उन डीलरों या व्यापारिक प्रतिष्ठानों से है जो कम्पनी की वस्तुओं के विक्रय, वितरण एवं प्रवर्तन में सहायता करते हैं । ये मध्यस्थ कम्पनी को ग्राहक ढूँढने में तथा उसके साथ विक्रय करने में मदद पहुँचाते है ।

2. **बाह्य वातावरण** : संस्था का बाह्य वातावरण ही उसका वास्तविक वातावरण होता है । यही वातावरण व्यवसाय के संचालन एवं प्रगति को सर्वाधिक रूप से प्रभावित करता है। यह बाह्य वातावरण कम्पनी के नियन्त्रण में नहीं होता । बाह्य वातावरण के घटको में निम्नलिखित सम्मिलित हैं :-

(I) **राजनैतिक वातावरण:** सरकार का व्यवसाय के प्रति दृष्टिकोण, राजनेताओं के निर्णय आदि व्यावसायिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं । राजनैतिक वातावरण के निम्नलिखित घटक होते हैं -

(i) लोक कल्याण एवं सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में नीति ।

(ii) सरकार की राजनैतिक सोच व पद्धति यथा साम्यवाद, समाजवाद, तानाशाही आदि।

(iii) राजनैतिक दलों व दबाव-समूहों की भूमिका ।

(iv) राष्ट्र सुरक्षा एवं सैन्य नीति ।

राजनैतिक वातावरण के अन्तर्गत देश का संविधान, निर्यात एवं आयात नीति, वित्तीय संस्थाएँ, समय-समय पर घोषित सरकारी नीतियाँ एवं कार्यक्रम आदि सम्मिलित होते हैं।

(II) **सामाजिक वातावरण** : व्यवसाय के सामाजिक वातावरण का निर्माण समाज के मूल्य, विश्वास, परम्पराओं, रीति रिवाज आदि घटकों से मिलकर बना होता है । व्यवसाय को समाज के साथ चलना होता है, क्योंकि वह भी इसी का एक महत्वपूर्ण अंग होता है । व्यवसाय का उद्देश्य भी समाज को वस्तुएँ एवं सेवाएँ उपलब्ध कराकर आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है, परन्तु आज व्यवसाय का उत्तरदायित्व हमारे समाज को अच्छा जीवन स्तर प्रदान करता है । व्यवसाय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह आर्थिक निष्पादन एवं परिणामों के परम्परागत उत्तरदायित्वों के साथ-साथ समाज के स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान दे और भविष्य में उत्पन्न होने वाली समस्याओं की रोकथाम करें ।

गत कुछ दशकों में सामाजिक मान्यताओं में बदलाव आया है और नयी मान्यताएँ स्थापित हुई हैं । इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित है-

(i) अब समाज में यह विश्वास बढ़ा है कि जो व्यक्ति कार्य करने की इच्छा व क्षमता रखते हैं उनके लिए समाज में अवसर सदैव विद्यमान रहते हैं ।

(ii) जीवन के सभी क्षेत्रों में और विशेष रूप से व्यावहारिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा भावना का विकास हुआ है ।

(iii) व्यक्ति ज्ञान व शिक्षा के प्रति प्रेम बढ़ा है ।

(iv) जाति, धर्म और सम्प्रदाय के बन्धन ढीले पड़े है और व्यक्ति के प्रति आदर और भावना का विकास हुआ है ।

(v) विज्ञान एवं तकनीकी में विश्वास बढ़ा है ।

(vi) परिवर्तन, प्रयोग एवं नवाचार का महत्त्व बढ़ा है जिससे कार्य की नयी विधियों का विकास हो सके ।

(vii) व्यवसाय के प्रति भी विश्वास बढ़ा है ।

(III) **आर्थिक वातावरण** : व्यवसाय की सफलता एवं कार्य प्रणाली पर आर्थिक प्रभाव डालने वाले समस्त घटकों को आर्थिक वातावरण के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है । ये घटक निम्नानुसार हैं :-

(i) **आर्थिक दशाएँ** : आर्थिक दशाओं में अर्थव्यवस्था की प्रकृति, अर्थव्यवस्था के विकास की अवस्था, आर्थिक संसाधन, आय का स्तर, आय एवं सम्पत्ति का वितरण आदि सम्मिलित हैं । ये आर्थिक दशाएँ व्यावसायिक रणनीतियों या व्यूह रचनाओं (Strategies) के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं । व्यावसायिक संभावनाएं अच्छी रहती हैं और अतिरिक्त विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है । अनेक अर्थशास्त्री व व्यवसायी तो इस विचार के हैं कि विकसित देश विनियोगों की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि ऐसे देशों की अर्थव्यवस्था उच्चतम स्तर तक पहुंच चुकी है ।

(ii) **आर्थिक नीतियों** : सरकार की आर्थिक नीतियों का व्यवसाय पर प्रभाव अधिक एवं प्रत्यक्ष होता है । एक विशिष्ट प्रकार की नीति व्यवसाय विशेष के लिए अनुकूल सिद्ध हो सकती है । उदाहरण के लिए आयातों पर प्रतिबन्ध की नीति या स्वदेशी उद्योगों के संरक्षण की नीति देश के उद्योगों के विकास में सहायक होती है । इसके विपरीत आयातों को उदार बनाने की नीति से देश के उद्योगों के सामने कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं । इसी प्रकार मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों द्वारा दिये जाने वाले प्रोत्साहन एवं प्रतिबन्ध भी व्यवसाय पर प्रभाव डालते हैं । सरकार की प्राथमिकताओं में आने वाले उद्योगों को भी विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन मिलते हैं ।

(iii) **आर्थिक प्रणाली** : निजी क्षेत्र के उद्योगों का विकास पर्याप्त सीमा तक आर्थिक पद्धति या व्यवस्था पर निर्भर करता है । आर्थिक पद्धतियों में स्वतंत्र बाजार या पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, केन्द्रीय नियोजित अथवा साम्यवादी अर्थव्यस्था तथा मिश्रित

अर्थव्यवस्था को सम्मिलित किया जाता है । स्वतंत्र बाजार में व्यक्तिगत व्यवसाय की स्वतंत्रता अधिक होती है, परन्तु व्यवहार में ऐसे बाजार या अर्थव्यवस्था में भी सरकारी हस्तक्षेप देखने को मिलता है । साम्यवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के सभी साधनों पर सरकार का स्वामित्व होता है, उत्पादन लक्ष्य सरकार द्वारा निर्धारित होते हैं तथा अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से केन्द्रीय नियोजित होती है । उपभोक्ता भी प्रभुता सम्पन्न नहीं होता और उपभोग भी राज्य की नीतियों से प्रभावित होता है । इन दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के मध्य में मिश्रित अर्थव्यवस्था होती है जिसमें निजी व सार्वजनिक क्षेत्र का सह-अस्तित्व होता है ।

(iv) आर्थिक स्थिति

(v) **अन्य घटक** : निम्नलिखित घटकों को सम्मिलित किया जा सकता है-

- पूँजी निर्माण व विनियोग की दर ।
- उपभोक्ता की आय, इच्छा, जीवन-स्तर आदि ।
- श्रम एव श्रमसंघ ।
- प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं की नीति, मूल्य व विश्वसनीयता ।

(IV) **तकनीकी वातावरण** : आधुनिक युग में तकनीकी वातावरण में सर्वाधिक परिवर्तन हो रहा है । इस तकनीकी प्रगति के कारण व्यवसाय द्वारा अपने उत्पादों में दिन-प्रतिदिन नए-नए सुधार कर न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव है । तकनीकी विकास के कारण व्यावसायिक क्षेत्र में निम्नलिखित परिवर्तन प्रतिलक्षित हो रहे हैं -

- समय व दूरी पर नियन्त्रण बढ़ने से सम्पूर्ण विश्व में वस्तुओं का वितरण सम्भव हो पाया है ।
- कच्चे माल के नये स्वरूप तथा वस्तुओं के गुणों में परिवर्तन सम्भव हुए हैं।
- विभिन्न प्रकार की बीमारियों का ज्ञान और उनके उपचार एवं रोकथाम में सहायता मिली है ।

(V) वैधानिक वातावरण : वैधानिक वातावरण से आशय व्यावसायिक क्रियाओं के सुचारू संचालन के लिए सरकार द्वारा बनाये जाने वाले नियमों एवं अधिनियमों से है जिनका पालन करना व्यवसायी वर्ग के लिए आवश्यक होता है । हमारे देश में कम्पनी अधिनियम, एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम, कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम आदि अनेक आर्थिक, औद्योगिक एवं श्रम सम्बन्धी अधिनियम हैं, जो व्यावसायिक नीतियों एवं निर्णयों को प्रभावित करते हैं । व्यवसाय के वैधानिक वातावरण में निम्नलिखित घटकों को सम्मिलित किया जाता है :

- औद्योगिक सन्नियम यथा कारखाना अधिनियम, औद्योगिक विवाद अधिनियम, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम आदि ।
- श्रम सन्नियम यथा कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम, भविष्य निधि अधिनियम आदि ।

- प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम यथा पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, जल प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम, वायु प्रदूषण अधिनियम आदि ।
- कर नीति एवं व्यवस्था, केन्द्रीय राज्य सरकार द्वारा लगाए गए प्रत्यक्ष व परोक्ष कर ।

(VI) सांस्कृतिक वातावरण : राष्ट्र की संस्कृति उसकी कला, साहित्य एवं जीवन-ढंग से परिलक्षित होती है । राष्ट्र का सांस्कृतिक विकास ही व्यवसाय के प्रति जनमत एवं जन प्रवृत्तियों (Public attitude) को प्रभावित करता है । बाजार एवं माँग को प्रभावित करके ही राष्ट्र की संस्कृति व्यवसायियों के निर्णयों को प्रभावित करती है । सांस्कृतिक भिन्नता के कारण एक ही प्रकार की वस्तु के उपयोग में भी भिन्नता देखने को मिलती है । यह देखने में आता है कि विभिन्न संस्कृति के लोग जब एक ही वस्तु का उपयोग करते है तो उनके उपभोग के ढंग, प्रयोग की शर्त एवं उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं, परिणामस्वरूप व्यवसायियों द्वारा भी उस वस्तु की विशेषताएँ प्रस्तुत करने के ढंग एवं विक्रय संवर्धन के तरीके भी भिन्न-भिन्न बाजारों के लिए भिन्न-भिन्न अपनाये जाते है । समाज व संस्कृति व्यवसाय के मूल आधार हैं । कोई भी व्यवसाय देश की सांस्कृतिक विरासत एवं मूल्यों की अनदेखी नहीं कर सकता । यदि उसे अस्तित्व को बनाये रखना है । संस्कृति लोगों के जीने का सम्पूर्ण तरीका मानी जाती है । यह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार है जिसमें मुख्य रूप से ज्ञान, विश्वास, परम्पराएँ, आदर्श एवं पसन्द प्राथमिकताएँ सम्मिलित है । व्यवसायी को निरन्तर मानवीय आशाओं, भय, पसन्द, प्राथमिकताओं व विचारों के संसार में रहकर कार्य करना होता है । वह उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता, उसे मानव समाज, इसकी संस्कृति, इसके मूल्यों तथा सामाजिक प्रारूपों का सम्मान करना ही होता है । संस्कृति के ये मौलिक तत्व व्यावसायिक नियोजन, व्यूह रचनाएँ तैयार करने का आधार बनते हैं । इनकी अवहेलना करना व्यवसाय के लिए बहुत मंहगा व भारी पड़ता है । सही एवं उपयुक्त व्यावसायिक व्यूह रचनाएँ वे ही होती हैं जो उस देश के सांस्कृतिक वातावरण के अनुरूप तथा अनुकूल हों ।

(VII) **भौगोलिक वातावरण** (Geographical Environment) : देश में उपलब्ध भौतिक एवं प्राकृतिक संसाधन, नदियाँ, पहाड, पशु-पक्षी आदि भौगोलिक वातावरण के घटक हैं । इन सबका संतुलन अच्छे भौगोलिक वातावरण का निर्माण करता है जो कि औद्योगिक एवं व्यावसायिक विकास में सहायक होता है ।

(VIII) **सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण** (Socio-cultural Environment) : व्यवसाय एक सामाजिक संस्था है । समाज एवं संस्कृति व्यवसाय का आधार है । जिस प्रकार व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व है उसी प्रकार समाज भी व्यवसाय के प्रतिदायी होता है । व्यवसाय के सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में निम्नलिखित घटकों को सम्मिलित किया जाता है -

i. सामाजिक मूल्य

ii. जन संगठन
iii. परम्परा एवं प्रथाएँ
iv. जनसंख्या विस्तार
v. परिवार संरचना
vi. कार्य के प्रति सोच, संतोष तथा सम्मान की भावना आदि ।

(i) **ऐतिहासिक वातावरण** (Historical Environment) : देश का ऐतिहासिक वातावरण भी व्यवसाय को प्रभावित करता है । ऐतिहासिक घटनाएँ, राष्ट्रीय इतिहास एवं अन्य ऐतिहासिक तथ्य व्यवसाय के सम्बन्ध में बनायी जाने वाली नीतियों व लिये जाने वाले निर्णयों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, अत: किसी देश के युद्ध, आन्दोलन, राष्ट्रीय स्वतंत्रता का संघर्ष, आदि का इतिहास, व्यावसायिक निर्णयों को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं ।

(ii) **शैक्षिणिक वातावरण** (Educational Environment) : शैक्षणिक वातावरण व्यवसाय के विकास एवं प्रगति में महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है । समाज में प्रचलित प्रबन्धकीय पाठ्यक्रम, अनुसंधान का स्तर, व्यावसायिक शिक्षा का स्तर, शिक्षा व रोजगार का सम्बन्ध आदि घटक शैक्षणिक वातावरण का निर्माण करते हैं ।

(IX) **अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण** (International Environment) : संचार, परिवहन, देशों के पारस्परिक सम्बन्धों की सुदृढ़ता एवं अनेक क्षेत्रों में आये तीव्र परिवर्तनों से सभी तरह की दूरियाँ कम हुई हैं । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की संस्थाएँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम अपने प्रभावों का संचरण तेजी से करते हैं । अत: अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भी व्यवसाय को प्रभावित करता है । अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में निम्नलिखित घटकों को सम्मिलित किया जाता है -

i. विभिन्न राष्ट्रों के आपसी संबंध ।
ii. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तकनीक का हस्तान्तरण व उसके उपयोग की संभावनाएँ।
iii. विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक नीतियाँ ।
iv. विदेशी पूँजी की उपलब्धता ।
v. आयात-निर्यात की स्थिति ।
vi. अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थिति ।

अर्न्तराष्ट्रीय वातावरण में भी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक भौतिक तथा पर्यावरण जैसे पहलू समाहित हैं । अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के

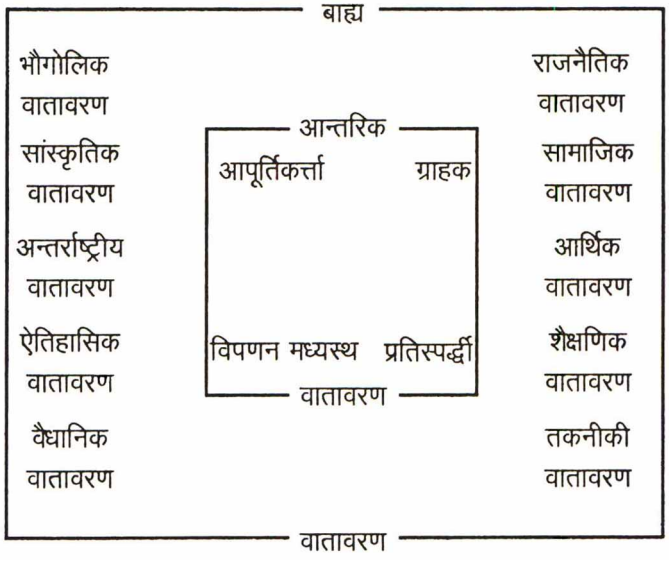

व्यावसायिक वातावरण

प्रभाव से ही विभिन्न देशों के बीच विचारों का आदान-प्रदान, सहयोग एवं अनेक प्रकार की सहायताएँ संभव हो सकी हैं । अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ ही अन्य देशों को विभिन्न आने वाले खतरों की चेतावनी देती हैं । चाहे वे खतरे जनसंख्या विस्फोट, देश की सुरक्षा, परमाणु शक्ति आदि किसी भी पक्ष से सम्बन्धित क्यों न हो ।

3.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध (व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाने के सुझाव):

अब यह स्वीकार किया जा चुका है कि आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए औद्योगिक विकास जरूरी है । अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि तीव्र औद्योगिक विकास को संभव कैसे बनाया जाये? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि देश में व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाकर ही औद्योगिक विकास को अपेक्षित गति प्रदान की जा सकती है । व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाने हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते है :

i. **आधारभूत सुविधाओं का विकास** : देश में आधारभूत सुविधाओं का विकास किये बिना समुचित व्यावसायिक वातावरण का निर्माण संभव नहीं है, अत: सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि देश में पानी व बिजली की उपलब्धता को बढ़ाया जाये । संचार माध्यमों का जाल विकसित किया जाये । विज्ञापन, अनुसंधान एजेन्सियों व परामर्शदायी सेवाओं में वृद्धि की जाये जिसमें उद्योगों का सभी आवश्यक सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध करायी जा सके । यह प्रसन्नता की बात है कि हाल के कुछ वर्षों में हमारे देश में सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है जिससे परिवहन, संचार, बैंक व बीमा सुविधाओं को तेजी से विकास हुआ है और देश में औद्योगिक विकास हेतु उपयुक्त व्यावसायिक वातावरण बन रहा है ।

ii. **पूँजी की उपलब्धता** : व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाने हेतु देश में उचित शर्तों पर पूँजी या ऋण की सुविधा उपलब्ध होना भी आवश्यक है । देश में छोटी-छोटी बचतों

को प्रोत्साहन देकर और उन्हें विनियोग हेतु प्रेरित कर पूँजी निर्माण को संभव बनाया जाता है । बैंक, विभिन्न वित्तीय संस्थाएँ एवं स्टॉक एक्सचेंज पूँजी निर्माण में सहायक है ।

iii. **उदारीकरण** : नियमों व नियंत्रणों की कठोरता व्यावसायिक विकास में बाधक है । उदारीकरण से उद्योगों का स्वतंत्र विकास संभव हो पाता है और देश में प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा मिलता है और उपयुक्त व्यावसायिक वातावरण का निर्माण होता है, अत: व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाने हेतु आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया को अपनाना आवश्यक है । लगभग एक दशक से हमारे देश में इस दिशा में सार्थक प्रयास हुए हैं, परिणाम भी उत्साहवर्द्धक ही कहे जा सकते हैं, परन्तु बहुराष्ट्रीय निगमों का आगमन देश की राजनैतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता पर प्रश्न चिन्ह अवश्य लगता है ।

iv. **करों में रियायत** : सरकार की कर नीति का उद्योगों के विकास और व्यावसायिक वातावरण के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान होता है । कर प्रणाली की जटिलता और करों की अधिकता उद्योगों के विकास को हतोत्साहित करती है । दूसरी ओर सख्त कर प्रणाली एवं करों में कमी औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करती है । यह प्रसन्नता की बात है कि देश की सरकार ने इसके महत्व को समझते हुए कर ढाँचे को सरल बनाने की कोशिश की है और इसके अच्छे परिणाम भी देखने को मिले ।

v. **व्यावसायिक व तकनीकी शिक्षा का विकास** : देश में व्यावसायिक वातावरण सुदृढ़ एवं को बनाने हेतु आवश्यक है कि तकनीकी व्यावसायिक शिक्षा का अधिक से अधिक विकास किया जाये साथ ही आवश्यक होने पर विदेशों से भी तकनीक का आयात किया जाये ।

vi. **वित्तीय संस्थाओं की स्थापना** : देश में वित्तीय संस्थाओं का जाल स्थापित करके ही व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाया जा सकता है । ये वित्तीय सस्थाएँ बचतों को एकत्र करने एवं उद्योग धन्धों को आवश्यक वित्तीय सुविधाएँ उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकती है ।

vii. **कानून व व्यवस्था में सुधार** : औद्योगिक विकास को गति प्रदान करने हेतु देश के कानून व व्यवस्था की स्थिति का अच्छा होना भी आवश्यक है । शांति की स्थिति में उद्योगपति निर्भय होकर कार्य करते हैं और नवीन उद्योग की स्थापना हेतु समुचित वातावरण तैयार होता है ।

viii. **निर्यातों को प्रोत्साहन** : सरकार निर्यातों को प्रोत्साहन देकर ही व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बना सकती है । निर्यातों में वृद्धि से उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार में वृद्धि होती है । साथ ही विदेशी मुद्रा की भी प्राप्ति होती है, जिसे नवीन तकनीक के आयात व दुर्लभ कच्चे माल के आयात हेतु उपयोग किया जा सकता है ।

ix. साहस प्रशिक्षण कार्यक्रम भी व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ बनाने में सहायक हैं ।

x. पूँजी निर्माण हेतु देश में सुदृढ़ पूँजी बाजार की स्थापना भी आवश्यक है ।

xi. औद्योगिक शोध एवं विकास केन्द्रों की स्थापना नवीन उत्पादों के विकास एवं उत्पादों के सुधार में सहायक हो सकती है ।

xii. आवश्यक होने पर सरकार कच्चे माल को उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था भी करे।

xiii. ऐसे क्षेत्रों में जहाँ निजी उद्योगपति जाने से कतराते है वहाँ सरकार को स्वयं आगे आना चाहिये और उद्योगों की स्थापना करके देश में उपयुक्त व्यावसायिक वातावरण तैयार करने में पहल करनी चाहिये ।

3.8 विशेषताएँ

व्यवसाय को वातावरण स्वयं भी व्यवसाय से प्रभावित होता है । व्यवसाय समाज के वातावरण में रहकर अपनी क्रियाओं का संचालन करता है । समाज के मूल्य, विश्वास एवं धारणाएँ, नैतिक स्तर एवं मान्यताएँ तथा सम्पूर्ण परिवेश व्यवसाय और उसके नवीन क्षेत्रों को जन्म दे रहा है । व्यावसायिक वातावरण की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है -

i. **व्यावसायिक वातावरण परिवर्तनशील है** : व्यावसायिक वातावरण के घटकों अर्थात् राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं वैधानिक में होने वाले परिवर्तन व्यावायिक वातावरण को भी परिवर्तित करते रहते हैं । यही कारण है कि व्यावसायिक वातावरण निरन्तर बदलता रहता है । इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप व्यवसाय में मंदी-तेजी, समृद्धि एवं विषाद की स्थिति उत्पन्न होती है । व्यावसायिक वातावरण न केवल देश की आंतरिक परिस्थितियों वरन् अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से भी बदलता रहता है ।

ii. **व्यावसायिक वातावरण चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है**: यह व्यवसाय के सम्मुख विभिन्न प्रकार की समस्याएँ अथवा चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है, जिनका समुचित रूप से सामना कर व्यवसाय स्वयं को प्रतिस्पर्द्धा मे बनाये रख सकता है । व्यावसायिक क्षेत्र में होने वाले नित्य नवीन परिवर्तन विभिन्न प्रकार की चुनौतियाँ ही हैं चाहे ऐसे परिवर्तन ग्राहकों की आवश्यकताओं, उपभोग एवं आय में हो रहे हों या प्रतिस्पर्धियों द्वारा अपनायी जाने वाली नवीन व्यूह रचनाओं के रूप में हो रहे हों, ये सभी परिवर्तन व्यवसाय के सम्मुख नवीन चुनौतियाँ ही हैं, जिनका सामना करना आवश्यक होता है।

iii. **व्यवसाय से सम्बन्धित**: व्यावसायिक वातावरण किसी व्यवसाय, कारोबार या काम-धन्धे से सम्बन्धित होता है । व्यवसाय किसी भी प्रकार का हो सकता है जैसे उद्योग, व्यापार, संचार, कृषि तथा धन कमाने के उद्देश्य से की जाने वाली कोई भी वैधानिक क्रिया ।

iv. **पूँजी की उपलब्धता**: पूँजी व्यवसाय का जीवन रक्त है । इसके बिना व्यवसाय चल नहीं सकता । पर्याप्त मात्रा में पूंजी उपलब्ध होने पर देश में उद्योग धंधे पनपते हैं और व्यावसायिक वातावरण विस्तृत एवं अनुकूल बनता है ।

v. **सरकार की नीति**: सरकार की नीतियों, नियम, कार्यक्रम आदि का भी देश के व्यावसायिक वातावरण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । सरकारी नीतियों द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त

कर एक विशेष प्रकार के उद्योगों का तीव्र विकास हो सकता है । इसी प्रकार विपरीत या प्रतिकूल सरकारी नीतियाँ किसी उद्योग के विकास में बाधक भी हो सिद्ध सकती हैं।

vi. **अन्य विशेषताएँ** :

a. समाज में वित्तीय संसाधनों का केन्द्रीकरण व्यावसायिक वातावरण को संकुचित करता है और धन का विकेन्द्रीकरण व्यावसायिक वातावरण को प्रोत्साहित करता है और नवीन उद्योगों के सृजन में सहायक होता है ।

b. देश में तैयार की जाने वाली योजनाएँ एवं उनकी प्राथमिकताओं के अनुरूप ही व्यावसायिक वातावरण बनता है । ये प्राथमिकताएँ देश के साधनों और समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार की जाती है ।

3.9 कार्य

प्रत्येक व्यावसायिक संगठन अपने वातावरण की एक प्रणाली है । प्रणाली से तात्पर्य इकाइयों का समूह है जिनमें आपसी सम्बन्ध होता है । प्रत्येक प्रणाली की आंतरिक उप प्रणालियाँ तथा बाह्य प्रणालियाँ आपस में सम्बन्धित होती है । आपस में सम्बन्धित होने के कारण वे एक-दूसरी प्रणाली या उप-प्रणाली को प्रभावित करती है । प्रत्येक प्रणाली या उप-प्रणाली की निश्चित कार्य-विधि होती है । प्रत्येक प्रणाली अपने वातावरण से साधन प्राप्त करती है और उन साधनों का रूपान्तरण करके वातावरण को उत्पादन प्रदान करती है । इसी के साथ ही प्रत्येक प्रणाली में पुन: निवेश की व्यवस्था भी होती है जिससे उत्पादन के सभी कार्यो का सही मूल्यांकन किया जा सके तथा उसमें सुधार लाया जा सके ।

3.10 उदाहरण

उदाहरण के तौर पर अगर हम देखें तो व्यवसाय और वातावरण आपस में मिलकर एक प्रणाली के रूप में कार्य करते हैं । उसी प्रकार मनुष्य का शरीर एक सम्पूर्ण प्रणाली है । सम्पूर्ण शरीर में अनेक उप प्रणालियाँ होती हैं जैसे - पाचन प्रणाली, रक्त संचरण इत्यादि । यह सभी उप-प्रणालियाँ अपना अपना कार्य करती हैं, किन्तु यह सभी उप-प्रणालियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं और संपूर्ण शरीर की कार्य-प्रणाली को प्रभावित करती हैं जब शरीर के प्रत्येक उप प्रणाली ठीक से कार्य करती है तथा सही रूप से बाह्य प्रणाली से समन्वय स्थापित कर लेती है तभी सम्पूर्ण शरीर सही एवं स्वस्थ तरीके से कार्य करेगा । यदि किसी एक उप प्रणाली के कार्य करने का तरीका ठीक नहीं है तो सम्पूर्ण शरीर स्वस्थ नहीं रहेगा । अत: हम यह कह सकते हैं कि सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि बाह्य एवं आंतरिक सभी उप-प्रणालियों में पूर्ण समन्वय होना चाहिए ।

3.11 सारांश

वातावरण स्थिर न होकर गतिशील एवं परिवर्तनशील है । इसी परिवर्तनशीलता को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि वातावरण में एक चीज ही स्थायी है और वह है परिवर्तन । आज न केवल भारत वरन् सम्पूर्ण विश्व में पर्यावरण में हो रहे परिवर्तनों और उससे उत्पन्न

होने वाले दुष्प्रभावों की चर्चा हो रही है । वातावरण में हो रहे इन परिवर्तनों ने सभी को प्रभावित किया है । इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वातावरण किसी संस्था के बाहर की वे शक्तियाँ, दशाएँ तथा घटक हैं जो उस संस्था की कार्यकुशलता एवं सफलता को प्रभावित करते हैं तथा जिन पर संस्था का कोई नियंत्रण नहीं होता है ।

3.12 स्वपरख प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. बाह्य वातावरण में सम्मिलित नहीं है -

   अ.आर्थिक वातावरण　　ब.सामाजिक वातावरण

   स.विपणन मध्यस्थ　　द.राजनैतिक वातावरण

2. व्यावसायिक वातावरण को सुदृढ़ बनाने हेतु आवश्यक है :

   अ. आधारभूत सुविधाओं का विकास

   ब. राजनैतिक वातावरण का विकास

   स. सरकार द्वारा ऋणों की माफी

   द. कानूनों व नियंत्रणों में वृद्धि

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यावसायिक वातावरण के कोई चार उद्देश्य बताइये ।
2. सामाजिक वातावरण व्यवस्था को कैसे प्रभावित करता है?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. व्यावसायिक वातावरण से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताएँ क्या हैं?
2. व्यावसायिक वातावरण की प्रकृति को समझाते हुए इसे सुदृढ़ बनाने हेतु आवश्यक सुझाव दीजिये।
3. व्यावसायिक संस्था के बाह्य वातावरण से क्या आशय है?
4. व्यावसायिक वातावरण से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये । व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन क्यों आवश्यक है?

3.13 उपयोगी पुस्तकें

1 Business Organisation : M.J. Mathew

2 **व्यावसायिक वातावरण** : जी उपाध्याय, आर.एल. शर्मा, पी. दयाल

3 **व्यावसायिक संगठन** : डॉ.आर.एल.नौ लखा

इकाई - 4 : व्यावसायिक वित्त के स्रोत (Sources of Business Finance)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 इतिहास एवं विकास

4.3 अर्थ एवं परिभाषा

4.4 आवश्यकता

4.5 क्षेत्र एवं प्रकृति

4.6 स्रोत

4.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध (विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ)

4.8 विशेषताएँ

4.9 आधार

4.10 उदाहरण

4.11 सारांश

4.12 अभ्यास

4.13 उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

वित्त प्रत्येक व्यावसायिक संस्था के लिए आवश्यक है । वित्त का व्यावसायिक संस्था के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है । व्यवसाय छोटा हो या बड़ा, श्रम प्रधान हो या पूँजी प्रधान उसे समुचित वित्त व्यवस्था के अभाव में सफलता पूर्वक नहीं चलाया जा सकता । अत: आधुनिक युग में व्यावसायिक सफलता के लिये समुचित एवं पर्याप्त वित्त व्यवस्था होना प्राथमिक आवश्यकता है। इस प्रकार व्यावसायिक वित्त के निम्नलिखित उद्देश्य है :

1. व्यवसाय संगठन की स्थापना करने के लिए वित्त की भूमिका महत्वपूर्ण है ।
2. वित्त से संस्था में विभिन्न प्रकार के विकास एवं विस्तार किये जा सकते हैं ।
3. व्यवसाय के लिये भूमि, भवन, फर्नीचर, मशीन यंत्र आदि दीर्घकालीन काम में आने वाली सम्पत्तियों की प्राप्ति हेतु भी वित्त की सहायता से ही पूर्ण हो सकती है ।
4. व्यवसाय प्रारम्भ करने के लिए स्थायी एवं कार्यशील दोनों ही प्रकार की पूँजी की आवश्यकता पड़ती है ।

4.1 प्रस्तावना

एक व्यावसायिक संस्था, चाहे वह निजी हो अथवा सार्वजनिक, उसे स्थायी सम्पत्तियों, तथा संयंत्र एवं मशीनरी, भूमि, भवन, फर्नीचर, पेटेन्ट आदि की खरीद द्वारा उत्पादन सुविधाओं का

सृजन करने के लिए स्थायी पूँजी की आवश्यकता होती है । वित्त का व्यावसायिक संस्था के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है । व्यावसायिक संस्था की स्थापना से लेकर उसका अन्त होने के बाद तक वित्त का महत्व है । वित्त सम्पूर्ण व्यावसायिक क्रिया को एक सूत्र में बाँधने वाला चमकीला धागा है । यह विपणन, उत्पादन, क्रय तथा कार्मिक प्रबन्ध सम्बन्धी क्रियाओं को प्रभावित एवं परिसीमित करता है । वित्त को वास्तव में व्यावसायिक तथा औद्योगिक सफलता की कुंजी भी कहा जा सकता है । यहाँ तक कि वित्त व्यवस्था के द्वारा ही पूँजी को उत्पादक बनाया जा सकता है । वित्त प्रक्रिया के द्वारा संचित कोषों को उत्पादन कार्यों में परिवर्तित किया जा सकता है ।

4.2 इतिहास एवं विकास

वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाने के पश्चात् वित्तीय प्रबन्ध का कार्य सही तरीके से कम से कम लागत पर संस्था के लिए कोषों की व्यवस्था करना है । वित्तीय प्रबन्धक कार्य संस्था द्वारा आवश्यक कोषों को अधिकतम अनुकूल शर्तों पर उपलब्ध कराना है । वित्त का व्यावसायिक संस्था के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है । व्यावसायिक संस्था की स्थापना से लेकर उसका अन्त होने तक वित्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है । व्यावसायिक संस्था की प्रत्येक क्रिया पर जैसे प्रवर्तन, यन्त्र, सामग्री, श्रम, वितरण, व्यवसाय के विस्तार एवं विकास पर वित्त की ही आवश्यक्ता होती है । इस प्रकार वित्त व्यवस्था पर ही सम्पूर्ण व्यवसाय की सफलता निर्भर करती है ।

4.3 अर्थ एवं परिभाषा

वित्त उत्पादन का एक महत्वपूर्ण साधन है । व्यावसायिक वित्त से आशय व्यावसायिक इकाईयों के लिये आवश्यक पूँजी जुटाने एवं उसके विवेकपूर्ण उपयोग से है । इस प्रकार व्यावसायिक वित्त एक व्यापक शब्द है, जिसमें निम्न कार्यों को सम्मिलित किया जाता है-

i) आवश्यक पूँजी का अनुमान लगाना ।
ii) पूँजी को उपलब्ध करना ।
iii) पूँजी का विवेकपूर्ण उपयोग करना ।

एफ.डब्ल्यू. पैश के अनुसार "आधुनिक मुद्रा प्रधान अर्थव्यवस्था में वित्त का अभिप्राय मुद्रा को उस समय उपलब्ध कराने से है, जब उसकी आवश्यकता हो ।"

प्रो. कुच्छल के अनुसार "वित्त एक प्रक्रिया है, जो संचित कोषों को उत्पादक उपयोगों में परिवर्तित करती है ।"

प्रो. मार्शल के अनुसार "पूँजी ही वह धुरी है जिसके चारों ओर आर्थिक संसार चक्कर लगाता है।"
विभिन्न विद्वानों ने वित्त को निम्न प्रकार परिभाषित किया है :

हावार्ड एवं अपटन के अनुसार "वित्त किसी संगठन में नकद एवं साख की व्यवस्था से सम्बन्धित प्रशासनिक क्षेत्र या प्रशासकीय कार्यों का समूह है, जिससे कि संगठन के पास अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यथासम्भव सन्तोषजनक ढंग से साधन उपलब्ध हो सकें ।

पी.सी. होस्टिंग्स के अनुसार "वित्त धन प्राप्त करने तथा व्यय करने की कला तथा विज्ञान है।"

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि वित्त का अभिप्राय व्यावसायिक कार्यो के लिये समुचित एवं आवश्यक मुद्रा की व्यवस्था करने से है जो उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है ।

4.4 आवश्यकता

वित्त व्यवसाय का आधार है । उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन होने के कारण व्यवसाय के प्रवर्तन से लेकर, विकास, सम्बर्द्धन एवं संचालन में वित्त की महत्वपूर्ण भूमिका है । वित्त वाणिज्य एवं उद्योग के लिये उसी प्रकार महत्वपूर्ण है, जिस प्रकार पहियों को चिकनाई देने वाला तेल, हड्डियों के लिये मज्जा तथा नाड़ियों के लिए रक्त है । वित्त को व्यवसाय का 'जीवन रक्त' कहा जा सकता है । यह व्यावसायिक कार्यों की सफलता की कुंजी है । सामान्यत: व्यवसाय की निम्नलिखित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वित्त की व्यवस्था करनी होती है :-

1. **प्रवर्तन सम्बन्धी खर्चे** : इसके अंतर्गत विभिन्न तकनीकी विशेषज्ञों की फीस, वैधानिक सलाहकारों, लेखाकारों एवं प्रबन्ध सलाहकारों की फीस, प्रलेख तैयार करने पर किया गया व्यय, पंजीकरण तथा कम्पनी के सम्मेलन से सम्बन्धी खर्चों में शामिल होते है ।
2. **व्यवसाय के निर्माण के लिए** : व्यवसाय का जन्म व्यवसाय की योजना के निर्माण के बाद ही होता है । योजना तैयार करने में अनेक सूचनाएँ एकत्र करनी पड़ती है तथा पूर्वानुमानों के अनेक विवरण तैयार करने पड़ते है । इन सब कार्यों को वित्त के बिना पूरा करना सम्भव ही नहीं है ।
3. **चालू सम्पत्तियों की व्यवस्था** : स्टॉक, नकद साख, उधार विक्रय, प्राप्य बिलों आदि के लिये व्यवसाय द्वारा वित्त व्यवस्था करना जरुरी होता है ।
4. **स्थायी सम्पत्तियों की व्यवस्था हेतु** : व्यवसाय के लिये भूमि, भवन, फर्नीचर, मशीन यंत्र आदि दीर्घकालीन काम में आने वाली सम्पत्तियों की प्राप्ति हेतु भी वित्त की व्यवस्था करना आवश्यक है ।
5. **व्यवसाय प्रारम्भ करने के लिए** : व्यवसाय प्रारम्भ करने के लिए स्थायी एवं कार्यशील दोनों ही प्रकार की पूँजी की आवश्यकता पड़ती है । औद्योगिक इकाई के लिए उत्पादन की मशीनें उपलब्ध कराना एवं उन्हें स्थापित करने के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती है । कच्चे या तैयार माल को क्रय करने, सभी प्रकार के व्यावसायिक संगठनों में कर्मचारियों के वेतन, आदि के लिए कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है ।
6. **व्यवसाय को चलाने के लिये** : बिना पूँजी के व्यवसाय को जीवित रखना असम्भव है । उत्पादन, विक्रय, प्रबन्ध, नियन्त्रण आदि के लिये वित्त की आवश्यकता होती है ।
7. **विकास एवं विस्तार** : प्रत्येक व्यवसाय प्रतिस्पर्धा में आगे आने हेतु अनेक प्रकार की विस्तार एवं विकास की योजनाएँ बनाता है, जिनके क्रियान्वयन के लिये वित्त की व्यवस्था जरुरी होती है।
8. **वित्त प्राप्त करने की लागत की व्यवस्था के लिये** : व्यवसाय को वित्त प्राप्त करने हेतु प्रविवरण आदि छापना पड़ता है, अमिगोपन कमीशन एवं दलाली देनी पड़ती है । इसके अतिरिक्त दलालों एवं विनियोजकों के लिये सम्मेलन आदि के आयोजन व संस्था के प्रचार एवं विज्ञापन हेतु भी वित्त की आवश्यकता होती है ।

9. **भावी आकस्मिकताओं का सामना करने के लिये** : एक विवेकशील एवं दूरदर्शी व्यवसायी केवल तत्कालिक आवश्यकताओं की ओर ही ध्यान न देकर भावी आकस्मिकताओं का भी पूर्वानुमान लगाने का प्रयास करता है, अत: उनका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए भी पूँजी की व्यवस्था करना आवश्यक है ।
10. **अवास्तविक सम्पत्तियों के क्रय हेतु** : व्यवसाय की ख्याति, पेटेन्ट आदि के क्रय की आवश्यकता पड़ सकती है, इस हेतु भी वित्त की व्यवस्था करना आवश्यक है ।

इस प्रकार हम यह कह सकते है कि वित्त व्यवसाय के प्रत्येक पहलू के लिए अनिवार्य है । वित्त वह चमकीला धागा है, जो व्यवसाय की सभी क्रियाओं में व्याप्त है । वित्त व्यवसाय एवं उद्योग को स्थापित, संचालित एवं विकसित करने वाला घटक है, जिसके अभाव में उत्पादन के साधन एवं ग्राहक सन्तुष्टि में बदल नहीं पाते ।

4.5 क्षेत्र एवं प्रकृति

वित्त को वास्तव में व्यावसायिक तथा औद्योगिक सफलता का आधार कहा जा सकता है । व्यावसायिक क्रियाओं के लिए वित्त एक शक्ति के रूप में कार्य करता है जिसके माध्यम से क्रियाओं की उत्पादकता में वृद्धि की जाती है । यहाँ तक कि वित्त व्यवस्था के द्वारा ही पूँजी को उत्पादक बनाया जा सकता है । वित्त प्रक्रिया के द्वारा संचित कोषों को उत्पादन कार्यों में परिवर्तित किया जा सकता है । किसी व्यवसाय को सफलता पूर्वक चलाने के लिये कितनी पूँजी की आवश्यकता होती, इसका निर्धारण करना जटिल है । पूँजी सघन व्यवसाय जैसे इस्पात, लोहा, सीमेण्ट आदि जहाँ अधिकांश कार्य मशीनों की सहायता से किया जाता है, अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी । इसके विपरीत श्रम साध्य व्यवसाय जहाँ श्रमिकों की आवश्यकता अधिक होती है जैसे चाय उद्योग तथा हाथकरघा उद्योग में अपेक्षाकृत कम पूँजी की आवश्यकता होगी । ऐसे व्यवसाय जिनमें प्रबन्धक पेशेवर हैं व उनकी मुद्रा बाजार में अच्छी साख है । उनमें कम वित्त की व्यवस्था करनी होती है । इसके विपरीत यदि प्रबन्ध परम्परावादी है तथा गोपनीयता को अधिक महत्व देते हैं तो वहाँ अधिक वित्त की व्यवस्था करनी होगी । इस प्रकार वित्त व्यावसायिक कार्यो का आधार है ।

4.6 स्रोत

एक व्यवसाय को चलाने के लिये जो पूँजी की आवश्यकता होती है । उसमें से कुछ तो लम्बी अवधि के लिए तथा कुछ अल्प अवधि के लिये आवश्यक होती है । व्यवहार में ऐसा वित्त दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन माना जाता है, अत: वित्त के स्रोतों को दो भागों में बाँटा गया है-

प्रथम : दीर्घकालीन वित्त के स्रोत (Sources of Long term finance)

द्वितीय : अल्पकालीन वित्त के स्रोत (Sources of short term finance)

प्रथम: दीर्घकालीन वित्त के स्रोत (Sources of Long term finance)

दीर्घकालीन पूँजी से तात्पर्य, उस पूँजी से है, जिसे व्यवसाय में लम्बे समय के लिए विनियोजित किया जाता है । इस प्रकार दीर्घकालीन वित्त का उपयोग स्थायी सम्पत्तियों यथा भूमि व भवन, मशीनें व संयत्र, फर्नीचर व फिटिंग्स, ख्याति व पेटेन्ट आदि का भुगतान करने तथा व्यवसाय स्थापना के बाद भविष्य में पुरानी मशीनों को प्रतिस्थापित करने एवं विस्तार कार्यक्रमों

के अन्तर्गत नयी सम्पत्तियाँ खरीदने के लिए किया जाता है । इस प्रकार इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कार्यशील पूँजी का कुछ भाग भी सदैव ही दीर्घकालीन पूँजी के रूप में हो सकता है । इसका कारण यह है कि प्रत्येक संस्था में न्यूनतम मात्रा में कच्चा माल या पके माल का स्टॉक, उपभोग्य वस्तुओं का स्टॉक सदैव रखना पड़ता है । कार्यशील पूँजी सदैव ही संस्था में बनी रहती है ।

द्वितीय - अल्पकालीन वित्त के स्रोत (Sources of short term finance)

अल्पकालीन वित्त का सम्बन्ध प्राय: ऐसे कोषों से होता है जो एक वर्ष से कम अवधि के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं । परिवर्तनशील, मौसमी या अस्थायी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पूर्ति हेतु अल्पकालीन वित्त की आवश्यकता होती है । अल्पकालीन वित्त की आवश्यकता प्राय: कार्यशील पूँजी अर्थात् कच्चे माल का क्रय करने, वेतन, कर, मजदूरी, किराया आदि व्ययों का भुगतान करने तथा निर्मित माल की उधार बिक्री का वित्त-पोषण करने के लिए होता है ।

वित्त के स्रोत

अ. दीर्घकालीन वित्त के स्रोत: (Source of long term finance)

- स्वामित्व पूँजी / अंश पूँजी (Owned or Share Capital)
  - समता अंश (Equity Shares)
  - अधिमान अंश (Preference Shares)
- ऋण पूंजी / उधार (Borrowed or Debt. Capital)
  - ऋण पत्र / बॉण्ड (Debentures/Bonds)
  - संस्थागत अवधि ऋण (Institutional Term Bonds)

ब. अल्पकालीन वित्त के स्रोत: (Sources of Short term finance)

- बाह्य स्रोत (External Sources)
  1. जन निक्षेप (Public deposits)
  2. व्यापारिक साख (Trade Credit)
  3. बैंक साख (Bank Credit)
  4. वाणिज्यिक पेपर (Commercial Paper)
- आंतरिक स्रोत (Internal Sources)
  1. प्रतिधारित अर्जनें (Retained Earnings)
  2. ग्राहकों से अग्रिम (Advance from Customers)

अंश (Shares)

कम्पनियों द्वारा पूँजी व्यय विधियों में अंश निर्गम सर्वोत्तम विधि है । कम्पनी द्वारा कुल आवश्यक पूंजी का निश्चय कर उसकी समान राशि की इकाईयों में विभाजित कर दिया जाता है, ये इकाइयां ही अंश कहलाती हैं । पूंजी प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार के अंश निर्गमित किये जाते हैं, जिससे विनियोक्तागण अपनी रूचि के अनुसार विनियोजन करता है । दूसरे शब्दों में अंश का तात्पर्य पूंजी के एक हिस्से से होता है । पूंजी का वह आनुपातिक भाग जिसका प्रत्येक सदस्य अधिकारी होता है, अंश कहलाता है । अंश स्वामित्व की एक इकाई है जिसका धारक कंपनी का आशिक स्वामी होता है । स्वामित्व का प्रतिनिधित्व अंश प्रमाण पत्र द्वारा किया जाता है, जिसका निर्गमन आवंटन के बाद प्रत्येक अंशधारी को कर दिया जाता है । भारतीय कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 2 (46) के अनुसार अंश का तात्पर्य किसी कम्पनी की अंश पूंजी के भाग से है, जिसमें स्टॉक भी सम्मिलित होता है, जब तक कि अंश और स्टॉक में अंतर स्पष्ट या गर्भित रूप में ना हो ।

विशेषताएँ (Characteristics)

- अंश का सदैव मौद्रिक मूल्य होता है ।
- अंश कम्पनी की अंश पूँजी का एक आनुपातिक भाग होता है ।
- अंशों के आधार पर अंशधारी के अधिकार, दायित्वों का निर्धारण होता है ।

अंश तथा स्कन्ध में अंतर

भारतीय कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 2(46) में स्पष्ट किया गया है कि "अंश का आशय कम्पनी की अंश पूँजी के एक भाग से है और जिसमें स्कन्ध को भी सम्मिलित किया जाता है, जब तक कि स्कन्ध ओर अंश में स्पष्टतया या गर्भित रूप में अंतर न किया गया हो।" इस प्रकार: हम यह कह सकते हैं कि अंशों का अंकित मूल्य होता है । परन्तु स्कन्ध का अंकित मूल्य नहीं होता है । अंश का पूर्ण दत्त होना आवश्यक नहीं है । अंश अपूर्ण दत्त भी होते है । केवल पूर्ण दत्त अंशों को ही स्कन्ध में बदला जा सकता है । प्रत्येक अंश का निश्चित क्रमांक होता है तथा उसी क्रमांक से उसे पुकारा जाता है, परन्तु स्कन्ध के लिए कोई क्रमांक निर्धारित नहीं होता है ।

अंशों के प्रकार (Types of Shares)

1. **समता अंश (Equity Shares)**
2. **अधिमान अंश (Preference Shares)**

1. **समता अंश**: समता अंश से तात्पर्य ऐसे अंशों से है जिन पर लाभांश तथा समापन के समय पूँजी की वापसी का पूर्वाधिकार नहीं होता है । वास्तव में समता अंश कम्पनी की वित्तीय संरचना का आधार स्तम्भ होते हैं । समता अंशधारी कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं । समता पूँजी को सहायता से ही कम्पनी के प्रबन्धक वित्तीय संकटों का सामना करते हैं । समता अंश वह पूँजी है जो किसी उपक्रम की अंतिम जोखिम को उठाती है तथा उपक्रम की शेष बची आय एवं साधनों को बांटती है । व्यवसाय का नियंत्रण भी पूँजी के इसी स्वरूप में निहित होता है ।

समता अंशों की प्रमुख विशेषताएं (Essential Characteristics of Equity Shares)

1. **समता अंशों के बाजार मूल्यों में उतार-चढ़ाव** : समता अंशों पर लाभांश की अस्थिर प्रकृति, अंशों के हस्तान्तरण की सुविधा, प्रबन्ध एवं नियंत्रण पर प्रभुत्व जमाने की आकांक्षा तथा भावी संभावनाओं आदि कई कारणों से उनके बाजार मूल्य में भारी उतार-चढ़ाव होता रहता है ।
2. **पूँजी की वापसी** : समता अंशों द्वारा जुटाई गई पूंजी कम्पनी की स्थायी पूँजी होती है, जिसकी वापसी के लिए कम्पनी को बाध्य नहीं किया जा सकता । कंपनी के समापन के पश्चात् ही समता अंशधारी अपनी पूंजी वापस प्राप्त कर सकते हैं और वह भी तब जब सभी दावों का भुगतान करने के पश्चात् कोष शेष रहें ।
3. **आय पर अधिकार** : समता अंशधारी कम्पनी की अवशिष्ट आय के स्वामी होते हैं । इसलिए कम्पनी की आय पर इनका अधिकार समस्त देनदारों को चुकाने के बाद ही होता है । कम्पनी कानूनी तौर पर समता अंशधारियों में लाभ वितरण के लिए बाध्य नहीं है । सामान्यता कम्पनी को अधिक लाभ होने पर अंशधारियों में अधिक लाभांश वितरित किया जाता है तथा कम लाभ होने पर कम लाभांश वितरित किया जाता है ।
4. **प्रबन्ध एवं नियंत्रण का अधिकार** : कम्पनी के व्यवसाय के नियंत्रण एवं प्रबन्ध का अधिकार समता अंशधारियों के हाथों में ही होता है । यह अधिकार उन्हें मताधिकार के कारण ही होता है । यह तथ्य सामान्यतया बड़ा हास्यास्पद लगता है कि कम्पनी का प्रबन्ध एवं नियंत्रण समस्त समता अंशधारियों द्वारा दिया जाता है, क्योंकि व्यवहार में कम्पनी का प्रबन्ध एवं नियंत्रण कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में नजर आता है ।
5. **अंश हस्तान्तरण का अधिकार**: समता अंशधारियों को अपने अंश किसी अन्य को बेचने तथा हस्तान्तरण करने का अधिकार कम्पनी के अन्तर नियमों से मर्यादित होता है । यह प्रक्रिया सामान्यत: सरल एवं सुविधाजनक होती है । वर्तमान समय में डिपाजिटरी व्यवस्था के कारण अंश हस्तान्तरण की औपचारिकता पूरी करने की आवश्यकता ही नहीं है ।

समता अंशों के लाभ (Advantages of Equity Shares)

I. **कम्पनी को लाभ** (Advantages to the Company) :

- **ऋण क्षमता में वृद्धि** : समता अंश पूंजी द्वारा कंपनी की स्थाई संपत्तियों पर किसी प्रकार का प्रभार उत्पन्न नहीं किया जाता । इसलिए सभी संपत्तियाँ बंधक के लिए उपलब्ध रहती हैं जिनके आधार पर आवश्यकता के समय अतिरिक्त धन का प्रबन्ध किया जा सकता है । इस प्रकार अंश पूंजी कंपनी की ऋण क्षमता को बढ़ाती है ।
- **विकास एवं विस्तार के लिए पूँजी की उपलब्धता** : कम्पनी समता अंश जारी करके प्राप्त लाभों से विविध कोषों का निर्माण कर सकती है, जिनका उपयोग व्यवसाय के विस्तार व विकास के लिए किया जा सकता है ।
- **जोखिम वहन करना** : समता अंशधारी ही कम्पनी के व्यवसाय की जोखिम उठाते हैं, इसलिए इसे जोखिम पूंजी कहा जाता है । समता अंश पूंजी कम्पनी के लिए सुरक्षात्मक दीवार का कार्य करती है । प्रबन्ध इसी आधार पर वित्तीय संकटों का सामना करते हैं ।

- अधिक ऊँची दर से लाभांश घोषित करके अधिकार अंश या अंशों का और निर्गमन करके आसानी से और पूँजी प्राप्त की जा सकती है ।
- समता अंश पूँजी कम्पनी के लिए सरल एवं सस्ता साधन होती है ।

II. विनियोजकों को लाभ : (Advantages to Investors)

- **अधिक लाभ** : कम्पनी की जैसे-जैसे आय बढ़ती है, वैसे-वैसे समता अंशधारियों को भी लाभांश प्राप्त होता है ।
- **विनियोग का अच्छा साधन** : साहसी तथा जोखिम उठाने वाले विनियोक्ताओं के लिए समता अंशों में विनियोजन अच्छा रहता है ।
- **आय में वृद्धि** : समता अंशों पर लाभांश की दर निश्चित नहीं होती है, अत: कम्पनी को अधिक लाभ होने पर इन अंशधारियों को अधिक लाभांश दिया जाता है ।
- **सीमित आय वाले लोगों के लिए आकर्षण** : समता अंश अधिकांशत: कम मूल्य के होते हैं, जिन्हें सीमित आय वाले लोग आसानी से खरीद सकते हैं । लाभांश के रूप में नियमित आय प्राप्ति की भी संभावना बनी रहती है, इसलिए कम्पनी जनता से कोष प्राप्त कर सकती है ।
- **कम्पनी के कार्यों में रूचि** - समता अंशधारी कम्पनी के स्वामी होते हैं, अत: वे कम्पनी के कार्यों में रूचि लेते है ।

समता अंशों की हानियाँ (Disadvantages of Equity Shares)

कम्पनी को हानियाँ (Disadvantages to the Company)

- **प्रबन्ध नीति में परिवर्तन** : समता अंशधारी अपने अंशों का क्रय-विक्रय करते रहते हैं । इससे अंशधारी बदलते रहते हैं । अंशधारिया के बदलने पर अनेक बार कम्पनी का प्रबन्ध भी बदल जाता है जिससे कम्पनी की नीतियाँ भी बदलती रहती है । इस परिवर्तन से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं ।
- **अंशों के मूल्य में भारी उतार-चढाव** : अंश बाजारों में सटोरिया अंशों के क्रय-विक्रय में सट्टा खेलते हैं, जिससे अंशों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव व्याप्त रहता है । यह उतार-चढ़ाव विनियोजकों के लिए घातक सिद्ध होता है ।
- **प्रति अंश आय में कमी** : अंशों पर दिया जाने वाला लाभांश ऋण पत्रों पर दिये जाने वाले ब्याज की तरह व्यय के रूप में कर योग्य आय की गणना करते समय नहीं घटाया जाता है, अत: समता अंशों के प्रयोग से आयकर की बचत नहीं होती, परिणामत: समता अंशों के प्रयोग से कम्पनी की प्रति अंश आय कम हो जाती है जिससे अंशों के बाजार मूल्य घट जाते हैं ।
- साधारण अंशों पर लाभांश की दर अन्य अंशों की अपेक्षा अधिक देनी पड़ती है।
- लाभ अधिक होने पर अंशों का बाजार मूल्य बढ़ जाता है तथा लाभ कम होने पर मूल्य घट जाता है ।

III. विनियोजकों को हानियाँ: (Disadvantages to Investors)

- **आय की अनिश्चितता** : लाभ नहीं होने की दशा में समता अंशधारियों को लाभांश की प्राप्ति नहीं होती । लाभ होने की दशा में भी लाभांश की प्राप्ति नहीं होती । लाभ होने

की दशा में भी लाभांश प्राप्त होना आवश्यक नहीं है । कम्पनी लाभ होने की दशा में लाभ का पुन: विनियोग कम्पनी के विकास व विस्तार में कर सकती है । यह कहा जा सकता है कि समता अंशधारी लाभ में हिस्सा प्राप्त करने के अधिकारी तो अवश्य होते हैं, परन्तु कम्पनी लाभांश वितरण के लिए बाध्य नहीं है ।

- **मंदीकाल में हानि** : मंदीकाल में संस्था के लाभों में कमी होने के कारण इनको मिलने वाले लाभांश की तो हानि होती ही है, साथ ही बाजार में अंशों का मूल्य भी गिर जाता है । ऐसे समय अंशों का विक्रय करने से समता अंशधारियों को पूंजीगत हानि भी होती है ।
- सट्टे के कारण निवेशकों को कई बार हानि उठानी पड़ती है ।
- सिद्धान्त : समता अंशधारी कम्पनी के मामलों में नियंत्रण का अधिकार रखते है किन्तु ऐसा अधिकार एक कल्पना ही है । व्यवहार में कम्पनी मामलों में उनका कोई नियंत्रण नहीं होता क्योंकि वे फैले हुये और केवल कम्पनी की वार्षिक सामान्य सभा में ही अपनी आवाज उठा सकते है ।

2. अधिमान अंश (Preference Shares)

अधिमान अंश वे होते हैं जिनके धारकों को कुछ पूर्वाधिकार प्राप्त होते हैं । इन अंशों के स्वामियों को लाभांश प्राप्त करने तथा कम्पनी के समापन के समय सम्पत्तियों के वितरण में समता अंशधारियों की अपेक्षा राशि प्राप्त करने का पूर्वाधिकार प्राप्त होता है । इस प्रकार अधिमान अंशधारियों को दो अधिकार प्राप्त होते हैं । प्रथम - समता अंशों पर लाभांश देने से पूर्व लाभांश पाने का अधिकार, द्वितीय - कम्पनी के समापन की दशा में समता अंश पूंजी से पहले अंश पूंजी का भुगतान ।

अधिमान अंश निम्न प्रकार के होते हैं -

- संचयी पूर्वाधिकार (Cumulative preference shares)
- असंचयी पूर्वाधिकार अंश (Non-cumulative preference shares)
- परिवर्तनीय पूर्वाधिकार अंश (Convertible preference shares)
- अपरिवर्तनीय पूर्वाधिकार अंश (Non- Convertible preference shares)
- विमोचनशील पूर्वाधिकार अंश (Redeemable preference shares)
- संचयी परिवर्तनीय पूर्वाधिकार अंश (Cumulative Convertible preference shares)
- भाग युक्त पूर्वाधिकार अंश (Participating preference shares)
- अभाग युक्त पूर्वाधिकार अंश (Non- participating preference shares)
- सुरक्षित एवं प्रत्याभूतित अंश (Secured and Guaranteed shares)

अधिमान अंशों की विशेषताएँ

1. **प्रबन्ध एवं नियंत्रण में अधिकार का अभाव** : पूर्वाधिकार अंशधारियों को कम्पनी के प्रबन्ध में भाग लेने तथा मतदान का अधिकार नहीं होता । ये अंशधारी केवल उन प्रस्तावों पर मतदान कर सकते हैं, जो इनके अधिकारों को प्रभावित करते हैं ।

2. **आय पर अधिकार** : अधिमान अंशधारियों का आय पर सर्वप्रथम अधिकार होता है । वर्ष के लाभों में सर्वप्रथम इन्हें पूर्व निर्धारित दर से लाभांश दिया जाता है । निश्चित दर से लाभांश का भुगतान करने के बाद शेष आय पर इनका अधिकार नहीं होता, चाहे यह कितनी ही अधिक क्यों न हो ।
3. **सम्पत्तियों पर पूर्वाधिकार** : पूर्वाधिकार अंशधारियों को कम्पनी की सम्पत्तियों के वितरण में भी पूर्वाधिकार प्राप्त होता है । कम्पनी के समापन की दशा में समस्त देनदारियों को भुगतान करने के बाद यदि सम्पत्तियाँ शेष रहती हैं तो उन्हें सबसे पहले पूर्वाधिकारी अंशधारियों में वितरित किया जाता है ।
4. **लाभांश में पूर्वाधिकार** : समता अंशधारियों की तुलना में पूर्वाधिकार अंशधारियों को पहले लाभांश प्राप्त करने का अधिकार होता है ।
5. **निर्धारित दर पर लाभांश** : पूर्व निर्धारित दर से लाभांश का भुगतान करने के बाद शेष आय पर इनका अधिकार नहीं होता है, चाहे यह आय कितनी भी अधिक हो ।

अधिमान अंशों को लाभ (Advantages to Preference shares)

I. कम्पनी को लाभ (Advantages to the company)

समता अंशधारियों को अधिक लाभ : अधिमान अंशों के निर्गमन का उद्देश्य समता अंशधारियों की आय में वृद्धि करना भी है । अधिमान अंशधारियों का आय में निश्चित भाग होता है वे कम्पनी की बढ़ी हुई आय में भाग नहीं लेते जिससे शेष सम्पूर्ण आय समता अंशधारियों में बांटने से उन्हें अधिक लाभ मिलता है ।

- **पूँजी प्राप्ति के लिए सही बाजार** : रूढ़िवादी तथा अधिक सतर्क विनियोजक पूर्वाधिकारी अंशों की ओर अधिकाधिक आकर्षिक होते हैं, इस कारण कम्पनी को पूँजी प्राप्त करने के लिए एक व्यापक बाजार मिल जाता है।
- **सरलता से बाजार की प्राप्ति** : कम्पनी को पूँजी प्राप्त करने के लिए सरलता से विस्तृत बाजार मिल जाता है, क्योंकि भीरू स्वभाव के विनियोक्ता भी पूर्वाधिकारी अंशों में विनियोग के लिए आकर्षित हो जाते हैं ।
- **लोचदार पूँजी ढाँचा** : पूर्वाधिकारी अंशों के निर्गमन से कम्पनी का पूँजी ढाँचा लोचदार बना रहता है । कम्पनी शोध्य अंशों का निर्गमन कर सकती है जिसे बाद में कभी भी वापस भुगतान किया जा सकता है ।
- **बोनस अंश के रूप में निर्गमन सम्भव** : पूर्वाधिकारी अंश बोनस अंशों के रूप में आसानी से जारी किये जा सकते हैं ।

II. विनियोजकों को लाभ (Advantages to the Investors)

- **कम जोखिम** - इन अंशधारियों को निश्चित दर से पूँजी की वापसी का आश्वासन रहता है, अत: पूर्वाधिकारी अंशधारियों को लाभांश तथा पूँजी वापसी में जोखिम कम रहता है।
- नियमित व निश्चित आय - पूर्वाधिकारी अंशों का निश्चित दर से नियमित आय प्राप्त होती रहती है ।

- **आय में वृद्धि न होना** - पूर्वाधिकारी अंशधारियों को प्रायः निश्चित दर से लाभांश मिलता है । कम्पनी के लाभ अधिक होने पर भी इन अंशधारियों का लाभांश नहीं बढ़ता । केवल भागीदार पूर्वाधिकारी अंशधारी ही बचे हुए लाभों में हिस्सा प्राप्त करने के अधिकारी होते है ।
- **पूँजी वापस प्राप्त करने में प्राथमिकता** - कम्पनी के अवसायन की दशा में पूँजी की वापसी में प्राथमिकता प्राप्त होती है ।
- **क्रय में वृद्धि** - मंदीकाल में जब ब्याज की सामान्य दर गिरने लगती है अधिमान अंशधारियों को पहले की दर से आय प्राप्त होती है जिससे उनकी क्रय शक्ति में वृद्धि होती है ।

अधिमान अंशों की हानियाँ (Disadvantages to Preference shares)

I) कम्पनी को हानियाँ (Disadvantages to the company) -

- **स्थायी आर्थिक भार** : पूर्वाधिकारी अंशों पर निश्चित दर से लाभांश देना पड़ता है, अत: यह कम्पनी पर स्थायी भार हो जाता है ।
- **महंगा साधन** : इसमें लाभांश की राशि कर योग्य आय निकालने के लिए कंपनी की आय में नहीं घटाई जाती, इसलिए कंपनी को इन अंशों के जारी करने पर कर की बचत नहीं होती । इस तरह पूंजी का यह साधन अपेक्षाकृत महंगा होता है ।
- **साख में गिरावट** : भविष्य में अधिक लाभ नहीं होने पर ऐसे अंशधारियों को लाभांश समय पर नहीं देने के कारण कम्पनी की साख पर बुरा प्रभाव पड़ने का भय रहता है ।
- **अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई** : यदि कम्पनी के अन्तर नियमों में यह व्यवस्था है कि अतिरिक्त पूर्वाधिकारी अंशों या ऋणपत्रों के निर्गमन करने से पूर्व विद्यमान पूर्वाधिकारी अंशधारियों की सहमति लेना आवश्यक होगा तो कम्पनी के लिए ऐसी स्थिति में अतिरिक्त पूँजी व्यवस्था करना बड़ा कठिन होता है ।
- **पूँजी ढाँचे में लोच का अभाव** : यदि किसी के अन्तर नियमों में यह प्रावधान है कि अतिरिक्त पूर्वाधिकारी अंश जारी करने के लिए विद्यमान पूर्वाधिकारी अंशधारियों की पूर्व अनुमति लेनी आवश्यक है तो ऐसी स्थिति में कम्पनी को असुविधा होती है और पूँजी को बढ़ाना कठिन होता है ।

II) विनियोजकों को हानियाँ (Disadvantages to the Investors)

1) **आय में वृद्धि न होना** : पूर्वाधिकार अंशधारियों को प्राय: निश्चित दर से लाभांश मिलता है । कम्पनी के लाभ अधिक होने पर भी इन अंशधारियों का लाभांश नहीं बढ़ता । केवल भागीदार पूर्वाधिकारी अंशधारी ही बचे हुए लाभों में हिस्सा प्राप्त करने के अधिकारी होते है ।
2) **सीमित मताधिकारी** : पूर्वाधिकारी अशंधारियो को संचालकों की नियुक्ति तथा कम्पनी के अन्य महत्वपूर्ण मामलों के सम्बन्ध में मताधिकार प्राप्त नहीं होता है । इन्हें केवल अपने हितों की रक्षा के लिए सीमित मताधिकार प्राप्त होता है ।

3) **अतिरिक्त लाभ में भाग नहीं** : भागीदार अंशों को छोड़कर कंपनी की अतिरिक्त आय में अधिमान अंशधारियों को कोई हिस्सा नहीं दिया जाता है, क्योंकि इन्हें केवल इन पर पूर्व-निश्चित दर से लाभांश पाने का अधिकार होता है ।

4) **समापन के समय अधिक्य में भाग नहीं** : यदि कम्पनी का समापन हो जाता है तो पूर्वाधिकारी अंशों के धारकों को केवल उतना ही मूल्य चुकाया जाता है जितना उन्होंने विनियोजित किया है, जबकि समता अंशधारी कम्पनी के आधिक्य में भी हिस्सा प्राप्त करते हैं ।

समता अंशों और अधिमान अंशों में अंतर (Distinction between Equity and Preference Shares)

अंतर का आधार	समता	अधिमान
1 लाभांश दर	समता अंशों की लाभांश दर पूर्व निश्चित नहीं है।	अधिमान अंशों की लाभांश दर पूर्व निर्धारित होती है ।
2 लाभांश का अधिकार	इन अंशों के धारकों को पूर्वाधिकार अंसधारियों को लाभांश का भुगतान होने पर ही लाभांश मिलता है।	इन अंशों के धारकों को साधारण अंशधारियों की तुलना मे लाभांश पहले मिलता है
3 पूँजी की वापसी	साधारण अंशधारियों को विभाजन की स्थिति में कुछ बचने पर ही सबसे बाद में पूजी लौटायी जाती है।	कंपनी के समापन की दशा में, पूर्वाधिकारी अंशों को पूंजीवापसी में वरीयता होती है ।
4 जोखिम	व्यवसाय मे वास्तविक स्वामी होने के कारण व्यवसाय की आधारभूत जोखिम ये ही उठाते हैं । इसलिए इनके लाभों की कोई अधिकतम सीमा नहीं होती ।	इनकी जोखिम का अंश व्यवसाय मे मध्य मार्गी ही है ।
5 परिवर्तन	इनका पूर्वाधिकार अंशों में परिवर्तन संभव नहीं है ।	इनका साधारण अंशों मे परिवर्तन किया जा सकता है
6 प्रबंध का अधिकार	समता अंशधारियों की पूंजी 'जोखिम पूंजी' होती है, अत: उनको कंपनी के प्रबन्ध एवं नियंत्रण का अधिकार होता है।	अधिमान अंशधारियों को कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर यह अधिकार प्राप्त नहीं हैं ।
7 प्रकार	साधारण अंश एक ही प्रकार के होते हैं ।	यह अनेक प्रकार के हो सकते हैं।
8 मत देने का अधिकार	साधारण अंशधारकों को प्रबन्ध एवं नियंत्रण मे मत देने का पूरा -पूरा अधिकार होता है ।	इन्हें प्रबंध एवं नियंत्रण में मताधिकार नहीं होता है। अपने से सम्बन्धित मामलों में ही मत दे

			सकते है।
9	शोधनशीलता	समता अंशों का कंपनी के जीवन काल में शोधन नहीं हो सकती है ।	इनका शोधन किया जा सकता है
10	निर्गमन व्यय	समता अंशों का निर्गमन व्यय अपेक्षाकृत कम होता है ।	इनका निर्गमन व्यय अपेक्षाकृत अधिक होता है ।

ऋण पूँजी (Borrowed capital)

इसमें निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है -

1. ऋण पत्र (Debenture)

ऋण पत्र एक ऐसा प्रलेख है जो या तो ऋणों का निर्माण करता है अथवा ज्ञापन करता है और प्रत्येक प्रलेख जो इनमें से कोई भी दशा को पूरा करता है, वह ऋणपत्र है । कम्पनियों के दीर्घकालीन पूँजी प्राप्त करने के बाह्य साधनों मैं कहा पत्र एक महत्वपूर्ण साधन है । भारतीय कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 2(12) के अनुसार ऋणपत्र में स्टॉक ऋण पत्र, बॉण्ड और कम्पनी की अन्य प्रतिभूतियाँ सम्मिलित होती हैं चाहे वे कम्पनी की सम्पत्तियों पर प्रभार उत्पन्न करें अथवा न करें । ऋणपत्रों के निर्गमन के लिए कम्पनी को प्रविवरण जारी करना पड़ता है । ऋण पत्रों को कुछ निश्चिंत शर्तो पर ही जारी किया जाता है । ऋण पत्र के पृष्ठ पर सभी शर्ते उल्लिखित होती है । इन ऋण पत्रों पर कम्पनी एक निश्चित वर से ब्याज देने का वादा करती है । यह ब्याज कम्पनी द्वारा प्रति वर्ष दिया जाता है, चाहे कम्पनी को लाभ हो या नहीं । ऋण पत्रधारियों को लाभ में कोई हिस्सा प्राप्त नहीं होता है । ऋण-पत्र पर दिया जाने वाला ब्याज कम्पनी के लिए एक स्थायी भार है, अत: शुद्ध लाभ या हानि निकालने के लिए ब्याज को लाभ-हानि खाते में घटाना जरूरी होता है ।

नायडू एवं दत्ता के अनुसार एक ऋणपत्र कम्पनी की सर्वमान्य मुद्रा के अधीन निर्गमित एक ऐसा प्रलेख है जो उन सब शर्तों को स्पष्ट करता है जिनके अधीन वे निर्गमित किये गये हैं और उनका शोधन होना है ।.

ऋणपत्रों की विशेषताएँ (Features of Debentures)

1) **ऋण-पत्रों की निर्धारित समय पर भुगतान की अनिवार्यता** : निर्धारित समयावधि की समाप्ति पर ऋण पत्रों का भुगतान करना अनिवार्य होता है । ऋण-पत्रों की परिपक्वता पर भुगतान के अभाव में ऋण-पत्रधारी कम्पनी के विरूद्ध न्यायालय में वाद प्रस्तुत कर सकते है । वे कम्पनी के अनिवार्य समापन की माँग करने के अधिकारी हैं ।
2) **आय पर अधिकार** : ऋणपत्रों पर देय ब्याज की दर निश्चित होती है । कंपनी को उस पर निश्चित तिथि की जो साधारणतया अर्द्ध-वार्षिक होती है, ब्याज का भुगतान करना अनिवार्य है, चाहे कम्पनी में लाभ हो अथवा नहीं । व्याज का भुगतान न करने पर कंपनी की संपत्तियों को जप्त करके उसका प्रयोग ब्याज चुकाने ' में किया जा सकता है ।

3) **ऋण पत्रों पर ब्याज भुगतान की अनिवार्यता** : कम्पनी पर अपने द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों पर निर्धारित शर्तों पर ब्याज का भुगतान एक अनिवार्यता है चाहे कम्पनी को लाभ हो या न हो । कम्पनी संचालक को किसी भी स्थिति में ब्याज के भुगतान को रोकने का अधिकार नहीं होता ।

4) **कम्पनी प्रबन्ध एवं नियन्त्रण में हस्तक्षेप** : ऋण-पत्रधारी कम्पनी के स्वामी न होकर केवल ऋणदाता होते हैं, अत: न तो उन्हें कम्पनी में मताधिकार होता है और न उन्हें कम्पनी के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण में हस्तक्षेप का अधिकार है । वे केवल अपने हितों की रक्षार्थ कम्पनी प्रबन्धकों के अधिकारों पर अंकुश लगाकर कम्पनी के प्रबन्ध में अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप कर सकते है ।

ऋणपत्रों के प्रकार (Types of Debentures)

1. **सुरक्षा के आधार पर (On the basis of Security)**

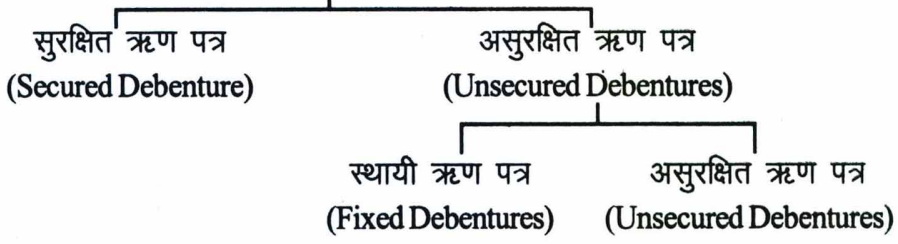

2. **परिवर्तनशीलता आधार पर (On the basis of Convertibility)**

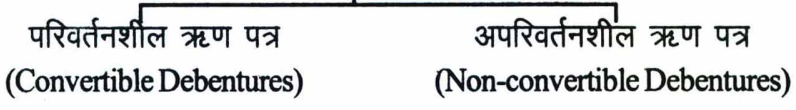

3. **परिशोधन के आधार पर (On the basis of Redemption)**

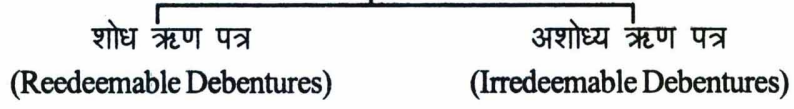

4. **प्राथमिकता के आधार पर (On the basis of Preference)**

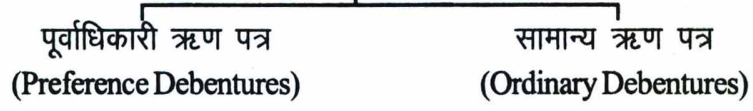

5. **हस्तान्तरण के आधार पर (On the basis of Transferability)**

1) **सुरक्षा के आधार पर** : ऋणपत्रों के निर्गमन के समय कम्पनी द्वारा अपनी सम्पत्ति बन्धक रख दी जाती है तब ऋण पत्रों को सुरक्षित ऋणपत्र कहते हैं । सुरक्षित ऋण पत्रों के दो उपभेद है । यदि स्थायी सम्पत्ति की जमानत पर ऋण पत्र निर्गमित किये

जाते है तो इन्हें स्थायी ऋणपत्रों कहते हैं । एवं ऋण पत्र बगैर किसी सम्पत्ति की जमानत के निर्गमित किये जाते हैं तो उस दशा में वे असुरक्षित ऋण पत्र कहलाते हैं।

2) **परिवर्तनशीलता के आधार पर** : यदि एक कम्पनी ऋणपत्रों के निर्गमन के समय ऋणपत्रधारकों को यह विकल्प देती है कि उनके ऋणपत्रकों को एक निर्धारित अवधि में समता अंशों में परिवर्तित करवाया जा सकता है तो उनको परिवर्तनशील ऋणपत्र कहते है ।यदि ऋणपत्रधारियों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है तो ऐसे ऋण पत्र अपरिवर्तनशील ऋण पत्र कहलाते है ।

3) **परिशोधन के आधार पर** : जब ऋण की अवधि के समाप्त होने के पूर्व ही ऋण की राशि का भुगतान कम्पनी की इच्छा से किया जा सकता है तो ऐसे ऋणपत्र **शोध ऋणपत्र** कहलाते है । यदि इस प्रकार के अधिकार के बगैर ऋणपत्रों का निर्गमन किया जाता है तो उन्हें **अशोध्य ऋणपत्र** कहते है ।

4) **प्राथमिकता के आधार पर :** कम्पनी के समापन की स्थिति मे जिन ऋणपत्रों की राशि वापस लौटाने में प्राथमिकता दी जाती है, उनको पूर्वाधिकारी ऋणपत्र कहते है । जिन ऋणपत्रों को यह प्राथमिकता नहीं दी जाती हैं उन्हें सामान्य ऋणपत्र कहते हैं ।

5) **हस्तान्तरण के आधार पर** : यदि ऋणपत्रों के स्वामित्व का हस्तान्तरण केवल उनकी सुपुर्दगी द्वारा ही हो जाता है तो उन्हें वाहक ऋणपत्र कहते है । इसके विपरीत यदि ऋणपत्रों के स्वामित्व के हस्तान्तरण हेतु कम्पनी के कार्यालय में पुराने ऋणपत्रधारी के स्थान पर नये ऋणपत्रधारी का नाम, पता, व्यवसाय आदि की सूचना देना अनिवार्य हो तब उन्हें पंजीकृत ऋणपत्र कहते हैं ।

ऋणपत्रों के लाभ (Advantage to Debentures)

I) कम्पनी को लाभ (Advantages to the company)

- **धन प्राप्ति की निश्चितता** : ऋणपत्रों का निर्गमन पूर्व स्थापित तथा ख्याति प्राप्त कम्पनियों द्वारा किया जाता है । फलत: विनियोक्ता ऋणपत्रों का शीघ्र क्रय कर लेते हैं ।
- **समता पर व्यापार का लाभ** : पूंजी लागत सस्ती होने के कारण ऋणपत्रों के प्रयोग से समता पर व्यापार की नीति अपनाई जाती है जिससे समता अंशधारियों की प्रति अंश आय में वृद्धि होती है ।
- **प्रबन्ध व नियन्त्रण में हस्तक्षेप नहीं** : ऋणपत्रों के माध्यम से कम्पनी पूँजी तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु ऋण-पत्रधारियों को प्रबन्ध व नियन्त्रण में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं देती ।
- **मंदी काल में उपयोगी साधन** : ऐसी स्थिति में छोटे-छोटे ऋणों को ऋणपत्रों में परिवर्तित करके ब्याज में कमी कर सकती है और इस प्रकार पूँजी लागत भी घटा सकती है ।
- **पूँजी संरचना में लोच** : पूँजी संरचना में ऋणपत्रों को सम्मिलित करके उसे अधिक लोचपूर्ण बनाया जा सकता है ।

II) विनियोजकों को लाभ (Advantages to the company)

- **केवल आवश्यक समय के लिए** : ऋण पत्र जारी करके कम्पनी केवल उतने समय के लिए पूँजी प्राप्त कर सकती है जितने समय के लिए उसे पूँजी की आवश्यकता है ।
- **ब्याज की करदेयता ऋणपत्रों पर ब्याज पूर्णत**: कर योग्य है और आयकर उद्‌गम स्थान पर काट लिया जाता है, जबकि लाभांश अंशधारियों के हाथ में कर मुक्त है ।
- **सुरक्षा** : सामान्यतया ऋणपत्र कम्पनी की स्थायी अथवा चल सम्पतियों की जमानत पर निर्गमित किये जाते हैं, अत: वे सुरक्षित होते हैं ।
- **अन्य लाभ** : ऋणपत्रों के निर्गमन के समय इन्हें समता अंशों में परिवर्तन का विकल्प भी दिया जा सकता है । अत: ऋणपत्रधारी निश्चित अवधि में समता अंश प्राप्त कर सकते है ।

ऋण पत्रों की सीमाएँ (Limitations of Debentures)

I. कम्पनी को हानियाँ (Disadvantage to the company)

- **ब्याज का स्थायी मार** : कम्पनी पर ब्याज का भार स्थायी रूप से पड़ता है । कम्पनी को लाभ हो या न हो ब्याज देना ही पड़ता है ।
- **साख कम होना** : कम्पनी की अधिकांश सम्पत्तियाँ ऋणपत्रधारियो को बंधक के रूप में रख दी जाती है जिससे जनता तथा बैंक ऐसी कम्पनियों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते।
- **ख्याति में कमी** : अनेक बार ऋण पत्रों को निर्गमन करने का तात्पर्य कम्पनी की खराब आर्थिक स्थिति का प्रतीक माना जाता है । अत: इससे कम्पनी की ख्याति कम होती है ।
- **संकट के समय उपयुक्त नहीं** : जब कम्पनी पर कोई संकट आ जाता है उस समय कम्पनी द्‌वारा ऋण पत्र जारी नहीं किये जा सकते ।

II. विनियोजकों को हानियाँ (Disadvantages to the Investors)

- **अत्यधिक लाभ नहीं** : ऋणपत्रधारियों को निश्चित दर से ब्याज मिलता ही है चाहे कम्पनी कितना भी लाभ अर्जित करे । इन्हें सिवाय निश्चित व्याज एवं मूलधन की वापसी के कम्पनी के अतिरिक्त लाभ एवं सम्पत्तियों में हिस्सा लेने का अधिकार नहीं होता ।
- **कम्पनी की साख में कमी** : जो कम्पनियाँ अपनी अधिकांश सम्पत्तियाँ बंधक रखकर ऋण पत्र जारी करती हैं उनकी साख अपेक्षाकृत कम हो जाती है ।
- **अस्थायी साधन** : ऋण पत्र निश्चित अवधि के होते हैं । उस अवधि की समाप्ति के बाद उनकी राशि भुगतान करना होता है, अत: वह एक अस्थायी साधन है ।
- **ब्याज की कर देयता** : ऋण पत्रों पर ब्याज पूर्णत: कर योग्य है और आयकर उद्‌गम स्थान पर काट लिया जाता है ।

समता अंश बनाम ऋणपत्र

अन्तर का आधार	समता अंश	ऋण पत्र
पूंजी की प्रकृति	यह स्वामी पूंजी होती है जिसका कंपनी के जीवन-काल में भुगतान नहीं किया जाता ।	यह ऋण पूंजी है जिसका एक निश्चित अवधि के बाद भुगतान किया जाता है ।
प्रतिफल	अंशधारियों को लाभन्श प्राप्त होता है। लाभ नहीं होने की दशा में लाभांश नहीं दिया जाता होता है ।	पूर्व निश्चित दर पर ऋण पत्रधारियों को ब्याज प्राप्त होता है । लाभ न होने की दशा में भी ब्याज भुगतान किया जाता है ।
जोखिम	वास्तविक स्वामी होने के कारण यह जोखिम पूंजी है ।	ब्याज कंपनी के शुद्ध लाभों पर तथा मूलधन कंपनी की संपत्तियों पर प्रभार उत्पन्न करता है ।
कंपनी में स्थिति	अंशधारी कम्पनी के वास्तविक स्वामी एवं सदस्य होते है ।	ऋणपत्रधारी कंपनी के केवल ऋणदाता होते हैं ।
समापन के समय स्थिति	अंशधारियों का दावा अंतिम होता है।	पूंजी वापसी का अधिकार प्राथमिक होता है ।
निर्गमन समय	इनका निर्गमन समान्यतः व्यवसाय स्थापना के समय किया जाता है ।	इनका निर्गमन बाद में ही व्यवसाय विस्तार के लिये किया जाता है।
अधिकार एवं दायित्व	समता अंशों के अधिकार एवं दायित्व कंपनी के पार्सद सीमानियम तथा पार्षद अंतर्नियम मे दिये होते हैं ।	ऋणपत्र संबंधी अधिकार तथा दायित्व ऋण पत्रों में ही दर्शाये जाते हैं ।
नियंत्रण	मत देने, संचालन नियुक्त करने तथा कंपनी का प्रबन्ध का आ अधिकार रहता है ।	प्रबंध एवं नियंत्रण मे भाग लेने का कोई अधिकार नहीं होता ।

2. संस्थागत अवधि ऋण (Insnstitutional Term Loan)

अवधि ऋण से आशय कम्पनियों की उधार पूँजी से है जो सामान्यत: एक से दस वर्षों की अवधि में चुकाया जाता है । ये ऋण भारत में सामान्यतया कम्पनी के विकास, विस्तार, आधुनिकीकरण तथा व्यवसाय में विविधता लाने के लिए जाते है । इन ऋणों का उद्देश्य कम्पनी के पूँजीगत खर्चो की पूर्ति करना है । सावधि ऋण उपलब्ध करवाने के पश्चात् बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा ऋण लेने वाली कम्पनी पर विशेष प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं । प्राय: ऋणों की अवधि व ब्याज दर निश्चित होती है ।

संस्थागत अवधि ऋण की विशेषताएँ (Characteristics of Term Lone)

1. **परिपक्वता** : यह ऋणों का मुख्य साधन है । कई संस्थाएँ 6 से 10 वर्ष की अवधि का ऋण प्रदान करती हैं । कई बार इस अवधि में 1 या 2 वर्ष छूट के दे दिये जाते हैं । इस स्थिति में वित्तीय संस्था कम्पनी को ऋण वापस नहीं चुकाता है । व्यापारिक बैंक सामान्यत: 3 से 5 वर्ष के। अवधि का ऋण देते हैं ।

2. **परिवर्तनशीलता** : विदेशी वित्तीय संस्थाएँ कम्पनियों को एक बहुत बड़ी राशि के रूप में उपलब्ध करवाती है । बड़ी राशि का ऋण होने के कारण वित्तीय संस्थायें कुछ शर्तों तथा दशाओं में ऋण को अंश में बदल सकती है ।
3. **पूर्ण बातचीत** : किसी भी फर्म द्वारा सावधि ऋण परियोजना वित्त के लिए सीधे ही बैंक या वित्तीय संस्था से प्राप्त किये जा सकते हैं । यह ऋण निजी स्तर पर प्राप्त हो जाते हैं ।

विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ सहायक के रूप में (Special Financial Institutions as a Ancialiary)

भारत में विभिन्न औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थाओं को दीर्घकाल के लिए सावधि ऋणों की पूर्ति की प्रमुख वित्तीय संस्थाएँ इस प्रकार हैं :

1. भारतीय निर्यात--आयात बैंक (Export-Import Bank of India)
2. भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India)
3. राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industration Corporation)
4. भारतीय पर्यटन वित्त निगम (Tourism Finance Corporation of India)
5. भारतीय यूनिट ट्रस्ट (Unit Trust of India)
6. विश्व बैंक (World Bank)
7. एशियन विकास बेक (Asian Development Bank)
8. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation)
9. निजी क्षेत्र के व्यापारिक बैंक (Private Sector Commercial Bank)
10. भारतीय जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation of India)
11. भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation o of India)
12. भारतीय लघुउद्योग विकास बैंक (Small Industries Development Bank of India)

अल्पकालीन वित्त के स्रोत (Sources of Short Term Finance)

I. **बाह्य स्रोत** (External Sources)

1. **जन निक्षेप** (Public Deposits)

गैर-बैंकिंग तथा गैर-वित्तीय कम्पनियों द्वारा जनता से निक्षेप प्राप्त करने की परम्परा भारत में बहुत पुरानी है । यह मध्यकालीन तथा अल्पकालीन वित्त का महत्वपूर्ण साधन रहा है । जन-निक्षेप से आशय अंश एवं ऋणपत्रों के अतिरिक्त एक गैर-बैंकिग जनता से प्राप्त राशि से है । निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ ही नहीं, अपितु सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियाँ भी जन-निक्षेपों से पर्याप्त वित्त की व्यवस्था करती है । जन-निक्षेपों के बढते हुए महत्त्व के कारण कम्पनी अधिनियम 1956 में धारा 58 (अ) को जोड़कर कम्पनियों को जन-निक्षेप स्वीकार करने की छूट दी गई है । इस धारा के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने Companies Rules 1975 जारी

किये हैं । इन नियमों के अनुसार कम्पनी अपने शुद्ध कोषों के 35% के बराबर तक जन-निक्षेप आमंत्रित कर सकती है । ये निक्षेप 6 माह से 36 माह की अवधि के हो सकते हैं । इन नियमों का पालन न करने पर कारावास की सजा अथवा अर्थदण्ड अथवा दोनों ही दंडों का प्रावधान है ।

जन-निक्षेपों के लाभ (Advantages of Public Deposits)

1. अधिक ऋण प्राप्त करना संभव है ।
2. बैंक ऋण की तुलना में अधिक लम्बी अवधि का ऋण प्राप्त हो जाता है ।
3. इस साधन से पूंजी प्राप्त करना बहुत सरल है । इसमें जमा का आधार केवल विश्वास होता है ।
4. इस प्रणाली के द्वारा पूँजी प्राप्त करने में कम्पनी को किसी प्रकार से अपनी सम्पत्ति को बंधक नहीं रखना पड़ता है ।
5. जन-निक्षेप से कम्पनी की पूंजी संरचना लोचपूर्ण बनी रहती है । अति पूंजीकरण का भय नहीं रहता, क्योंकि जमा राशि को आवश्यकतानुसार लौटाया जा सकता है ।
6. जन निक्षेपों पर ब्याज दर स्थिर होने के कारण कम्पनी समता पर व्यापार का लाभ कमा सकती है । इससे वह अंशधारियों को ऊँचा लाभांश देकर अपनी ख्याति बढा सकती है ।
7. भारत में जन-निक्षेपों पर ब्याज दर बैंकों में विभिन्न प्रकार की जमाओं पर प्राप्त ब्याज दरों से अधिक होता है, अत: लोग इनमें अधिक रूचि लेने लगे हैं ।

जन-निक्षेप की हानियाँ (Disadvantages of Public Deposits)

1. जन-निक्षेप अस्थायी या मौसमी मित्र होते हैं । मंदी काल में जब उद्योगों के सामने आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है तो जनता अपना धन तापस मांगने लगती है और कम्पनी के सामने वित्तीय संकट आ जाता है ।
2. कभी-कभी अनेक कम्पनियाँ जनता को धोखे में डालकर जन निक्षेप द्वारा धन एकत्रित कर लेती हैं । इससे जनता को हानि होती है ।
3. इनकी सहायता से दीर्घकालीन योजनाएं क्रियान्वित नहीं की जा सकती । इनकी राशि कभी भी वापस मांगी जा सकती है, अत: वित्त प्राप्त करने का यह अन्यत्र अनिश्चित एवं अविश्वसनीय साधन है ।
4. जब किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान को आवश्यकता से अधिक जन-निक्षेप प्राप्त हो जाते हैं तब वह इनका उपयोग सट्टे के व्यापार में करता है जो एक सामाजिक अभिशाप है ।
5. जब जन-निक्षेपों में अधिक धन लगाया जाता है तो स्वस्थ पूँजी बाजार के विकास में बाधा उपस्थित होती है ।

2. **व्यापारिक साख** (Trade Credit)

व्यापारिक साख वह साख है जो एक व्यापारिक संस्था दूसरी व्यापारिक संस्था को उधार माल या सेवाएँ बेचकर प्रदान करती हे । विभिन्न वस्तुओं व कच्चे माल के विक्रेता तथा पूर्तिकर्ता अपने ग्राहकों को व्यापारिक परम्पराओं के अनुसार स्वत: ही साख प्रदान करते हैं । सफल

व्यापारिक संस्थाएँ जो अपने भुगतानों का अच्छा रिकार्ड रखती हैं, इस साख को लगातार सफलतापूर्वक प्राप्त करता रहती हैं । यदि किसी संस्था को व्यापारिक साख किसी पूर्व निर्धारित अवधि जैसे 15 दिन, 30 दिन या अन्य किसी अवधि के लिए दी जाये तो इसकी कोई लागत नहीं होती है । सामान्यत: व्यापारिक साख की तीन श्रेणियाँ होती हैं

i) खुला खाता (Open Account)
ii) विनिमय पत्र (Bill of Exchange)
iii) प्रतिज्ञात पत्र (Promissory Note)

i) **खुला खाता :** इस विधि में विक्रेता चालू खाते की सुविधा पर क्रेता के लिए एक उधार अवधि निर्धारित कर देता है । इस सम्बन्ध में कोई औपचारिक समझौता नहीं होता, जैसे ही उधार अवधि समाप्त हो जाती है, क्रेता द्वारा भुगतान करके अपना दायित्व पूरा कर दिया जाता है । विक्रेता द्वारा वस्तु बिक्री बढ़ने पर इस खाते का उपयोग लगातार किया जाता है । यह सुविधा उन स्थायी ग्राहकों को दी जाती है जो निरन्तर माल खरीदते रहते है ।

ii) **विनिमय पत्र :** यहाँ विक्रेता माल बेचने के साथ ही माल के मूल्य की भुगतान तिथि का एक विनिमय पत्र क्रेता के नाम लिख देता है । विनिमय विपत्र में लिखी हुई तिथि पर विक्रेता क्रेता से भुगतान की मांग कर लेता है तथा क्रेता भुगतान तिथि पर विक्रेता को भुगतान कर देता है । इन पत्रों का उपयोग अधिकांशतया तब किया जाता है, जबकि विक्रेता को क्रेता पर कुछ कम विश्वास होता है ।

iii) **व्यापारिक स्वीकृति :** व्यापारिक साख की इस व्यवस्था में विक्रेता द्वारा क्रेता को वस्तुओं की सुपुर्दगी, क्रेता से स्वीकृति प्राप्त करने के बाद दी जाती है । यहीं क्रेता विक्रेता को वस्तु का भुगतान सामान्यतया अधिविकर्ष द्वारा करता है ।

व्यापारिक साख के लाभ (Advantages of Trade Credit)

1. यह आसानी से उपलब्ध हो जाती है ।
2. यहाँ विशेष वैधानिक औपचारिकताएँ पूरी नहीं करनी पड़ती ।
3. उधार की शर्तों में सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है ।
4. यह वित्त प्राप्ति का सस्ता साधन है ।
5. यह लोचपूर्ण स्रोत है क्योंकि नकदी के अभाव में भी इसका उपयोग किया जा सकता है।
6. किसी सम्पत्ति पर प्रभार उत्पन्न नहीं होता है ।
7. यहाँ थोड़ा-थोडा भुगतान किया जा सकता है ।

व्यापारिक साख के दोष (Disadvantages of Trade Credit)

1. माल के चयन का पूरा अवसर नहीं मिल प.ग़ क्योंकि जहाँ माल पसंद हो वहीं से उधार क्रय की सुविधा मिले, यह आवश्यक नहीं है ।
2. नयी संस्थाओं को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो पाती है, क्योंकि विक्रेता क्रेता को नहीं जानता है ।

3. माल उधार पर महंगा मिलता है ।
4. ग्राहक को प्राय: घटिया माल भी स्वीकार करना पड़ता है ।
5. समय पर भुगतान न करने पर ग्राहक की प्रतिष्ठा को धक्का लगता है ।

3. बैंक साख (Bank Credit)

ये बैंक अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता को पूरा करते हैं, क्योंकि ये बैंक अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं । अत: इनके द्वारा दिये गये ऋणों को चालू पूंजी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । ये बैंक सुरक्षित व असुरक्षित ?ण प्रदान करते हैं । इन बैंकों द्वारा निम्नलिखित प्रकार से सहायता प्रदान की जाती है ।

i) ऋण
ii) साख की सीमा
iii) नकद साख
iv) अधिविकर्ष
iv) बिलों की कटौती

4. वाणिज्यिक पत्र (Commercial Paper)

वाणिज्यिक पत्र अल्पकालीन कोषों की प्राप्ति के लिए व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए बट्टा आधार पर वाहक को देय एक असुरक्षित प्रतिज्ञा पत्र है । इस प्रकार वाणिज्यिक पत्र अल्पावधि के असुरक्षित ऋण का प्रमाण पत्र है । भारत में वाणिज्यिक पत्र की न्यूनतम अवधि 91 दिन तथा अधिकतम अवधि 180 दिन है । केवल वे ही कम्पनियाँ इन पत्रों का निर्गमन कर सकती है जिनकी शुद्ध कीमत अधिकतम अवधि 1 वर्ष है । वाणिज्यिक पत्र का न्यूनतम निर्गमन 25 लाख रूपये के बराबर हो सकता है । ये किसी भी संस्था की कार्यशील पूँजी की पूर्ति का उपयोगी साधन है ।

II. आंतरिक स्रोत (Internal Sources)

प्रति धारित अर्जने (Retained Earnings) किसी भी औद्योगिक संस्था को जितना लाभ होता है उस समस्त लाभ को अंशधारियों में वितरित नहीं किया जाता, बल्कि कुल लाभ के एक भाग को बचाकर रख लेते हैं । इस बचत को विभिन्न संचय कोषों या आधिक्य के रूप में रखा जाता है । इस प्रकार की बचत का भविष्य में कंपनी की स्थायी या कार्यशील पूंजी के लिए प्रयोग किया जा सकता है । इसे आंतरिक साधनों द्वारा वित्त प्रबंधन अथवा लाभों का पुनर्विनियोजन कहते हैं । इस प्रकार लाभों का पुनर्विनियोजन वित्तीय प्रबन्ध की एक तकनीक है जिसमें एक कम्पनी के समस्त लाभों को अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित नहीं किया जाता है, बल्कि लाभों का एक भाग व्यवसाय में रोक लिया जाता है या पुनर्विनियोजित कर दिया जाता है । यह स्रोत संचालकों की दूरदर्शिता एवं विवेक का परिणाम होता है कि वे कार्यपूंजी में वृद्धि के लिए स्वामित्व पूंजी का सृजन करते हैं ।

प्रति धारित अर्जनों से लाभ (Advantages of Retained Earnings)

1. **व्यापार चक्रों से सुरक्षा:** लाभों के पुनर्विनियोजन में कम्पनी को तेजी मंदी काल में पर्याप्त कोष उपलब्ध रहने से सदैव सुरक्षा बनी रहती है । कम्पनी मंदी की अनिश्चितता की स्थिति में भी अपने पर्याप्त कोषों के कारण मंदी का मुकाबला कर सकती है ।
2. **वित्त का सबसे मितव्ययी साधन :** कम्पनी के लिए प्रति धारित अर्जने वित्त का सबसे मितव्ययी स्रोत है, क्योंकि जहां एक ओर इससे लागत रहित पूंजी प्राप्त होती है वहां दूसरी ओर इसे प्राप्त करने में कोई खर्चा नहीं करना पड़ता ।
3. **नियंत्रण में कमी नहीं :** लाभों के पुनर्विनियोजन के कारण कंपनी की पूंजी संबंधी भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये अंशों का निर्गमन नहीं करना पड़ता । केवल बोनस अंश जारी किये जा सकते हैं ।
4. **जीवन स्तर में वृद्धि :** लाभों का पुनर्विनियोजन वित्त-पोषण की सर्वाधिक मितव्ययी विधि है । इससे उत्पादकता में वृद्धि होती है तथा माल की लागत घट जाती है । उपभोक्ताओं को कम मूल्य पर अच्छी किस्म का नवीन उत्पाद उपलब्ध में हो जाता है, जिसका क्रय वे अपेक्षाकृत कम त्याग करके कर सकते है ।
5. **पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन :** लाभों का उत्पादक कार्यो में निवेश करने से देश में पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि जब व्यावसायिक संस्था अपनी प्रति धारित अर्जनों को विकास एवं विस्तार पर खर्च करती है तो पूँजीगत संसाधनों में वृद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है ।
6. **आय एवं रोजगार में वृद्धि :** जब देश में उत्पादक उद्योग अपनी प्रति धारित अर्जनों को पुन: लाभकारी व्यवसायों एवं उद्योगों में विनियोग करते है तो न केवल रोजगार बढ़ता है वरन् आय में वृद्धि होती है ।

प्रति धारित अर्जनों के दोष (Disadvantages of Retained Earnings)

1. **बचत का दुरूपयोग :** वास्तव में लाभों का पुनर्विनियोजन करना तो सरल है, किंतु इस राशि का सदुपयोग करना कठिन है । अनेक स्वार्थी प्रबन्धक पुनर्विनियोजन द्वारा बचाई गई राशि का अपने समूह की दूसरी संस्थाओं में दुरूपयोग करते हैं, जिससे विनियोक्ताओं के हितों पर कुठाराघात होता है । इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए भारतीय कम्पनी अधिनियम में संशोधन करके अन्त: कम्पनी विनियोगों पर प्रतिबन्ध लगाया गया है ।
2. **अति पूँजीकरण का भय :** आर्थिक तेजी के समय जब प्रति धारित अर्जनों का उपयोग बोनस अंश जारी करके पूँजी की मात्रा बढायी जाती है और मंदी के समय इस बढ़ी हुई पूंजी की मांग नहीं रहती तब अति पूँजीकरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है और कम्पनी अपने अंशों पर उचित प्रत्यय देने में अपने आपको असमर्थ पाती है ।
3. अंशों के मूल्यों में छल-कपट लाभों का अत्यधिक संचय प्रबंध को अंशों के मूल्य में छल-कपट के लिए प्रेरित करता है । **अधिक लाभों का संचय करके नीची दर से लाभांश वितरित किये जाते हैं.** जिससे बाजार में **अंशों का मूल्य गिर जाता है ।** प्रबन्धक इन

बढ़े हुये मूल्यों पर पूर्व में खरीदे गये अपने अंशों को बेच देते हैं और लाभ कमाते हैं । सामान्य विनियोजक प्रबन्धकों की इस प्रकार की जालसाजी से अनभिज्ञ रहते हैं ।

4. **कर दायित्व कम करने का प्रयास :** कई कम्पनी प्रबन्धक आयकर दायित्व से बचने के लिए अपने लाभों को अंशधारियों में लाभांश में न बांटकर उनका पुनर्विनियोग करते हैं और बाद में ऐसे संचित कोषों का उपयोग बोनस अंश जारी करने में कर सकते हैं । इससे सरकारी आय में कमी आती है ।
5. **एकाधिकार का निर्माण :** लाभों को अत्यधिक पुनर्विनियोजन से विद्यमान इकाईयाँ बहुत अधिक शक्तिशाली बन जाती है । इन इकाइयों के पास कोषों की अधिकता के कारण अत्यधिक पूंजी जमा हो जाती है जो एकाधिकार की प्रवृत्ति को जन्म देती है । इस प्रकार नयी संस्थाओं के आगे बढ़ने की सभावनाऐं कम हो जाती है।

ग्राहकों से अग्रिम (Advances from Customers)

आजकल कई उत्पादक तथा विक्रेता अपने द्वारा बेचे जाने वाले माल के आदेश के साथ-साथ ग्राहकों से अग्रिम की मांग करते हैं । यह अग्रिम राशि वस्तु की सुपुर्दगी तक विक्रेता के पास रहती है । इस पर कोई ब्याज नहीं दिया जाता । ग्राहकों से अग्रिम प्राय: उन उत्पादकों तथा विक्रेताओं द्वारा लिया जाता है, जिनके उत्पादों की मांग अधिक हो तथा ग्राहकों को जिन पर विश्वास हो । एकाधिकारी विक्रेता भी अपने ग्राहकों से अग्रिम जमा की शर्त पूरी करा कर काफी राशि एकत्रित कर सकते हैं ।

4.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध

विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ-I : विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ उचित ब्याज दरों पर उद्योगों को पूँजी उपलब्ध कराने एवं अन्य सहायता प्रदान करने का कार्य करती है । उद्यम वर्तमान में अपनी पूँजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काफी सीमा तक इन पर निर्भर है । वर्तमान में विशिष्ट संस्थाओं के महत्व एवं भूमिका को केवल एक ही महत्वपूर्ण तथ्य से समझा जा सकता है कि वर्तमान में देश की प्रत्येक बड़ी कम्पनी में कुल पूँजी की लगभग एक तिहाई की पूर्ति इन्हीं के द्वारा की गयी है । परिवर्तन वाक्यांश की व्यवस्था के कारण इन संस्थाओं के द्वारा किये गये ऋणों का कुछ भाग अंश पूँजी में परिवर्तन होने से इनकी भी प्रत्यक्ष हिस्सेदारी इन कम्पनियों में बन गयी है ।

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India)

1. **स्थापना** : भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना केन्द्रीय सरकार ने 1 जुलाई 1948 को औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम 1948 के अन्तर्गत की थी । इसे देश की प्रथम वित्तीय संस्था होने का गौरव प्राप्त है ।
2. **उद्देश्य :** इस निगम की स्थापना का मुख्य उद्देश्य द्वितीय विश्व युद्ध के बाद देश में तेजी से औद्योगिकरण की इच्छा को पूरा करने, विभिन्न उद्योगों को अपनी पुरानी मशीनरी को बदलने एवं आधुनिकीकरण के लिये मध्यमकालीन पूंजी उपलब्ध कराना है।
3. **कार्य :** भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के कार्य मुख्य रूप से निम्नलिखित है:

- विभिन्न औद्योगिक इकाइयों को दीर्घकालीन अवधि के लिए ऋण उपलब्ध कराना, परन्तु ऋण की अधिकतम अवधि 25 वर्षों से अधिक नहीं होगी ।
- औद्योगिक इकाइयों द्वारा देश के अन्तर्गत अथवा विदेश के किसी स्रोत लिये गये दीर्घकालीन ऋण की प्रत्याभूति देना ।
- जनता से निक्षेप अथवा जमाएँ स्वीकार करना । ये जमाएँ एक वर्ष से लेकर तीन वर्षों तक अवधि की हो सकती है । जनता को इन जमाओं पर बैंकों से ऊँची दर पर व्याज मिल जाता है ।
- औद्योगिक इकाइयों के अंशों एवं ऋणपत्रों को क्रय करना ।
- देश के ऐसे क्षेत्र जो औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछड़े हैं, उनमें औद्योगिक प्रवर्तन का कार्य करना ।
- केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना ।
- विश्व बैंक के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना ।
- अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी बैंकों से प्राप्त ऋणों की प्रत्याभूति देना ।

4. **आर्थिक साधन :** भारतीय औद्योगिक वित्त निगम उद्योगों को मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताएँ पूरी कर सके, इसके लिये इसके आर्थिक साधन भी विस्तृत हैं । भारत सरकार, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियों विनियोग प्रयास एवं सहकारी समितियाँ इसके अंशधारी हैं । निगम अपने आर्थिक साधनों की व्यवस्था करने के लिये खुले बाजार में ऋणपत्रों का निर्गमन करके धन प्राप्त कर सकता है । इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर भारतीय रिजर्व बैंक से भी 18 महीनों के लिये 3 करोड़ रूपये उधार लेने का अधिकार निगम को है । निगम को विश्व बैंक से भी विदेशी मुद्रा उधार लेने का अधिकार है ।
5. **संगठन एवं प्रबन्ध** : निगम का प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में है । निगम के प्रधान कार्यालय के नियंत्रण में 8 क्षेत्रीय कार्यालय है । इसके अतिरिक्त निगम के आठ शाखा कार्यालय हैं । निगम का प्रबन्ध करने के लिये एक संचालक मण्डल की नियुक्ति की गई है । इस संचालक मण्डल में चेयरमैन सहित 13 सदस्य होते हैं । चैयरमैन की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है । चेयरमैन का कार्यकाल 3 वर्ष का होता है । निगम के संचालक मण्डल में चेयरमैन के अतिरिक्त 12 संचालक होते हैं । इनमें 2 संचालकों की नियुक्ति केन्द्रीय संचालक मण्डल द्वारा की जाती है । इरा प्रकार चेयरमैन के अतिरिक्त 12 संचालकों द्वारा निगम के संचालक मण्डल का गठन होता है । इनमें से 8 का मनोनयन होता है एवं 6 का निर्वाचन होता है । चेयरमैन के अतिरिक्त शेष संचालक अंशकालीन प्रकृति के होते हैं । संचालक मण्डल की सहायता के लिये निगम ने 6 मुख्य उद्योगों के लिये 6 समितियों का गठन किया है । ये समितियाँ वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, इंजीनियरिंग उद्योग, रसायन उद्योग एवं होटल उद्योग के लिये गठित की गयी है । कानूनी एवं वैधानिक मामलों में संचालक मण्डल को विधि सम्मत परामर्श देने के लिए पृथक विधि विभाग की स्थापना की गयी है ।

6. निषेध कार्य : भारतीय औद्योगिक वित्त निगम निम्नलिखित कार्यो को नहीं कर सकता है.

- निगम साझेदारी फर्म को ऋण नहीं दे सकता ।
- निगम कच्चे माल एवं निर्मित वस्तुओं की प्रत्याभूति पर ऋण नहीं दे सकता । निगम ऋण लेने वाली कम्पनी के संचालक मण्डल के किसी सदस्यों या सदस्यों की वैयक्तिक प्रत्याभूति लेकर ऋण नहीं दे सकता है ।
- निगम अपनी अंशों की प्रत्यग्रित पर ऋण नहीं देता है ।
- जनता से सीधे 20 करोड़ रूपये से अधिक की राशि जमा अथवा निक्षेप प्राप्त नहीं कर सकता ।
- किसी भी व्यक्तिगत औद्योगिक इकाई को 1 करोड़ रूपये से अधिक का ऋण नहीं दे सकता । इससे अधिक राशि के ऋण के लिये केन्द्रीय सरकार की गारंटी ली जा सकती है ।

7. **ऋण देने की कार्यविधि :** उत्पादन, खनन, जहाजरानी एवं विद्युत के उत्पादन एवं वितरण में लगी जो औद्योगिक इकाई मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण भारतीय औद्योगिक वित्त निगम से लेना चाहती है, उन्हें निर्धारित आवेदन पत्र भरकर प्रस्तुत करना होता है । आवेदक को यह ध्यान रखना चाहिये कि ऋण की प्रतिभूति के रूप में जिन वस्तुओं का उल्लेख किया गया है वे स्थायी सम्पत्तियाँ हों । इसके अतिरिक्त निगम के किसी संचालक ने प्रस्ताव ऋण के लिये व्यक्तिगत प्रत्याभूति दी हो । निगम आवेदन पत्र की जाँच करता है एवं यह सुनिश्चित करता है कि कहीं प्रस्तावित ऋण स्वीकृत करने से ऋण देने की शर्तों का उल्लंघन तो नहीं हो जावेगा । संतुष्ट होने पर ऋण स्वीकृत कर दिया जाता है । निगम अनुसूचित पिछड़े क्षेत्रों में चलायी गयी परियोजनाओं के लिये दिये जाने वाले ऋणों पर रियायती दरों पर ब्याज वसूल करता है ।

8. **नयी संवर्द्धन योजनाएँ :** पिछले कुछ वर्षों में निगम ने कुछ संवर्धन परियोजनाएँ प्रारम्भ की हैं । इनमें से मुख्य इस प्रकार हैं -

- महिला उद्यमियों के लिये ब्याज अनुदान योजना ।
- अति लघु इकाइयों एवं अनुषंगी इकाइयों की आधुनिकीकरण योजनाओं को प्रोत्साहित करना ।
- निगम अपनी क्रियाओं का क्रमश: विस्तार करता जा रहा है । निगम ने व्यापारिक बैंकिंग के क्षेत्र में भी पिछले वर्षों में उल्लेखनीय कार्य किया है । ऋणों के एकत्रीकरण, विलयन एवं सम्मेलन कार्य एवं परियोजना परामर्श के क्षेत्र में निगम ने कार्य किया है।

9. समस्यायें एवं आलोचनाएँ

- **प्रभावी नियंत्रण व्यवस्था का अभाव :** निगम से ऋण प्राप्त करने वाली औद्योगिक इकाई ऋण का किस प्रकार उपयोग करती है, इसकी निगरानी के लिये निगम के पास प्रभावी व्यवस्था का नितान्त अभाव है ।

- **ऋण स्वीकृति की लम्बी प्रक्रिया :** निगम की इस बात के लिये भी आलोचना की जाती है कि इसकी ऋण स्वीकृत करने की प्रक्रिया अनेक वैधानिक औपचारिकताओं से भरी है । अधिकारियों का नौकरशाही रवैया इसे और जटिल बना देता है ।
- **ऊँची ब्याज दर :** निगम के द्वारा रूपये में दिये गये ऋणों पर 11.25 प्रतिशत एवं विदेशी ऋणों पर 11.50 प्रतिशत की दर से ब्याज लिया जाता है । यह ब्याज दर किसी भी प्रकार से कम नहीं है ।
- **आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को बल :** निगम द्वारा दिये गये अधिकांश ऋण प्रभावशाली व्यक्तियों एवं स्थापित औद्योगिक घरानों को ही दिये गये हैं । इससे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को ही बल मिलता है ।
- **संतुलित क्षेत्रीय विकास में असफल :** निगम की इस बात को लेकर भी आलोचना की जाती है कि यह संतुलित क्षेत्रीय विकास करने में असफल रहा है । निगम के द्वारा स्वीकृत ऋणों की राशि में मेघालय, नागालैण्ड, त्रिपुरा एवं सिक्किम का हिस्सा नाम मात्र का रहा है ।

10. सुझाव: भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की कार्यकुशलता एवं प्रभावशीलता को निम्नलिखित सुझावों द्वारा उनके व्यावहारिक उपयोग से बढाया जा सकता है :

- ऋण देने की प्रक्रिया या सरलीकरण किया जाना चाहिए ।
- निगम की वित्तीय प्रबन्धकों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए ।
- सभी क्षेत्रों में समान रूप से सहायता दी जा सके, इसलिये निगम को अन्य कार्यरत वित्तीय संस्थाओं से प्रभावशाली समन्वय स्थापित करना चाहिए ।
- निगम के संचालक मण्डल में उद्योगपतियों का भी उचित समावेश किया जाना चाहिये । इससे निगम की नीतियाँ एवं कार्यक्रम अधिक व्यावहारिक बनाये जा सकेंगे ।
- निगम को ऋण देते समय उपभोक्ता उद्योगों के स्थान पर आधारभूत उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिए ।
- निगम के कोषों में और वृद्धि की जानी चाहिए जिससे निगम अधिक मात्रा में व अधिक इकाइयों को ऋण उपलब्ध करा सके ।

विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ - ॥

1. **पृष्ठभूमि :** यह अनुभव किया गया कि भारतीय औद्योगिक वित्त निगम विशेषकर बड़े उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, जिनका स्वामित्व सार्वजनिक अथवा सहकारी समितियों के नियंत्रण में हो । इसलिये प्रत्येक राज्य में ऐसी विशिष्ट वित्तीय संस्था की स्थापना की कल्पना की गयी, जो इस विशिष्ट आवश्यकता को पूरी कर सके ।
2. **स्थापना :** इसी कल्पना को मूर्त रूप देने के लिये संसद ने 28 दिसम्बर 1951 को राज्य वित्त निगम अधिनियम पारित किया । इस अधिनियम के पारित होने से प्रत्येक राज्य सरकार को अपने राज्य में वित्त निगम स्थापित करने का अधिकार मिल गया ।

3. **उद्देश्य :** राज्य वित्त निगमों की स्थापना मुख्य रूप से निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये की गयी है:

- अंशों एवं ऋणपत्रों में प्रत्यक्ष अभिदान करना ।
- अंशों एवं ऋण पत्रों का अमिगोपन करना ।
- निक्षेप स्वीकार करना ।
- राज्य स्तर पर लघु एवं मध्यम उद्योगों, साझेदारी फर्मो एवं एकाकी व्यापार करने वाले व्यापारियों को ऋण उपलब्ध कराना ।

4. **कार्य**

- औद्योगिक संस्थाओं को अधिकतम 20 वर्ष की अवधि के लिये ऋण उपलब्ध कराना ।
- पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित लघु औद्योगिक इकाइयों को ऋण देना ।
- केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं की ओर से ऋण वितरण में उनके एजेन्ट के रूप में कार्य करना ।
- भारत में खरीदे गये पूंजीगत सामान के संबंध में किसी औद्योगिक इकाई के स्थगित भुगतान की प्रत्याभूति देना ।

5. **प्रबन्ध :** इन निगमों का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है । संचालक मण्डल में अध्यक्ष एवं संचालकों सहित 12 सदस्य होते है । इसमें चेयरमैन, प्रबन्ध संचालक एवं 3 संचालकों की नियुक्ति राज्य सरकार करती है । इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, अनुसूचित बैंकों एवं सहकारी समितियों को भी अपना संचालक नियुक्त करने का अधिकार होता है ।
6. **वित्तीय साधन :** राज्य वित्त निगम अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार राज्य सरकार न्यूनतम 50 लाख एवं अधिकतम 50 करोड़ के बीच आवश्यकतानुसार अधिकृत पूँजी निर्धारित करने का अधिकार रखती है निगम की अंश पूंजी को सम्बन्धित राज्य सरकार, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, अनुसूचित बैंकों एवं सहकारी बैंकों, बीमा कम्पनियों, विनियोग संस्थाओं एवं सहकारी समितियों द्वारा क्रय किया जाता है ।

राजस्थान वित्त निगम (Rajasthan Financial Corporation)

1. **स्थापना** : राज्य वित्त निगम की स्थापना 'राज्य वित्त निगम अधिनियम'' (1951) के अन्तर्गत राजस्थान सरकार ने 17 जनवरी 1955 में की । निगम ने विधिवत 8 अप्रेल 1955 से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया ।
2. **उद्देश्य:** निगम मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्यो को सम्पन्न करेगा

- लघु एवं मध्यम स्तर के उद्योगों को अधिकतम 20 वर्ष की अवधि के लिये ऋण देना।
- औद्योगिक इकाइयों के अंशों एवं ऋणपत्रों में प्रत्यक्ष अभिदान करना ।
- निगम अपने अंशों की प्रतिभूति पर ऋण स्वीकृत नहीं करेगा ।
- निगम प्रत्यक्ष रूप से किसी औद्योगिक इकाई के अंशों को क्रय नहीं करेगा ।

3. **प्रबन्ध :** निगम का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है । इस संचालक मण्डल में चेयरमैन एवं प्रबन्ध संचालक सहित 12 सदस्य हैं । चेयरमैन एवं प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है । इसके अतिरिक्त 4 संचालकों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है । भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा 2 संचालकों की नियुक्ति की जाती है । भारतीय रिजर्व बैंक को निगम के संचालक मण्डल में 1 संचालक नियुक्त करने का अधिकार है । बीमा कम्पनियों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के द्वारा निर्वाचन के माध्यम से निगम के संचालक मण्डल में 1 संचालक को नियुक्त किया जाता है । निगम के चैयरमैन एवं प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति पूर्णकालीन आधार पर होती है, शेष संचालक अंशकालीन प्रबन्धक होते हैं । संचालक मण्डल की सहायता के लिये एक कार्यकारिणी समिति का गठन किया है ।

4. समस्याएँ एवं आलोचनाएँ :

i) ऋणों की स्वीकृति एवं वितरण में अंतर - निगम ने वर्ष 2004-2005 के दौरान 170.72 करोड़ रूपयों के ऋण का ही वितरण कर पाया । इस प्रकार ऋणों की स्वीकृति एवं उनके वितरण में भारी अंतर है ।

ii) **सहायता में क्षेत्रीय संतुलन का अभाव :** निगम राजस्थान के सभी क्षेत्रों को समान मदद करने में सफल रहा है । निगम ने राजस्थान के सबसे विकसित औद्योगिक क्षेत्र जयपुर को सर्वाधिक सहायता उपलब्ध करायी है ।

iii) **नौकरशाही हावी :** निगम के चेयरमैन एवं प्रबन्ध संचालक भारतीय प्रशासन सेवा के व्यक्ति होते है । इसके अतिरिक्त भी संचालक मंडल में नौकरशाह होते हैं । इसलिए नौकरशाही निगम में भी है । इससे निर्णयों को लेने एवं उनके क्रियान्वयन में देरी होती है । नियमों एवं कानूनों को ज्यादा वरीयता दी जाती है ।

iv) **अंशों पर अभिदान एवं अमिगोपन पर ध्यान नहीं :** निगम ने विभिन्न औद्योगिक इकाइयों के अंशों के अमिगोपन एवं अभिदान पर विशेष ध्यान नहीं दिया है ।

v) **प्रतिभूति के सम्बन्ध में कठोर नीति :** निगम ऋण की जमानत के सम्बन्ध में कठोर नीति अपनाता है । इसके कारण कई औद्योगिक इकाईयाँ ऋण प्राप्त नहीं कर पाती हैं।

vi) **जन निक्षेप प्राप्त करने में ध्यान नही :** निगम ने यद्यपि ऋणपत्रों के माध्यम रो ऋण प्राप्त करने में रूचि दिखाई है । परन्तु सार्वजनिक जमाओं अथवा निक्षेपों को आमंत्रित करने में विशेष रूचि नहीं दिखाई है ।

5. **सुझाव :** निगम की कार्यकुशलता मे अभिवृद्धि करने एवं इसे प्रभावी बनाने के लिये निम्नलिखित सुझावों का क्रियान्वयन उपयोगी रहेगा :

i) निगम को राजस्थान के सभी क्षेत्रों को ऋण उपलब्ध कराने के लिये एक सुविचारित नीति बनानी चाहिए । जिन जिलों की अभी तक उपेक्षा की गयी है, उन पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

ii) निगम को अपनी योजनाओं एवं कार्यक्रमों का विभिन्न प्रचार माध्यमों द्वारा प्रभावी प्रचार करना चाहिए ।

iii) निगम को जनता से सीधे जमाएँ एवं निक्षेप प्राप्त करने पर ध्यान देना चाहिए ।

iv) निगम को अपने बकाया ऋणों की समयबद्ध वसूली पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

v) निगम की औद्योगिक इकाइयों के अभिदान एवं अमिगोपन के कार्य भी हाथ में लेने चाहिए ।

vi) निगम को अन्य वित्तीय संस्थाओं के साथ प्रभावी समन्वय पर जोर देना चाहिए । निगम को विशेषकर जिला उद्योग केन्द्रों एवं रीको के साथ विशेष रूप से समन्वय रखना चाहिए ।

4.8 विशेषताएँ

किसी व्यवसाय को सफलता पूर्वक चलाने के लिये कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी, इसका निर्धारण करना जटिल है । सामान्यत: निम्न विशेषताएँ व्यवसाय की वित्तीय व्यवस्था को निर्धारित करने में सहायता प्रदान करती है -

i) **व्यवसाय का आकार :** यदि व्यवसाय का आकार वृहद् है तो उसे पूंजी की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता होगी, जबकि लघु आकार के व्यवसाय कम पूँजी से काम चला सकेंगे ।

ii) **व्यवसाय की प्रकृति :** पूँजी सघन व्यवसाय जैसे इस्पात, लोहा आदि जहाँ अधिकांश कार्य मशीनों की सहायता से किया जाता है, अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी, इसके विपरीत श्रम साधन व्यवसाय जहाँ श्रमिकों की आवश्यकता अधिक होती है ।

iii) **भावी विस्तार की संभावनाएँ :** जिन व्यवसायों के अंतर्गत भविष्य में विस्तार एवं विकास की संभावनाएँ कम होती है, उनमें अपेक्षाकृत कम पूंजी की आवश्यकता होती है।

iv) **प्रबन्ध :** ऐसे व्यवसाय जिनमें प्रबन्धक पेशेवर है व उनकी मुद्रा बाजार में अच्छी साख है, उनमें कम वित्त की व्यवस्था करनी होती है इसके विपरीत यदि प्रबन्ध परम्परावादी है तथा गोपनीयता को अधिक महत्व देते हैं तो वहाँ अधिक वित्त की व्यवस्था करनी होगी ।

v) **वातावरण :** यदि देश में लोगों की रूचि विनियोग की ओर अधिक है व वातावरण विनियोग के पक्ष में है तो पूँजी की कम आवश्यकता होगी ।

vi) **सरकारी नीतियाँ :** यदि सरकार की नीति उदार व वित्त प्राप्त करने के नवीन साधनों को प्रोत्साहित करने के स्थान पर कठोर एवं वैधानिक औपचारिकता प्रधान होगी तो वहाँ व्यवसाय को अधिक वित्त की आवश्यकता होगी ।

vii) **वित्त प्राप्ति के स्रोत :** यदि देश में वैकल्पिक एवं सुविधाजनक वित्त प्राप्ति के साधन उपलब्ध हैं तो कम पूंजी की आवश्यकता होगी ।

4.9 आधार

वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाने के पश्चात् वित्तीय प्रबन्ध का कार्य सही तरीके से कम से कम लागत पर संस्था के लिए कोषों की व्यवस्था करना है । जैसा कि हंट, विलियम एवं डोलंग्डसन ने कहा है कि वित्तीय प्रबन्ध का कार्य संस्था द्वारा आवश्यक कोषों को अधिकतम अनुकूल शर्तों पर उपलब्ध कराना है । एक व्यावसायिक संस्था चाहे वह निजी हो अथवा सार्वजनिक उसे कई चीजों की आवश्यकता पड़ती है, अत: उसके लिए स्थायी पूंजी की आवश्यकता होती है । स्थायी पूंजी आवश्यकताओं की पूर्ति वित्त के दीर्घकालीन स्रोतों से की जाती है तथा कार्यशील पूंजी सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति वित्त के अल्पकालीन स्रोतों से की जाती है । समयानुसार व्यावसायिक वित्त का विभाजन दीर्घकालीन, मध्यमकालीन तथा अल्पकालीन वित्त में किया जाता है, किन्तु इस संबंध में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि तार्किक रूप से व्यावसायिक वित्त दीर्घकालीन और अल्पकालीन दो ही प्रकार का होता है ।

4.10 उदाहरण

i) एक नवस्थापित संस्था के लिए मध्यमकालीन वित्त की आवश्यकता नहीं होती है, जबकि दस-पन्द्रह वर्ष पुरानी संस्था के लिए इस प्रकार के वित्त की अत्यधिक आवश्यकता होती है । इस प्रकार व्यवहार में वास्तव में वित्त दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन ही होता है ।

ii) चौपहिया वाहन की एडवान्स बुकिंग में काफी अग्रिम राशि वसूल की गई । यही हाल बहुत पहले दुपहिया वाहन की बुकिंग में था । आज भी कई उत्पादक तथा विक्रेता अपने चुने ग्राहकों को अपने उत्पाद के अधिकृत विक्रेता के रूप में नियुक्त करने के लिए काफी रकम अग्रिम के रूप में लेते हैं ।

4.11 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वित्त के बिना किसी उपक्रम को आरंभ नहीं किया जा सकता है और न ही उसे सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है । आवश्यकतानुसार पर्याप्त वित्त व्यवस्था व्यावसायिक सफलता का मूलमंत्र है । वित्त को वास्तव में व्यावसायिक तथा औद्योगिक सफलता की कुंजी कहा जा सकता है । व्याव्सायिक क्रियाओं के लिए वित्त एक शक्ति के रूप में कार्य करता है जिसके माध्यम से क्रियाओं की उत्पादकता में वृद्धि की जाती है।

4.12 अभ्यास

वस्तुनिष्ठ प्रश्न : सही विकल्प चुनिये -

1. वित्त व्यवस्था का अर्थ है.

   अ पूँजी जुटाना ब. धन प्राप्त करना स धन प्राप्त करना तथा व्यय करना

   द. व्यवसाय द्वारा धन प्राप्त करने तथा करने की कला एवं विज्ञान

   य. वित्त सम्बन्धी प्रशासकीय लक्ष्य

2. अल्पकालीन वित्त का एक स्रोत है :

   अ अंश ब. हास कोष स ऋण पत्र स. ऋण पत्र

   द. लाभ का पुनर्विनियोजन य. विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ

3. भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की गयी :

   अ 1 मई. 1948 को ब. 1 जून, 1948 को स 1 जुलाई, 1948 को

   द. 1 अगस्त 1948 को य. 1 सितम्बर, 1948 को

4. राजस्थान वित्त निगम की स्थापना किस वर्ष में हुई?

   अ सन् 1951 में ब. सन् 1953 मे स सन् 1955 में

   द सन् 1957 में य. सन् 1960 में

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न :

1. 'अंश से क्या आशय है?
2. राजस्थान वित्त निगम की स्थापना का मुख्य उद्देश्य बताइये ।
3. अधिमान अंश की परिभाषा दीजिये ।
4. अल्पकालीन वित्त के तीन बाह्य स्रोतों के नाम बताइये ।
5. व्यापारिक साख से क्या आशय है?
6. वाणिज्यिक पत्र क्या है?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न:

1. समता अंश कम्पनी के लिए किस प्रकार लाभप्रद है?
2. लाभों का अत्यधिक पुनर्विनियोजन सामाजिक बर्बादी है । स्पष्ट कीजिये ।

निबन्धात्मक प्रश्न:

1. भारतीय उद्योगों में दीर्घकालीन वित्त पूर्ति के विभिन्न साधनों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये ।
2. भारत में उपलब्ध अल्पकालीन वित्त के स्रोतों का वर्णन कीजिये ।
3. समता अंश से क्या आशय है? समता अंश के गुण-दोष बताइये ।
4. व्यापारिक साख क्या है? व्यापारिक साख के प्रकार तथा विभिन्न शर्तें बताइये ।
5. एक कम्पनी के वित्तीय स्रोतों के रूप में पूर्वाधिकारी अंशों एवं समता अंशों का मूल्यांकन कीजिये ।

4.13 उपयोगी पुस्तकें

1. वित्तीय प्रबन्ध के मूल तत्व - एम. आर. अग्रजा
2. वित्तीय प्रबन्ध के तत्व अग्रजा - अग्रवाल
3. वित्तीय प्रबन्ध - बी.एल. ओझा, बी. के. दोषी, के. एस. मेहता
4. Finance Management - M. R. Agarwal

इकाई - 5 : स्कन्ध विनिमय केंद्र (Stock Exchange)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 इतिहास एवं विकास

5.3 अर्थ एवं परिभाषा

5.4 महत्व

5.5 क्षेत्र एवं प्रकृति

5.6 स्त्रोत

5.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध (स्कन्ध विनिमय बाजारों की आलोचना)

- स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का प्रबन्ध
- स्कन्ध विनिमय बाजार से सम्बन्धित तकनीकी शब्द
- प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम, 1956
- स्कन्ध विनिमय निदेशालय
- स्कन्ध विनिमय बाजार का संगठन
- मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय केन्द्रों की सूची
- समाशोधन गृह
- प्रतिभूतियों का सूचीयन
- केन्द्रीय सरकार का अधिकार
- जयपुर स्टॉक एक्सचेंज
- स्कन्ध विनिमय बाजारों के दोष दूर करने के उपाय

5.8 सिद्धान्त

5.9 कार्य

5.10 उदाहरण

5.11 सारांश

5.12 शब्दावली

5.13 अभ्यास

5.14 उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

किसी भी देश के आर्थिक विकास में स्कन्ध विपणि या स्कन्ध विनिमय केन्द्र महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । स्कन्ध विनिमय बाजार विभिन्न संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों की तरलता बनाये रखने में सहायक होते हैं । प्रतिभूतियों के सरलता से क्रय-विक्रय किये जाने से

विनियोक्ता निश्चिन्त बना रहता है । स्कन्ध विनिमय बाजारों की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :-

1. प्रतिभूतियों में होने वाले सौदों को नियमित तथा नियंत्रित करना ।
2. प्रतिभूतियों में व्यवहारों की मात्रा में वृद्धि द्वारा देश के व्यवसाय में वृद्धि करना ।
3. पंजीकृत सदस्यों को उनके व्यवसाय के लिए नियत स्थान नियमित बाजार तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करना ।
4. प्रतिभूतियों में व्यवहार करने वाले सदस्यों में सत्यनिष्ठा तथा उत्तरदायित्व के उच्चतम स्तर का निर्माण करना ।

5.1 प्रस्तावना

स्कन्ध विनिमय केन्द्र एक संगठित बाजार या संस्था है जिसकी स्थापना विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा की जाती है । यह संस्था अंशों, ऋण-पत्रों, सरकारी तथा बॉण्डों के क्रय-विक्रय एवं उनसे सम्बन्धित क्रियाओं में सहयोग प्रदान करती है । जब से संयुक्त कम्पनियों का संगठन किया जाने लगा है, स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का महत्व और अधिक बढ़ गया है । संयुक्त स्कन्ध कम्पनियाँ इन केन्द्रों के माध्यम से दूर-दूर तक फैले हुए विनियोजकों को कम्पनी में पूंजी लगाने के लिए आकर्षित करने में सफलता प्राप्त कर लेती है । ये केन्द्र संगठित बाजार के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ पर संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों का सरलता से क्रय-विक्रय किया जा सकता है और इस प्रकार ये केन्द्र, कम्पनी के अंशों को तरलता प्रदान करते हैं साथ ही अंशों के हस्तान्तरण को सुगम बनाते हैं ।

5.2 इतिहास एवं विकास

स्कन्ध विनिमय बाजारों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है । इनके विकास की कहानी सीमित दायित्व वाली सार्वजनिक कम्पनियों के विकास क्रम से जुड़ी हुई है । जैसे-जैसे इन कम्पनियों का विकास हुआ और इनकी पूंजी मे योगदान करने में सर्वसाधारण की रूचि में वृद्धि होने लगी, प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय, वृहत् परिणाम में होने लगे । सरकार तथा सार्वजनिक निगमों में धन एकत्रित करने के लिए पूँजी बाजार में प्रवेश करने से क्रय-विक्रय के लिए उपलब्ध प्रतिभूतियों की संख्या में वृद्धि हुई । प्रतिभूतियों में केवल तुरन्त सुपुर्दगी तथा भुगतान के सौदे नहीं होते अपितु भावी सौदे भी किए जाते हैं । इन सौदों के लिए विपणि स्थलों की शनै: शनै: स्थापना होने लगी और आज अनेक ऐसे विपणि स्थल देश-विदेश में स्थापित हैं । संसार का प्रथम स्कन्ध विनिमय बाजार सन् 1773 में लंदन में स्थापित किया गया । इसके तुरन्त बाद अन्य देशों जैसे फ्रांस, जर्मनी एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में स्कन्ध विनिमय बाजारों की स्थापना की गई । भारत में पहला स्कन्ध विनिमय बाजार **नेटिव शेयर एण्ड स्टॉक ब्रोकर्स एसोसिएशन मुम्बई** के नाम से सन् 1887 में स्थापित किया गया । इसकी स्थापना से पूर्व यद्यपि मुम्बई में प्रतिभूतियों में व्यवहार होते थे, किन्तु वे नियमित नहीं थे । यही अवस्था देश के अन्य प्रमुख शहरों की थी । जनवरी सन् 1950 से स्कन्ध विनिमय के नियमन एवं नियंत्रण का विषय केन्द्र सरकार के क्षेत्र में आ गया । सरकार ने सन् 1951 में गोरवाला समिति की

नियुक्ति की । वर्तमान प्रतिभूति अनुबन्ध (नियम) अधिनियम 1956 इसी समिति के परामर्श की परिणति है ।

5.3 अर्थ एवं परिभाषा

किसी भी देश के औद्योगिक विकास में स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का विशेष महत्व होता है । जब से संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों का संगठन किया जाने लगा है, स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का महत्व ओर अधिक बढ गया है । संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों के विकास के साथ पूँजी का एकत्रीकरण सर्व साधारण से किया जाने लगा है और इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी कि विनियोक्ताओ की सुविधा के लिए इस प्रकार के बाजार स्थापित हों जिनके द्वारा प्रमण्डलों की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जा सके । आज की सरकारें भी वित्तीय साधनों की पूर्ति के लिए प्रतिभूतियों का निर्गमन करती हैं, जिनका क्रय-विक्रय भी विनियोक्ता स्कन्ध विनिमय बाजार के माध्यम से कर सकते हैं । स्कन्ध विनिमय बाजार एक संगठित बाजार है । जहाँ पर संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल, सरकारी, अर्द्ध सरकारी तथा जनोपयोगी संस्थाओं के अंश, बॉण्ड तथा ऋणपत्रों का क्रय-विक्रय किया जाता है । यह एक ऐसा समामेलित संगठन है, जिसकी स्थापना प्रतिभूतियों में क्रय-विक्रय व्यवहारों की सहायता नियमन तथा नियंत्रण के उद्देश्य से की जाती है। इनके माध्यम से व्यक्ति तथा संस्थाएँ अपनी बचतों का विनियोग विविध प्रतिभूतियों में करते हैं और अपनी आवश्यकतानुसार प्रतिभूतियों का विक्रय करके धन वापस प्राप्त कर सकते हैं । स्कन्ध विनिमय बाजारों में पंजीकृत सदस्यों के द्वारा ही क्रय विक्रय होता है यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वस्तुओं की भाँति इन बाजारों में प्रतिभूतियों का संग्रह नहीं होता वरन् यह बाजार प्रतिभूतियों में सौदा करने का बाजार मात्र है, जिनमें दूरस्थ स्थानों पर रहने वाले व्यक्ति इसके सदस्यों द्वारा सौदा कर सुपुर्दगी तथा भुगतान प्राप्त करते हैं । किसी स्कन्ध विनिमय बाजार में उसके द्वारा सूचीबद्ध प्रतिभूतियों में ही व्यवहार किया जा सकता है ।

पायले के अनुसार स्कन्ध विनिमय केन्द्र एक ऐसा बाजार है जहां पर उन प्रतिभूतियों का जो कि उस बाजार में सूचीबद्ध हो चुकी हैं, विनियोग अथवा सट्टे के लिए क्रय विक्रय किया जाता है।.

प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम 1956 के अनुसार 'स्कन्ध विनिमय केन्द्र व्यक्तियों की समामेलित अथवा असमामेलित संस्था है जिनकी स्थापना प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय तथा उनसे सम्बन्धित व्यवहारों में सहायता करने, उनका नियमन एवं नियंत्रण करने के उद्देश्य से की जाती है ।.

प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम 1956 के अनुसार 'स्कन्ध विनिमय बाजार एक ऐसी नीलामी बाजार है जिसके द्वारा क्रेता तथा विक्रेता उन प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय या व्यवहार के व्यवसाय में सहायता, नियमन या नियंत्रण के उद्देश्य से की गई है ।.

हार्टले विदर्स के अनुसार "स्कन्ध विनिमय केन्द्र एक बड़े भण्डार गृह की भांति है, जहाँ प्रतिभूतियों को अलमारियों में से निकाल कर काउण्टर पर मूल्य सूची में अंकित मूल्यों पर बेचा जाता है ।

5.4 महत्व

आज स्कन्ध विनिमय बाजार के महत्व एवं उपयोगिता को सभी के द्वारा स्वीकार किया जाता है । पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं औद्योगिक समाज के लिए इसका अत्यधिक महत्व है । वास्तव में स्कन्ध विनिमय बाजार किसी देश की आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अवस्था का संवेदन केन्द्र होता है । आधुनिक अर्थशास्त्री स्कन्ध विनियम को देश की अर्थव्यवस्था का स्नायु केन्द्र मानते हैं । केवल आर्थिक क्षेत्र ही नहीं, राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र की तात्कालिक घटनाओं का स्पष्ट प्रभाव स्कन्ध विनिमय बाजार की प्रतिभूतियों के मूल्यों में प्रकट होता है । स्कन्ध विनिमय बाजार इतना संवेदनशील होता है कि किसी घटना के घटित होने की संभावना मात्र में इसकी गतिविधि में परिवर्तन आ जाता है । किसी स्कन्ध विनिमय बाजार के अवलोकन मात्र से देश की वर्तमान अवस्था का अंदाजा लगाया जा सकता है । ऐसा कहा जाता है कि जर्मन राजनीतिज्ञ बिस्मार्क ने इंग्लैण्ड प्रस्थान कर रहे एक जर्मन युवक को यह परामर्श दिया था कि यदि तुम इंग्लैण्ड की आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना चाहते हो तो हाउस ऑफ कामन्स का अध्ययन करने की अपेक्षा तुम्हें लंदन स्कन्ध विनिमय बाजार का अध्ययन करना चाहिये । यथार्थ में स्कन्ध विनिमय बाजार एक देश की समृद्धि का मापक यंत्र है । स्कन्ध विनिमय बाजार के महत्व एवं उपयोगिता को विनियोक्ता, प्रतिभूति निर्गमित वाले संस्थान तथा समाज सभी के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है ।

अ. विनियोक्ता को लाभ :

1. स्कन्ध विनिमय बाजार अल्प बचतों को विनियोग करने के लिए बाजार उपलब्ध करता है ।
2. ये विनियोजित पूँजी की तरलता बढ़ाते हैं ।
3. विनियोक्ताओ को प्रतिभूतियों की मांग, पूर्ति एवं मूल्यों की प्रवृति का ज्ञान निरन्तर बना रहता है ।
4. विनियोजक क्षेत्र की गतिविधियों से परिचय होने से विनियोजन सम्बन्धी समयानुकूल निर्णय लिये जा सकते हैं ।
5. स्कन्ध विनिमय बाजार द्वारा क्रय-विक्रय सुगम से हो सकता है क्योंकि क्रेता तथा विक्रेताओं की पर्याप्त मात्रा बनी रहती है ।
6. स्कन्ध विनिमय बाजार में क्रेता तथा विक्रेता पूर्ण विश्वास के साथ सौदे कर सकते हैं ।
7. औद्योगिक संस्थानों के सही मूल्यांकन से सुदृढ़ संस्थाओं में ही विनियोग होता है ।
8. जाली प्रतिभूतियों के चलन पर रोक लगती है ।
9. प्रतिभूतियों के सूचीकरण में विनियोक्ताओं को सुरक्षा प्राप्त होती है ।

10. ये बाजार विनियोक्ताओ के जोखिम को कम करने में सहायक होते हैं । इनके नियमानुसार ही न्यायोचित मूल्यों पर क्रय विक्रय होता है ।
11. यह बाजार भावी सौदों के लिए व्यवस्था करते हैं ।
12. प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिए विनियोक्ता कहीं भी रहकर दलालों के माध्यम का उपयोग कर सकते हैं ।
13. इनके माध्यम से विदेशी प्रतिभूतियों में भी विनियोग किया जा सकता है ।
14. स्कन्ध विनिमय विनियोक्ताओं को आवश्यक परामर्श भी प्रदान करते हैं ।

प्रतिभूति निर्गमन करने वाले संस्थानों को लाभ :

1. स्कन्ध विनिमय बाजारों द्वारा प्रतिभूति निर्गमन में सरलता एवं सुगमता आ जाती है।
2. प्रतिभूतियों का सूचीकरण होने से संस्था की जानकारी बढ़ती है एवं उसकी ख्याति में वृद्धि होती है ।
3. प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिए नियमित बाजार प्राप्त हो जाता है ।
4. मूल्य स्थायित्व से संस्थान में विनियोक्ता का विश्वास बढ़ता है ।
5. स्कन्ध विनिमय बाजार द्वारा उनकी गतिविधियों एवं मूल्य प्रकाशन से उनका विज्ञापन स्वत: हो जाता है ।
6. संस्थान को अपने विकास के लिए आवश्यक पूँजी एकत्रित करने में सहायता मिलती है।
7. विदेशों में पूंजी प्राप्त करने में सुविधा होती है ।

समाज को लाभ :

1. स्कन्ध विनिमय बाजार बचतों को प्रोत्साहित कर पूँजी निर्माण में सहायक होते हैं।
2. सरकार इनके माध्यम से आर्थिक विकास के लिये वित्तीय साधन प्राप्त कर सकती है।
3. स्कन्ध विनिमय बाजारों के फलस्वरूप सुदृढ़ औद्योगिक संस्थाओं का विकास होता है ।
4. पूंजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता में वृद्धि होती है ।
5. स्कन्ध विनिमय देश की समृद्धि का सूचक होते हैं ।
6. देश के संतुलित विकास में स्कन्ध विनिमय बाजार विशेष रूप में सहायक होते हैं, क्योंकि प्रतिभूतियों के विस्तृत फैलाव से आर्थिक एवं क्षेत्रीय केन्द्रीकरण अपेक्षाकृत कम हो जाता है ।

5.5 क्षेत्र एवं प्रकृति

स्कन्ध विनिमय केन्द्र संसार का सबसे बड़ा बाजार, राष्ट्रों की राजनीति और अर्थव्यवस्था का स्नायु केन्द्र तथा उनकी समृद्धि का पैमाना माना जाता है । भारत जैसे विकासशील देश के लिए तो स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का अत्यधिक महत्व है । भारत के औद्यौगिक विकास का श्रेय स्कन्ध विनिमय केन्द्रों को ही जाता है । हमारे देश में विदेशों की भांति विनियोग बैंकों का अभाव है । कई वर्षो से भारत में स्कन्ध विनिमय केन्द्र पूँजी प्राप्त करने के महत्वपूर्ण स्त्रोत है । स्कन्ध विनिमय केन्द्र सट्टे के सौदों का अवसर भी प्रदान करते हैं । वस्तुत: स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का सामान्य निवेशक से लेकर सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है ।

5.6 स्कन्ध विनिमय में प्रतिभूतियों के मूल्यों को प्रभावित करने वाले विभिन्न स्त्रोत

यदि स्कन्ध विनिमय बाजार पर मांग और पूर्ति के संतुलन द्वारा प्रतिभूतियों के मूल्यों में स्थायित्व बना रहता है किन्तु इनके मूल्य सदैव समान नहीं रहते । प्रतिभूतियों के मूल्यों को देश-विदेश की घटनाएँ प्रभावित करती रहती हैं । आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी हलचलों का प्रभाव प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिलक्षित होता है । अनेक ऐसे घटक हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतिभूति के मूल्य पर पड़ता है, किन्तु अनेक तत्व जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप में हम प्रतिभूति से नहीं जोड़ सकते उनका भी अप्रत्यक्ष प्रभाव प्रतिभूतियों के मूल्यों पर देखा जा सकता है । प्रतिभूतियों के मूल्यों को प्रभावित करने वाले इन स्त्रोतों में से कुछ महत्वपूर्ण स्त्रोत इस प्रकार हैं :-

1. संस्था द्वारा घोषित लाभांश की दर ।
2. संस्था की पूंजी सरंचना में परिवर्तन ।
3. संस्था की तत्कालीन आर्थिक स्थिति ।
4. संस्था के प्रबन्ध एवं संचालन में परिवर्तन ।
5. कर्मचारियों तथा श्रमिकों द्वारा हड़ताल आदि ।
6. सरकारी औद्योगिक लाइसेन्सिंग तथा कर सम्बन्धी नीति ।
7. मुद्रा बाजार में ब्याज की दर एवं ऋण उपलब्धता ।
8. व्यापार चक्र ।
9. मुद्रा प्रसार या संकुचन ।
10. राष्ट्रीय राजनीति तथा सरकार में परिवर्तन आदि ।
11. अन्तर्राष्ट्रीय अस्थिरता, युद्ध अथवा उसकी सम्भावना, विभिन्न देशों में शासकीय परिवर्तन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा एवं साख की उपलब्धता आदि ।
12. विभिन्न स्कन्ध विनिमय बाजारों की पारस्परिक निर्भरता ।

5.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध

स्कन्ध विनिमय बाजारों की आलोचना (Criticisms of Stocks Exchange Market)

कुछ समय पूर्व तक स्कन्ध विनिमय बाजारों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था । इन बाजारों में सट्टे के व्यवहार होने के कारण जन साधारण इन्हें जुए के केन्द्र मानता था । स्कन्ध विनिमय बाजारों में अत्यधिक सट्टे के व्यवहार अनेक ऐसी प्रवृतियों को जन्म देते हैं जिनसे इनकी वास्तविक उपयोगिता गौण बनकर रह जाती है । सट्टे के अत्यधिक सौदों से प्रतिभूतियों के मूल्यों में अस्थिरता उत्पन्न होती है और देश का आर्थिक कलेवर इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि स्कन्ध विनिमय बाजार यथार्थ में व्यावसायिक केन्द्र है जिनमें व्यवहार के लिए पर्याप्त अनुभव, जानकारी एवं कुशलता की

आवश्यकता है । यदि सट्टे के सौदे भी अत्यधिक मात्रा में होते हैं तो इससे प्रतिभूतियों के मूल्य में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव आता है, जिससे अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न होता है । अंशों एवं प्रतिभूतियों के मूल्यों में आने वाली इस प्रकार की अस्थिरता देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए अहितकर सिद्ध होती है । स्कन्ध विनिमय बाजारों में स्वयं कोई दोष नहीं होता, पर इन सटेरियों द्वारा किये जाने वाले अनेक अनुचित एवं अवांछनीय क्रियाकलाप इन्हें आलोचनाओं का लक्ष्य बना देते हैं । इनकी आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है -

1. इन पर अत्यधिक सट्टेबाजी होती है जो प्रतिभूतियों के मूल्यों में आवश्यक एवं तीव्र परिवर्तन ला देती है ।
2. प्रतिभूतियों के मूल्य में भारी उतार-चढ़ाव होने लगते हैं ।
3. स्कन्ध विनिमय बाजार की चमक-दमक अनुभवहीन व्यक्तियों को इसकी ओर आकर्षित कर लेती है और वे बिना सोचे-समझे अपनी सामर्थ्य से अधिक व्यवहार कर लेते हैं और भारी नुकसान उठाते हैं ।
4. सट्टे के सौदों के कारण समाज का विश्वास स्कन्ध विनिमय केन्द्रों से उठ जाता है और वह इन केन्द्रों के कार्य-कलापों को शंकालु दृष्टि से देखने लगता है ।

स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का प्रबन्ध

स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का प्रबन्ध एवं कार्य-संचालन प्रबन्ध समिति के द्वारा किया जाता है । विभिन्न केन्द्रों में इस समिति को विभिन्न नामों से जाना जाता है । इन प्रबन्ध समितियों के पदाधिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष केन्द्र के सदस्यों द्वारा किया जाता है । मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय केन्द्रों की प्रबन्ध समितियों में सरकार के प्रतिनिधियों का भी मनोनयन किया जाता है । इसके संचालन के लिए निम्नलिखित उप समितियों का गठन किया जाता है । इनमें कुछ प्रमुख उप समितियाँ निम्नांकित हैं -

1. अंश परीक्षण समिति
2. मध्यस्थ निर्णय समिति
3. कार्य समिति
4. चूक कर्ताओं की समिति
5. वित्तीय समिति ।

प्रत्येक स्कन्ध विनिमय केन्द्र के प्रबन्ध एवं कार्य संचालन सम्बन्धी नियम होते हैं, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत होते हैं ।

स्कन्ध विनिमय बाजार से सम्बन्धित तकनीकी शब्द

1. **सरकारी प्रतिभूतियाँ (Government Securities):** सरकारी प्रतिभूतियों से आशय उन प्रतिभूतियों से है जो केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकारों द्वारा निर्गमित की जाती है । विनियोग की सुरक्षा की दृष्टि से ये प्रतिभूतियाँ सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं । इन्हें सुनहरे किनारे वाली प्रतिभूतियाँ भी कहा जाता है ।
2. **प्रतिभूतियाँ (Securities) :** स्कन्ध विनिमय बाजार में जिन पत्रों का क्रय-विक्रय होता है, उन्हें प्रतिभूतियों के नाम से सम्बोधित किया जाता है । इनमें संयुक्त स्कन्ध

प्रमण्डलों के अंश, ऋण, पत्र, सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी ब्राण्ड द्वारा निर्गमित ऋण आदि सम्मिलित हैं ।

3. **विनियोग प्रतिभूतियाँ (Investment Securities)**: जिन प्रतिभूतियों को विनियोग की दृष्टि से उपयुक्त समझा जाता है उन्हें विनियोग प्रतिभूतियाँ कहकर पुकारा जाता है । इन प्रतिभूतियों पर निश्चित आय की आशा होती है तथा इनके मूल्यों में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है ।
4. **सट्टेवाली प्रतिभूतियाँ (Speculative Securities):** जिन प्रतिभूतियों के मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, उन्हें सट्टे वाली प्रतिभूतियाँ कहा जाता है । इस प्रकार की प्रतिभूतियों में सटोरियों की विशेष रूचि होती है और वे मूल्य में होने वाले परिवर्तनों की आशा में क्रय-विक्रय करके लाभ कमाते हैं ।
5. **रजिस्टर्ड प्रतिभूतियाँ (Registered Securities) :** इन प्रतिभूतियों का आशय उन प्रतिभूतियों से है जिनका पंजीयन सम्बन्धित संस्था की पुस्तकों में होता है । रजिस्टर्ड प्रतिभूतियों का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरण इन पुस्तकों में पंजीयन की क्रिया द्वारा ही हो सकता है
6. **वाहक प्रतिभूतियाँ (Bearer Securities) :** रजिस्टर्ड प्रतिभूतियों के विपरीत, वाहक प्रतिभूतियों का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरण मात्र सुपुर्दगी द्वारा हो जाता है। वाहक प्रतिभूतियों के धारकों के नाम सम्बन्धित संस्था की पुस्तकों में दर्ज नहीं होते ।
7. **समाशोधित प्रतिभूतियाँ (Cleared Securities) :** ऐसी प्रतिभूतियाँ जिन्हें व्यवहार के लिए स्कन्ध विनिमय बाजार ने मान्यता दी है ।
8. **असमाशोधित प्रतिभूतियाँ (Non-Cleared Securities) :** समाशोधित प्रतिभूतियों के अतिरिक्त शेष प्रतिभूतियों को स्कन्ध विनिमय बाजार में असमाशोधित प्रतिभूतियाँ कहा जाता है ।
9. **ऋण पत्र (Debentures) :** ऋण पत्र के प्रमाण पत्र के रूप में किसी कम्पनी द्वारा ऋणदाता को दिया जाने वाला प्रलेख ऋण पत्र कहा जाता है । ऋण पत्र रजिस्टर्ड एवं वाहक हो सकते हैं । ये जमानत द्वारा सुरक्षित या बिना जमानती हो सकते हैं ।
10. **स्कन्ध (Stock):** किसी कम्पनी के अंश या ऋण पत्र यदि पूर्ण दत्त हों तो उन्हें स्कन्ध में परिवर्तित किया जा सकता है । स्कन्ध की प्रमुख विशेषता यह है कि उसे किसी भी मात्रा में विभाजित किया जा सकता है ।
11. **अंकित स्कन्ध (Inscribed Stock) :** जब ऋण के बदले में कोई प्रमाण-पत्र, ऋण-पत्र, ब्राण्ड आदि निर्गमित नहीं किया जाता और केवल ऋणदाताओं के नाम ही रजिस्टर में अंकित कर लिए जाते हैं तो इसे अंकित स्कन्ध कहा जा सकता है ।
12. **अधिकृत लिपिक (Authorised Clerk):** स्कन्ध विनिमय बाजार के नियमानुसार उसके सदस्यों को ऐसे व्यक्ति नियुक्त करने का अधिकार है जो उसकी ओर से स्कन्ध विनिमय बाजार के चक्र या आंगन में व्यवहार करने के लिए अधिकृत होते हैं ।

13. **सह दलाल (Remisiers of Tout) :** सह दलाल ऐसे व्यक्ति होते हैं जो स्कन्ध विनिमय के सदस्य के लिए प्रचार का कार्य करते हैं और ग्राहकों को खोजते हैं । यह दलाल ग्राहकों से प्राप्त दलाली में से निश्चित भाग प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं ।
14. **अन्तर्क्रय (Buying In) :** यदि विक्रेता अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति करने में असमर्थ होता है तथा अनुबन्ध का निष्पादन करने से मना करता है तो विक्रेता प्रतिभूतियों को स्कन्ध विनिमय बाजार में पुन: क्रय कर सकता है ।
15. **वृद्धि विक्रय (Sellingout)** यदि क्रेता निष्पादन तिथि पर प्रतिभूतियों को लेने तथा भुगतान करने से मना करता है तो विक्रेता इन प्रतिभूतियों को स्कन्ध विनिमय बाजार में पुन: बेच सकता है ।
16. **निष्पादन दिवस (Settlement Day) :** स्कन्ध विनिमय में प्राय: सौदों के निपटारे की अवधि तीन दिन तक विस्तृत होती है । इन दिनों को क्रमश: सम्पर्क दिवस, नाम दिवस तथा भुगतान दिवस के नाम से सम्बोधित किया जाता है ।
17. **प्राप्ति (Yield):** किसी प्रतिभूति में विनियोजित वास्तविक धन पर निकाली गई प्रतिशत आय की प्राप्ति कहा जाता है ।
18. **लाभांश सहित तथा ब्याज सहित (Cum-Dividend and Cum-interest) :** प्रतिभूतियों के ऐसे मूल्य का अर्थ है कि उसके मूल्य में घोषित लाभांश या प्राप्त ब्याज भी सम्मिलित है । इसका प्रभाव यह होता है कि मिलने वाला अदत्त लाभ या ब्याज प्राप्त करने का क्रेता अधिकारी हो जाता है क्योंकि वह मूल्य में सम्मिलित इनका भुगतान विक्रेता को कर देता है ।
19. **लाभांश रहित तथा ब्याज रहित (Ex-Dividend and Ex-interest)**. लाभांश रहित या व्याज रहित प्रतिभूति से आशय यह है कि प्रतिभूति के देय मूल्य में घोषित लाभांश या अदत्त ब्याज की राशि सम्मिलित नहीं की गई है । विक्रेता इन्हें प्राप्त करने का अधिकार अपने पास रखता है ।
20. **भाव सूची (Quotation List):** स्कन्ध विनिमय बाजार द्वारा अधिकृत मूल्य सूची को भाव सूची के नाम से सम्बोधित किया जाता है । ऐसी सूची में विनिमय बाजार में किये गये सौदों के विविध मूल्य तथा प्रत्येक मूल्य पर सौदों के परिमाण का उल्लेख होता है ।

प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम 1956 (Securities Contract Regulation Act 1956)

स्कन्ध विनिमय बाजारों का नियमन तथा नियंत्रण करने के लिए प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम 1956 एक अखिल भारतीय विधान है । यह अधिनियम सन् 1956 में पारित हुआ तथा 20 फरवरी 1957 से प्रभाव में आया ।

स्कन्ध विनिमय को मान्यता सम्बन्धी प्रावधान: किसी स्कन्ध विनिमय को इस अधिनियम के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त करने के लिए निर्धारित प्रारूप में केन्द्रीय सरकार से प्रार्थना करना आवश्यक है । केन्द्रीय सरकार तभी मान्यता प्रदान करती है । जब वह निम्नलिखित बातों से संतुष्ट हो जाती है :-

1. स्कन्ध विनिमय के नियम एवं उपनियम विनियोक्ताओं के संरक्षण तथा उनमें किये जाने वाले व्यवहारों की दृष्टि से उचित तथा उपयुक्त हैं ।
2. स्कन्ध विनिमय केन्द्रीय सरकार द्वारा लगायी गयी ऐसी शर्तों को मानने के लिए तैयार है जो इस अधिनियम के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उचित है ।
3. स्कन्ध विनिमय को मान्यता प्रदान करना व्यवसाय तथा जनहित में है ।
4. किसी स्कन्ध विनिमय को मान्यता प्रदान करते समय सरकार निम्नलिखित शर्तों की व्यवस्था करती है

i. स्कन्ध विनिमय के सदस्यों की योग्यता ।

ii. स्कन्ध विनिमय पर सरकार का प्रतिनिधित्व जो अधिक से अधिक तीन सदस्यों के मनोनयन तक सीमित होगा ।

iii. स्कन्ध विनिमय के प्रत्येक सदस्य को लेखा पुस्तकें रखने एवं समय-समय पर उनके अंकेक्षण सम्बन्धी व्यवस्था में सहायता प्रदान करना ।

केन्द्रीय सरकार किसी मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय की मान्यता किसी समय भी समाप्त कर सकती है, यदि केन्द्रीय सरकार यह समझती है कि व्यापार अथवा जनहित में किसी स्कन्ध विनिमय की मान्यता समाप्त करना उचित है ।

नियम एवं उपनियम बनाने का अधिकार: मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय केन्द्रीय सरकार की पूर्वानुमति से अनुबन्धों के नियमन एवं नियंत्रण के लिए नियम एवं उपनियम का निर्माण कर सकता है । इन नियम एवं उपनियमों में सामान्यत: निम्नलिखित बातों की व्यवस्था की जाती है

1. विनिमय बाजार में खुलने, बंद होने तथा कार्य करने का समय ।
2. कोरे हस्तान्तरण का नियमन एवं उन पर प्रतिबन्ध ।
3. बदला व्यवहारों का नियमन एवं उन पर प्रतिबन्ध ।
4. अनुबन्धों के निपटारे के दिवस ।
5. बाजार दरों का निर्धारण तथा घोषणा ।
6. भावी अनुबन्धों पर मार्जिन राशि की मात्रा ।
7. दलाली की दरें ।
8. विभिन्न प्रकार के शुल्क, जुर्माना एवं दंड लगाना और उनकी वसूली ।
9. सदस्यों द्वारा स्वयं के नाम में व्यवहार और इसके लिए दलाल तथा कृत्यकी के कार्यो में अंतर आदि ।

केन्द्रीय सरकार के अधिकार : इस अधिनियम के अन्तर्गत स्कन्ध विनियमों पर नियंत्रण रखने के लिए केन्द्रीय सरकार को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं :-

1. स्कन्ध विनिमय को मान्यता देना तथा मान्यता समाप्त करना ।
2. स्कन्ध विनिमय में वार्षिक प्रतिवेदन प्राप्त करना ।
3. मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय के उपनियमों को बनाना ।
4. मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय के प्रबन्ध का अधिस्थापन ।

5. अनुचित सट्टेबाजी को रोकने के लिए किसी अथवा किन्हीं विशेष प्रतिभूतियों में व्यवहार।
6. तैयार सुपुर्दगी के सौदों का व्यापार या जनहित में नियमन ।
7. प्रतिभूतियों में व्यवहार करने वाले असदस्यों को सदस्यता लेने के लिए बाध्य करना ।

स्कन्ध विनिमय निदेशालय (Directorate of Stock Exchange)

स्कन्ध विनिमय निदेशालय केन्द्रीय सरकार के वित्त मंत्रालय के अधीन कार्य करता है । इसकी स्थापना सन् 1959 में की गयी । निदेशालय का मुख्यालय मुम्बई में है तथा इसकी शाखाएँ कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा विभिन्न जगहों पर फैली हुई हैं । स्कन्ध विनिमय निदेशालय के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :-

1. यह देखना कि स्कन्ध विनिमय बाजार प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम, 1956 के प्रावधानों के अनुसार कार्य करें ।
2. अनुचित सट्टेबाजी को रोकने के प्रयास करना ।
3. सरकार को स्कन्ध विनिमय बाजारों के संचालन के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करना ।
4. स्कन्ध विनिमय के सदस्यों की विनिमय की सीमाओं से बाहर व्यवहार करने की अनुमति प्रदान करना ।
5. स्कन्ध विनिमय बाजारों के विषय में केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये आदेशों एवं निर्देशों का पालन करना ।

स्कन्ध विनिमय बाजार का संगठन (Organisation of Stock Exchange)

भारत में स्कन्ध विनिमय बाजारों का संगठन विविध प्रकार से किया गया है । कई स्कन्ध विनिमय सदस्यों के ऐच्छिक संगठन के रूप में गठित है तथा अन्य कई कम्पनी विधान के अधीन पंजीकृत है । स्कन्ध विनिमय व्यवहारों के नियमन के लिए अपने उपनियमों का सहारा लेते हैं । प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम 1956 में सरकार की पूर्व अनुमति से स्कन्ध विनियमों को अपने आंतरिक उपनियम बनाने का अधिकार प्रदान किया है । अब भारत में सभी स्कन्ध विनिमय बाजारों का एक केन्द्रीय विधान एवं नियमों के अन्तर्गत आने से स्वभावत: इनको संचालित करने वाले नियम और उपनियमों में समानता आ गयी है ।

प्रबन्ध : भारत में किसी स्कन्ध विनिमय बाजार की प्रबन्ध व्यवस्था चयनित एवं मनोनीत सदस्यों की एक प्रबन्ध समिति के हाथ में होती है । इस प्रबन्ध समिति को विभिन्न स्कन्ध विनियमों में भिन्न- भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है । स्कन्ध विनिमय बाजार की प्रबन्ध में पदाधिकारियों का निर्वाचन स्कन्ध विनिमय के पंजीकृत सदस्यों द्वारा किया जाता है । इन समितियों में सरकार को अपनी ओर रो प्रतिनिधि मनोनीत करने का अधिकार होता है । स्कन्ध विनिमय बाजारों के विभिन्न कार्यो में सहायता के लिए प्रबन्ध समिति द्वारा अनेक उप-समितियों का गठन किया जाता है । इनमें से कुछ इस प्रकार है

1. परिवाद समिति
2. अंश परीक्षण समिति
3. नीलाम समिति

4. कार्य -समिति
5. पंच निर्णय समिति

सदस्यता : स्कन्ध विनिमय के व्यवहार करने के लिए केवल सदस्यगण ही अधिकृत होते हैं । सदस्यता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को स्कन्ध विनिमय का सदस्यता पत्र या अंश क्रय करना होता है । सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को पूर्ण विवरण के साथ प्रार्थना पत्र भर कर स्कन्ध विनिमय के पास भेजना होता है । किसी नये व्यक्ति को प्रवेश के लिए वर्तमान सदस्य या सदस्यों की अनुशंसा की आवश्यकता होती है ।

सदस्यता प्राप्ति : स्कन्ध विनिमय पर सदस्यता प्राप्ति की सामान्यतया तीन विधियाँ हैं:-

1. आवेदन द्वारा सदस्यता
2. नामांकन द्वारा सदस्यता'
3. उत्तराधिकार द्वारा सदस्यता

स्कन्ध विनिमय के सदस्यों को उसके नियमों तथा प्रतिबन्धों का पालन करना होता है । नियमों तथा प्रतिबन्धों के उल्लंघन की दशा में उन्हें दण्डित किया जा सकता है और विशेष परिस्थितियों में उनकी सदस्यता समाप्त भी की जा सकती है । एक स्कन्ध विनिमय बाजार का सदस्य दूसरे स्कन्ध विनिमय बाजार का सदस्य नहीं हो सकता । सदस्य को अपना विज्ञापन करने का भी अधिकार नहीं होता । स्कन्ध विनिमय बाजार के चक्र में काम करने के लिए स्कन्ध विनिमय के सदस्य निर्धारित संख्या में सहायक जिन्हें अधिकृत लिपिक के नाम से जाना जाता है, नियुक्त कर सकते हैं । विनिमय बाजार के सदस्य व्यवसाय प्राप्त करने के उद्देश्य से उप दलालों की नियुक्ति करते है, जिन्हें **रेमीसियर्स** भी कहा जाता है ।

सदस्यता प्राप्ति के लिए योग्यताएँ: निम्नांकित योग्यताओं को पूरा करने की दशा में ही किसी भी व्यक्ति को स्कन्ध विनिमय केन्द्र की सदस्यता प्रदान की जा सकती है :-

1. उस व्यक्ति ने कम से कम दो वर्ष तक किसी सदस्य के पास अधिकृत क्लर्क के रूप में कार्य किया है अथवा कार्य करने का प्रशिक्षण प्राप्त किया है ।
2. ऐसे व्यक्ति कम से कम दो वर्ष की अवधि के लिए केन्द्र के किसी सदस्य अथवा उसके साझेदार के साथ, एजेन्ट के रूप में कार्य करने को तैयार है ।
3. उत्तराधिकार के रूप में सदस्यता प्राप्त करने वाले व्यक्ति पर उक्त नियम लागू नहीं होते ।

स्कन्ध विनिमय केन्द्र की प्रबन्ध समिति को उक्त योग्यता सम्बन्धी नियमों में छूट प्रदान करने का अधिकार होता है ।

अयोग्यताएँ :

1. 21 वर्ष से कम आयु का व्यक्ति ।
2. वे व्यक्ति जो भारत के नागरिक नहीं हैं । प्रबन्ध समिति इस विषय में छूट दे सकती है ।
3. न्यायालय से घोषित दिवालिया ।
4. वह व्यक्ति जिसने लेनदारों को पूरा रूपया चुकाये बिना समझौता किया हो ।
5. कपट एवं मिथ्याचरण के अपराध में दण्डित व्यक्ति ।

6. स्कन्ध विनिमय केन्द्र से निष्कासित व्यक्ति ।
7. वह व्यक्ति जिसकी सदस्यता को अस्वीकृत कर दिया गया हो ।
8. वह व्यक्ति जो स्कन्ध विनिमय केन्द्र पर कार्य करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करता हो ।

मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय केन्द्रों की सूची :

केन्द्रों के नाम	**मान्यता की तिथि एवं वर्ष**
1. बम्बई स्कन्ध विनिमय केन्द्र	31 अगस्त,1957
2. अहमदाबाद स्कन्ध विनिमय केन्द्र	**1957**
3. कलकत्ता स्कन्ध विनिमय केन्द्र	10 अक्टूबर,1957
4. मद्रास स्कन्ध विनिमय केन्द्र, चेन्नई	**1957**
5. दिल्ली स्कन्ध विनिमय केन्द्र	**6 दिसम्बर, 1958**
6. हैदराबाद स्कन्ध विनिमय केन्द्र	29 सितंबर,1958
7. इन्दौर स्कन्ध विनिमय केन्द्र	**24 दिसम्बर,1958**
8. बैंगलौर स्कन्ध विनिमय केन्द्र	**11 फरवरी, 1963**
9. कोचीन स्कन्ध विनिमय केन्द्र लि०, अर्नाकुलम	**10 मई, 1979**
10. उत्तर प्रदेश स्कन्ध संघ लि०, कानपुर	**4 जून, 1982**
11. पुणे स्कन्ध विनिमय संघ लि०,	**2 सितम्बर, 1982**
12. लुधियाना स्कन्ध विनिमय संघ लि0	**24 अप्रेल, 1983**
13. गोहाटी स्कन्ध विनियम केन्द्र गोहाटी	**1984**
14. कनारा स्कन्ध विनियम केन्द्र मंगलौर	**9 सितम्बर, 1985]**
15. मगध स्कन्ध विनिमय संघ लि0, पटना	**1986**
16. जयपुर स्टॉक एक्सचेंज लि०, जयपुर	**1983**
17. भुवनेश्वर स्टॉक एक्सचेंज	**1989**
18. सौराष्ट्र स्टॉक एक्सचेंज	**1989**
19. ओ.टी.सी एक्सचेंज ऑफ इण्डिया लि०, मुम्बई	**1990**
20. बड़ोदरा स्टॉक एक्सचेंज़ लि0	**1991**
21. कोयम्बटूर स्टॉक एक्सचेंज लि०,	**1991**
22. नेशनल स्टॉक एक्सचेंज लि०, मुम्बई	**1994**
23. इन्टर-कनेक्टेड स्टॉक एक्सचेंज ऑफ इण्डिया लि०, मुम्बई	**1998**

स्कन्ध विनिमय बाजार में सौदा करने की कार्यविधि के विविध चरण संक्षेप में निम्न प्रकार है.

1. **स्कन्ध विनिमय बाजार के सदस्य से सम्पर्क स्थापित करना :** जब कोई व्यक्ति प्रतिभूति क्रय अथवा विक्रय करना चाहता है, तो इसके लिए वह स्कन्ध विनिमय के किसी सदस्य से सम्पर्क कर सकता है ।
2. **अनुबन्ध पत्र तैयार करना:** स्कन्ध विनिमय के सदस्य द्वारा किये गये सौदों का तुरन्त लेखा उसकी नोट बुक में कर लिया जाता है । इस नोट बुक के आधार पर अनुबंध पत्र तैयार किया जाता है तथा उसकी एक प्रति अपने ग्राहक को देता है । इस अनुबन्ध पत्र में क्रेता तथा विक्रेता के नाम, व्यवहार की प्रकृति तथा परिणाम, मूल्य सुपुर्दगी की तिथि आदि का उल्लेख होता है । यह स्टाम्प युक्त होता है ।
3. **सदस्य द्वारा सौदा करना :** स्कन्ध विनिमय के सदस्यों को अनेक व्यक्तियों से प्रतिभूतियों को क्रय या विक्रय करने के आदेश प्राप्त होते रहते हैं । ऐसी संभावना हो सकती है कि एक ही प्रकार की प्रतिभूतियों के क्रय तथा विक्रय के आदेश किसी सदस्य को प्राप्त हुए हों । ऐसी दशा में सदस्य द्वारा क्रेता तथा विक्रेता के बीच सौदा पूरा करना सरल हो जाता है । स्कन्ध विनिमय बाजारों में सौदों की सुपुर्दगी एवं भुगतान का समय भी निश्चित होता है । मुम्बई स्कन्ध विनिमय में सौदों की सुपुर्दगी एवं भुगतान 14 दिन के पश्चात् किया जाता है । जयपुर स्कन्ध विनिमय में तैयारी के सौदों में सुपुर्दगी तथा भुगतान सौदे के दिन या अगले दिन किया जाता है । स्कन्ध विनिमय बाजार सौदों के दृष्टिकोण से प्रतिभूतियों को दो भागों में विभक्त करते हैं -

   क. समाशोधित

   ख. असमाशोधित

– समाशोधित प्रतिभूतियों की सुपुर्दगी समशोधनगृह द्वारा होती है ।
– असमाशोधित प्रतिभूतियों की पक्षकार एक दूसरे को करते हैं ।

सामान्यत: क्रय-विक्रय के सौदे सटोरियों द्वारा तय समय से पूर्व बराबर कर लिये जाते हैं । यदि विपरीत सौदे द्वारा निर्धारित समय से पूर्व सौदा बराबर कर लिया जाता है तो केवल अन्तर के आदान प्रदान द्वारा ही निपटारा हो जाता है ।

4. **सुपुर्दगी तथा भुगतान:** क्रेता-विक्रेताओं द्वारा जब तक सौदे तैयारी के नहीं होते, सौदों के अन्तर्गत, प्रतिभूति की सुपुर्दगी तथा भुगतान तुरन्त नहीं होता । सौदों के निष्पादन की तिथि पर सदस्य, दलाल प्रतिभूति से सम्बन्धित प्रपत्र क्रेता को सौंप देता है तथा विक्रेता सदस्य, दलाल के माध्यम से भुगतान प्राप्त कर लेता है ।

समाशोधन गृह (Clearing House)

समाशोधन गृह स्कन्ध विनिमय बाजार के अन्दर किये जाने वाले सौदों के भुगतान की एक विधि है । प्राय: प्रत्येक स्कन्ध विनिमय बाजार अपने सदस्यों के लिए इस सुविधा की व्यवस्था करता है । सौदों के भुगतान की यह पद्धति बैंकों के समाशोधन गृह की पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य द्वारा किये गये क्रय-विक्रय के व्यवहारों द्वारा उसकी अंतिम स्थिति ज्ञात की जाती है । किये गये क्रय-विक्रय के व्यवहारों द्वारा उसकी अंतिम स्थिति ज्ञात की जाती है । किये गये क्रय-विक्रय के सौदों को एक-दूसरे से काट कर बचे हुए सौदों की सूचियाँ बन कर यह

ज्ञात हो जाता है कि कितनी प्रतिभूतियों की सुपुर्दगी लेनी-देनी है तथा भुगतान लेना-देना है । प्रत्येक सदस्य का खाता समाशोधन गृह में खुला होता है तथा अंतर का इन्द्राज खातों में कर दिया जाता है । सदस्यों के एक-दूसरे से लेन-देन केवल सौदों को काट कर ही पूर्ण हो जाते है और इस प्रकार कम से कम सुपुर्दगी तथा लेन-देन होता है । जयपुर स्कन्ध विनिमय पर समाशोधन गृह के विनिमय बाजार के प्रबन्ध परिषद के नियंत्रण में करने की व्यवस्था है । यह व्यवस्था की गई है कि प्रबन्ध परिषद समय-समय पर उन बैंकों के नाम की घोषणा करेगी जिनके पास समाशोधन व्यवहारों के लिए स्कन्ध विनिमय के सदस्य खाते खोल सकेंगे । समाशोधन राह का उपयोग केवल स्कन्ध विनिमय के सदस्यों तक ही सीमित होगा । इस प्रकार यह समाशोधन गृह सदस्यों के मध्य होने वाले अनुबन्धों के समाशोधन के लिए सदस्यों के अभिकर्ता के रूप में कार्य करेगा । समाशोधन का कार्य स्कन्ध विनिमय के सदस्यों के अनुबन्धों के स्कन्ध में प्रतिभूतियों की प्राप्ति एवं सुपुर्दगी, धनराशि की प्राप्ति एवं भुगतान तथा इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यो का सम्पन्न करना है ।

प्रतिभूतियों का सूचीयन (Listing of Securities)

सूचीयन से तात्पर्य किसी कम्पनी की प्रतिभूतियों को स्कन्ध विनिमय केन्द्र की प्रतिभूतियों की सूची में सम्मिलित करना है । किसी भी केन्द्र में उन्हीं प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में व्यवहार किये जा सकते हैं जिनका उन केन्द्रों में सूचीयन हो चुका हो । कम्पनी के अंशों एवं ऋणपत्रों को तरलता तथा हस्तान्तरण प्रदान करने के लिए उनका स्कन्ध विनिमय केन्द्र पर सूचीयन होना आवश्यक है । कम्पनी अंशों एवं ऋणपत्रों के निर्मम के समय जारी किये जाने वाले प्रविवरण पत्र में इस बात का उल्लेख करती है कि उक्त प्रतिभूतियों के सूचीयन से कम्पनी की ख्याति में वृद्धि होती है तथा जन-साधारण में उन प्रतिभूतियों के प्रति विश्वास जागृत होता है । सूचीयन कराना अनिवार्य नहीं है, किन्तु यदि कोई कम्पनी सूचीयन कराना चाहती है तो उसे मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय बाजार में आवेदन करना होता है और ऐसे विनिमय बाजार को निर्धारित शर्तो को पूरा -करने का वायदा करना होता है । प्रार्थना-पत्र के साथ आवश्यक विवरण तथा प्रलेख भेजना चाहिये । विनिमय बाजार इस प्रार्थना-पत्र पर विचार करता है तथा संतुष्ट होने पर प्रतिभूति का सूचीयन स्वीकार कर लेता है, इसे ही प्रतिभूति का सूचीयन कहते हैं । ऐसी कम्पनी की चुकता पूंजी एक करोड़ से कम तथा अंशधारियों की संख्या दो हजार से कम नहीं होनी चाहिए । यदि किसी समय इनकी पूंजी या सदस्य संख्या इस न्यूनतम स्तर से कम हो जाये तो प्रतिभूतियों का असूचीयन कर दिया जाना चाहिए । सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियों में व्यवहार सभी स्कन्ध विनिमय बाजारों में होता है । सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ जिस दिन निर्गमित होती है उस दिन से सूचीकृत मान ली जाती हैं ।

सूचीयन की विधि : प्रतिभूतियों के किसी स्कन्ध विनिमय बाजार में सूचीयन की विधि में सम्मिलित चरण निम्नांकित है :-

1. **सूचीयन के लिए आवेदन :** स्कन्ध विनिमय बाजार की सूची में प्रतिभूति को सम्मिलित कराने के लिए इच्छुक संस्थान को स्कन्ध विनिमय द्वारा निर्धारित प्रपत्र में आवंटन कराना आवश्यक है । स्कन्ध विनिमय बाजार प्रतिभूति को तभी स्वीकृत करता है जब इच्छुक संस्थान द्वारा स्कन्ध विनिमय बाजार द्वारा लगाई गई सूचीयन सम्बन्धी शर्तों

तथा आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी जाती है । प्रतिभूति अनुबन्ध नियम, 1957 में सूचीयन सम्बन्धी शर्तों एवं आवश्यकताओं का उल्लेख किया गया है और देश के स्कन्ध विनिमय बाजार सूचीयन सम्बन्धी आंतरिक नियमों में इनकी अनुपालना व्यवस्था करते हैं । आवेदन पत्र के साथ अनेक प्रलेखों जैसे सीमा नियम, अन्तर्नियम, पूंजी निर्गमन के लिए नियंत्रक की अनुमति पूर्व में कुछ वर्षों के घोषित लाभांश, विगत वर्षों के अंकेक्षित चिट्ठे आदि की प्रमाणित प्रतिलिपि भेजा जाना आवश्यक है ।

2. **आवेदन पत्र पर विचार**: सूचीयन के लिए आवेदन पत्र प्राप्त हो जाने पर स्कन्ध विनिमय बाजार का संचालक मण्डल उस पर विचार करता है । आवेदन पर विचार के समय स्कन्ध विनिमय आवेदन पत्र के साथ प्रपत्रों की जांच करता है तथा अपनी पूरी संतुष्टि कर लेना चाहता है । आवेदन पत्र पर विचार कर किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व स्कन्ध विनिमय बाजार निम्नलिखित विषयों में संतुष्टि चाहता है -

i. प्रतिभूति का निर्गमन उसके नियमानुसार किया गया है ।
ii. संस्थान का स्वामित्व कुछ की व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित नहीं है ।
iii. संस्थान का आकार उचित है ।
iv. इसकी पूंजी संरचना व्यापक है ।

3. **सूचीयन के आवेदन पर निर्णय :** स्कन्ध विनिमय बाजार का संचालक मण्डल सूचीयन के लिए आवेदन पर विचार करके निम्नलिखित में से कोई निर्णय ले सकता है:-

i. आवेदन पत्र को स्वीकार कर सकता हे, अथवा
ii. आवेदन को अस्वीकार कर सकता है ।

आवेदन पत्र की स्वीकृति की दशा में इसकी सूचना आवेदक को प्राप्त होने पर उसे स्कन्ध विनिमय के साथ सूचीयन समझौता करना होता है तथा कुछ बातों के सम्बन्ध में गारण्टी देनी होती है जैसे कि सभी व्यक्तियों को प्रतिभूति के आवंटन पत्र एक साथ भेजे जायेंगे तथा प्रतिभूति के हस्तान्तरण को पूर्ण सुविधा प्रदान की जायेगी आदि । स्कन्ध विनिमय बाजार द्वारा सूचीयन की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि की सूचना निर्धारित समय में दिया जाना आवश्यक है । प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम 1956 के अनुसार सार्वजनिक कम्पनियों की प्रतिभूतियों के सूचीयन सम्बन्धी निम्न व्यवस्थायें की गई हैं :-

सार्वजनिक कम्पनी को अपनी प्रतिभूतियों को किसी स्कन्ध विनिमय पर सूचीयन कराने के लिए बाध्य करना - यदि केन्द्र सरकार का यह मत है कि व्यापार या जनहित में किसी कम्पनी द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का सूचीयन होना चाहिए तो वह ऐसी कम्पनी के सूचीयन के किसी मान्यता प्राप्त स्कन्ध विनिमय की आवश्यकताओं को पूरा करने का आदेश दे सकती है ।

सार्वजनिक कम्पनी को स्कन्ध विनिमय द्वारा उसकी प्रतिभूतियों के सूचीयन के मना करने पर अपील का अधिकार यदि कोई स्कन्ध विनिमय अपने उपनियमों में दिये गये अधिकारों के अन्तर्गत किसी सार्वजनिक कम्पनी की प्रतिभूतियों के सूचीयन से इंकार कर देती है तो कम्पनी को ऐसे इंकार के कारण जानने का अधिकार होगा । यदि स्कन्ध विनिमय निर्धारित समय में सूचीयन के प्रार्थना पत्र का निपटारा करने में असमर्थ रहता है तो केन्द्रीय सरकार को अपील

निर्धारित अवधि बीत जाने के 15 दिन के अन्दर की जा सकती है । केन्द्रीय सरकार इस अवधि को विशेष अवस्था में एक माह तक बढ़ा सकती है ।

केंद्रीय सरकार का अधिकार

प्रतिभूतियों का सूचीयन निर्धारित अवधि में न करने अथवा सूचीयन करने से इंकार के विरूद्ध अपील करने पर केन्द्रीय सरकार स्कन्ध विनिमय को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का मौका देकर निम्नलिखित आदेश दे सकती है:-

1. स्कन्ध विनिमय के निर्णय में परिवर्तन कर सकती है या उसे रह कर सकती है ।
2. यदि स्कन्ध विनिमय द्वारा प्रार्थना-पत्र पर निर्धारित अवधि में कार्यवाही नहीं की गई है तो सूचीयन की आज्ञा दे सकती है अथवा उससे मना कर सकती है ।

यदि केन्द्रीय सरकार ने स्कन्ध विनिमय के निर्णय को रह कर दिया है अथवा सूचीयन की आज्ञा दी है तो स्कन्ध विनिमय ऐसे आदेश का पालन करने के लिए बाध्य होगा ।

जयपुर स्टॉक एक्सचेंज

स्थापना : कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 25 के अधीन जयपुर स्टॉक एक्सचेंज की स्थापना सन 1984 में अलाभकारी प्रमण्डल के रूप में हुई । इस स्टॉक एक्सचेंज को 9 जनवरी 1989 को केन्द्रीय सरकार ने मान्यता प्रदान की । आरम्भ में इसकी सदस्य संख्या 500 थी, जिसमें सन् 1995 में 100 सदस्यों की वृद्धि और की गई और इस प्रकार अब इसकी सदस्य संख्या 600 है । जयपुर स्टॉक एक्सचेंज का रजिस्टर्ड कार्यालय जयपुर चेम्बर भवन में है । स्टॉक एक्सचेंज का अपना भवन, मालवीय नगर, जयपुर में है । इसका उद्देश्य सर्व साधारण में विनियोजन को प्रोत्साहित करना है तथा प्रतिभूतियों के व्यवहारों को बढ़ावा देना है।

प्रबन्ध : जयपुर स्टॉक एक्सचेंज की प्रबन्ध व्यवस्था एक प्रबन्धकीय काउन्सिल के अधीन है. जिसमें कुल 13 सदस्य है प्रबन्धकीय काउन्सिल स्टॉक एक्सचेंज के प्रबन्ध तथा व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है तथा एक्सचेंज की नीति निर्धारण की अधिकारी है । जयपुर स्टॉक एक्सचेंज अपना कार्य विभिन्न समितियों द्वारा सम्पन्न करता है ।

सूचीयन : मार्च, 1995 तक जयपुर स्टॉक एक्सचेंज पर 400 कम्पनियों का सूचीयन था । एक्सचेंज पर स्वीकृत प्रतिभूतियों को सम्मिलित करते हए 800 कम्पनियों की प्रतिभूतियों में व्यवहार किये जाते हैं । प्रतिदिन इस एक्सचेंज पर लगभग 600 करोड़ रू. के सौदे सम्पन्न होते हैं । जयपुर' स्टॉक एक्सचेंज सौदों के निपटारे के लिए कम्प्यूटर प्रणाली का उपयोग करता है ।

स्कन्ध विनिमय बाजार के दोष : स्कन्ध विनिमय बाजार से विनियोजक, उद्योग समाज तथा सरकार को अनेक लाभ होते हुए भी यह बाजार दोषों से युक्त है । मुख्यत: ये दोष इन बाजारों की कार्य प्रणाली तथा इन पर कार्य करने वाले दलालों के अवांछित व्यवहारों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं । स्कन्ध विनिमय बाजारों में सट्टा जहाँ एक ओर स्थायित्व के लिए लाभकारी होता है, तो दूसरी ओर यह अनेक अनुचित प्रवृत्तियों को भी जन्म देता है । इसके निम्नलिखित दोष है -

- यह बाजार सट्टे को प्रोत्साहित करते है ।

- इसमें दलालों द्वारा धोखाधड़ी करना आम बात होती है ।
- स्कन्ध विनिमय बाजारों की कार्य प्रणाली की जटिलता एवं अनियंत्रित व्यवहारों ने जनसाधारण का इनमें विश्वास कम किया है ।
- इनकी चमक-दमक अनुभवहीन लोगों को प्रतिभूतियों में अपना धन लगाने को उकसाती हैं, जिससे वे हानि उठाते है । इसके कारण प्रतिभूतियों के मूल्य में अनावश्यक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं ।

स्कन्ध विनिमय बाजारों के दोष दूर करने के उपाय : स्कन्ध विनिमय बाजारों के दोषों को दूर करने के लिए भारतीय सरकार द्वारा अनेक प्रकार के प्रयास किये गए है । सेबी (SEBI) की स्थापना इन बाजारों के दोषों को दूर करने तथा इनकी कार्य-प्रणाली पर नियंत्रण के उद्देश्य से की गई है । स्कन्ध विनिमय बाजारों के दोषों के निवारण के लिए समय-समय पर विशेषज्ञ दलों की स्थापना की गई और उनके सुझावों के क्रियान्वयन द्वारा इन बाजारों में होने वाले व्यवहारों को नियंत्रित करने के प्रयास किये गये हैं । इसके दोषों को दूर करने के लिए निम्नलिखित कार्य आवश्यक हैं।

- बाजारों के प्रशासन को नियमों का कड़ाई से पालन करना चाहिये ।
- अनुसूचित व्यवहारों को बढ़ावा देने वाले कारकों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये ।
- सट्टे की प्रबलता को रोकने के लिए 'मार्जिन मनी सम्बन्धी व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण होना चाहिये ।
- सूचीयन के समय प्रमण्डल की आर्थिक स्थिति का तर्कसंगत मूल्यांकन किया जाना चाहिये ।
- बाजार में कार्यरत दलालों को अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना चाहिये ।
- स्कन्ध विनिमय बाजारों की सूचना प्रणाली को अधिक व्यापक बनाया जाना चाहिये ।
- नियमों का पालन न करने वाले सदस्यों से नरमी न बरत कर उन्हें कठोर दंड दिया जाना चाहिये ।

5.8 सिद्धान्त

भारत में स्कन्ध विनिमय बाजारों के सिद्धान्त अपने आप में अहम भूमिका निभाते हैं । स्कन्ध विनिमय में सिद्धान्त लागू करने के लिए अखिल भारतीय अधिनियम का काफी समय तक अभाव रहा है । क्षेत्रीय आधार पर अवश्य ही कुछ प्रयास हुये, किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयासों का कार्य क्षेत्र विशिष्ट सीमा तक ही सीमित था । मुम्बई सरकार ने सन् 1925 में प्रतिभूति अनुबन्ध नियंत्रण अधिनियम पारित किया जो मुम्बई तथा अहमदाबाद स्कन्ध विनिमय पर लागू था । इसी प्रकार हैदराबाद राज्य में प्रतिभूति अनुबन्ध नियमन अधिनियम 1943 बनाया गया, किन्तु यह नियमन एवं नियंत्रण सम्बन्धी विधान अपने उद्देश्यों में विशेष सफल नहीं हो पाये । इन अधिनियमों के होते हुए भी अनेक अमान्यता प्राप्त विनिमय बाजार कार्यरत थे । साथ ही ये विधान अमान्यता प्राप्त विनिमय बाजारों पर भी पूर्ण नियंत्रण कर पाने में असमर्थ थे । स्कन्ध विनिमय बाजारों की संख्या में भी कालान्तर में वृद्धि हुई और इनकी व्यवस्था तथा कार्यप्रणाली को व्यवस्थित करने के लिए सरकार ने विशेष प्रयास का बीड़ा उठाया । इस समिति ने 1951 में अपना प्रतिवेदन तथा विधेयक का प्रारूप सरकार को प्रस्तुत किया । गोरवाला

समिति द्वारा दिये गये प्रारूप के आधार पर सन् 1956 में प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम पारित किया गया । भारत में आज स्कन्ध विनिमय बाजारों का नियमन तथा नियंत्रण इस अधिनियम के द्वारा होता हे ।

5.9 स्कन्ध विनिमय बाजार के कार्य (Functions of Stocks Exchange Market)

इसके निम्नलिखित मुख्य कार्य हैं -

1. **प्रतिभूतियों में व्यवहार के लिए नियमित बाजार प्रदान करना :** स्कन्ध विनिमय बाजार एक ऐसा संगठित बाजार है । जहाँ प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है । प्रतिभूतियों में क्रय-विक्रय सम्बन्धी व्यवहार करने के लिए निश्चित बाजार की व्यवस्था ही स्कन्ध विनिमय का मूल उद्देश्य होता है, जिन बाजारों में नियमित रूप में व्यवहार होते रहते हैं ।
2. **औद्योगिक एवं सेवा संस्थाओं की पूंजी की व्यवस्था :** स्कन्ध विनिमय बाजारों में औद्योगिक एवं सेवा संस्थान अपनी प्रतिभूतियों के विक्रय द्वारा आवश्यक पूंजी प्राप्त कर सकते हैं।
3. पूंजी निर्माण में सहायता करना : इन बाजारों का एक महत्वपूर्ण कार्य औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थानों में पूंजी लगाने के लिए सर्व साधारण को प्रोत्साहित करना होता है।
4. **विनियोगों को तरलता प्रदान करना :** विनियोक्ता अपने विनियोगों को तरल बनाये रखने चाहते है । व्यावसायिक संस्थाओं के अंश तथा ऋणपत्रों में लगी' पूँजी स्कन्ध विनिमय बाजारों के द्वारा कभी भी इन्हें बेचकर वापिस प्राप्त की जा सकती है ।
5. **बचत भावना को बढ़ावा :** स्कन्ध विनिमय बाजारों के माध्यम से जनसाधारण अपनी अल्प बचतों का विनियोग औद्योगिक प्रतिभूतियों में कर सकते हैं । इस प्रकार बचत भावना का विकास हो जाता है ।
6. **व्यवहारों को न्यायोचित एवं सुरक्षित बनाना :** इन बाजारों में किये जाने वाले व्यवहार प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम 1985 द्वारा संचालित होते है । इसलिए अस्वस्थ एवं अवैध व्यवहार हतोत्साहित होते हैं । स्कन्ध विनिमय बाजार के अपने नियमों एवं उपनियमों को तोड़ने पर दण्ड आदि की व्यवस्था होती है, फलस्वरूप सौदे करने में सुरक्षा बनी रहती है ।
7. **परिकल्पना को प्रोत्साहित करना :** परिकल्पना के सौदे मूलत: भावी सौदे होते हैं और तैयार सौदों की अपेक्षा अधिक जोखिमपूर्ण होते हैं । इस बात की आवश्यकता होती है कि ऐसे सौदे निश्चित नियमों एवं शर्तों के अधीन हों । स्कन्ध विनिमय बाजार ऐसे सौदों की अवधि, भुगतान के दिन तथा आदि शर्तें निश्चित कर देते हैं । इससे स्वस्थ परिकल्पना को प्रोत्साहन मिलता है ।

8. **प्रतिभूतियों का सूचीकरण करना :** इन बाजारों में केवल सूचीबद्ध प्रतिभूतियों में ही व्यवहार किये जा सकते हैं । किसी औद्योगिक संस्थान को अपनी प्रतिभूतियों का सूचीकरण कराने के लिए निर्धारित आवश्यकताओं की पूर्ति करनी आवश्यक होती है । सूचीकरण सामान्य अवस्था में किसी औद्योगिक संस्था एवं उसकी प्रतिभूति की सुदृढ़ता का प्रमाण माना जा सकता है ।
9. **बाजार समाचारों का प्रकाशन करना :** स्कन्ध विनिमय बाजार समाचारों का प्रकाशन करते हैं । इन समाचारों में प्रतिभूतियों के मूल्य तथा बाजार अवस्था की जानकारी प्राप्त होती रहती है ।
10. **प्रतिभूतियों का व्यापक वितरण करना :** साधारणतया विनियोक्ता संस्था द्वारा प्रतिभूतियों के निर्गमन के समय उनमें विनियोग करने में सकुचाता है तथा प्रतीक्षा करता है कि वह उन्हें तब क्रय करे जब उन पर लाभांश मिलने लगे तथा उन्हें लेने की जोखिम कम से कम हो । प्रतिभूतियों के निर्गमन पर प्राय: परिकल्पक बड़े विनियोक्ता एवं दलाल आदि क्रय कर लेते हैं तथा बाद में इन्हें स्कन्ध विनिमय के माध्यम से बेचते हैं । साधारण विनियोक्ता इन्हीं के माध्यम से क्रय करता है ।

5.10 उदाहरण

किसी स्कन्ध विनिमय बाजार के अवलोकन मात्र से देश की वर्तमान अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है । ऐसा कहा जाता है कि जर्मन राजनीतिज्ञ बिस्मार्क ने इंग्लैण्ड प्रस्थान कर रहे एक जर्मन युवक को यह परामर्श दिया कि यदि तुम इंग्लैण्ड की आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना चाहते हों तो हाउस ऑफ कामन्स का करने की अपेक्षा तुम्हें लंदन स्कन्ध विनिमय बाजार का अध्ययन करना चाहिये । यथार्थ में स्कन्ध विनिमय बाजार एक देश की समृद्धि का मापक यंत्र है ।

5.11 सारांश

किसी भी देश के विकास में स्कन्ध विनिमय केन्द्रों का विशेष महत्व होता है । जन सामान्य की अनभिज्ञता के कारण उसमें अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ विद्यमान हैं । जन-सामान्य का इन केन्द्रों से कोई वास्ता नहीं पड़ता, केवल कुछ धनवान व्यक्ति ही इन केन्द्रों के कारोबार में हिस्सा लेते हैं, अत: सामान्य व्यक्ति इन्हें धनवान व्यक्ति के जुआघर, सट्टे की दुकान के स्थान के रूप में देखते है, वास्तविकता इससे भिन्न है । स्कन्ध विनिमय केन्द्र एक सुगठित बाजार है जहाँ पर संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों, सरकारी, अर्द्ध-सरकारी एवं जनोपयोगी संस्थाओं के अंशों एवं ऋण पत्रों का विक्रय किया जाता है ।

5.12 शब्दावली

1. **ऋणपत्र (Debentures):** ऋण पत्र के प्रमाण-पत्र के रूप में किसी कम्पनी द्वारा (ऋण दाता) को दिया जाने वाला प्रलेख कहा जाता है ।
2. **सूचीयन (Listing):** स्कन्ध विनिमय बाजार द्वारा किसी प्रतिभूति का व्यवहारों के लिए स्वीकृति प्रदान सूचीयन कहा जाता है ।

3. **दलाल (Broker):** दलाल एक ऐसा मध्यस्थ व्यापारी है जो किसी स्कन्ध विनिमय बाजार में पंजीकृत होता है तथा स्कन्ध विनिमय में किये जाने वाले व्यवहार इसी के माध्यम से होते हैं । यह अपने नाम में व्यवहार करने का अधिकार नहीं रखता ।
4. **कृत्यकी (jobber):** कृत्य की स्कन्ध विनिमय बाजार का ऐसा पंजीकृत सदस्य होता है, जो केवल अपने नाम में व्यवहार करने का अधिकारी है । दलाल के विपरीत कृत्यकी स्वयं के नाम व्यवहार करके लाभ कमाता है ।
5. **अंकित मूल्य (Face Value):** अंकित मूल्य किसी प्रतिभूति का वह मूल्य है जो उस पर लिखा होता है ।
6. **बाजार मूल्य (Market Value):** बाजार मूल्य वह मूल्य है जिस पर वास्तव में प्रतिभूति का क्रय विक्रय होता है । यह मूल्य अंकित मूल्य के समान अथवा उससे कम या अधिक हो सकता है ।
7. **प्रवाद (Tip):** ऐसा कोई समाचार जिसका प्रभाव प्रतिभूति के मूल्य पर पड़ता है, उसे प्रवाद कहा जाता है ।
8. **फीते वाला मूल्य (Tape Price):** स्कन्ध विनिमय बाजार में लगे टेलीप्रिन्टर के फीते पर बाजार में किसी भी समय क्या मूल्य है छपते रहते हैं । इसलिए इन मूल्यों को फीते वाले मूल्य कहा जाता है ।

5.13 अभ्यास: वस्तुनिष्ठ प्रश्न

सही विकल्प चुनिये :

1. स्कन्ध विनिमय में प्रतिभूतियों का सूचिनयन कराना आवश्यक नहीं है -
   अ. व्यापारिक प्रतिभूतियाँ
   ब. औद्योगिक प्रतिभूतियाँ
   स, कच्चे माल सम्बन्धी प्रतिभूतियाँ
   द. जनन सम्बन्धी प्रतिभूतियाँ
   य. सरकारी प्रतिभूतियों
2. ऐसा सदस्य जो दलाल एवं कृत्यकी दोनों रूप में. कार्य करता है, कहा जाता है-
   अ. सह दलाल
   ब. स्टैग
   स. अभिगोपक
   द. तरावनीवाला
   य. अधिकृत लिपिक
3. स्कन्ध विनिमय में सूचीयन से आशय है -
   अ. प्रतिभूतियों में व्यवहार के लिए मान्यता
   ब. प्रतिभूतियों की सूची
   स व्यापारियों की सूची
   द. क्रेताओं की सूची

य. विक्रेताओं की सूची

4. प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम किस वर्ष प्रभाव में आया

   अ. 1937. ई. सन्

   ब. 1947 ई. सन्

   स 1957 ई. सन्

   द. 1967 ई. सन्

   य. 1977 ई. सन्

लघु उत्तरात्मक प्रश्न:

1. स्कन्ध विनिमय बाजार का अर्थ स्पष्ट कीजिये ।
2. स्कन्ध विनिमय बाजार के प्रमुख उद्देश्य बताइये ।
3. स्कन्ध विनिमय बाजार की आलोचनाओं के दो बिन्दु दीजिये ।
4. स्कन्ध विनिमय पर सदस्यता प्राप्ति की कौन- सी विधियाँ हैं?
5. स्कन्ध विनिमय से सम्बन्धित, प्रतिभूति अनुबन्ध अधिनियम 1956 के तीन उद्देश्य बताइये ।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. स्कन्ध विनियोग केन्द्र से आपका क्या तात्पर्य है? स्कन्ध विनिमय केन्द्र द्वारा किये जाने वाले कार्यो का वर्णन कीजिये ।
2. सूचीयन से आप क्या समझते हैं? सूचीयन की विधि का वर्णन कीजिये ।
3. भारत में स्कन्ध विनिमय बाजार के संगठन एवं प्रबन्ध का वर्णन कीजिये।
4. भारत में स्कन्ध विनिमय के नियमन एवं नियंत्रण अथवा सिद्धान्तों पर सविस्तार टिप्पणी लिखिये ।
5. स्कन्ध विनिमय से सम्बन्धित निम्नलिखित शब्दावली को स्पष्ट कीजिये :-

   अ दलाल

   ब. बाजार मूल्य

   स अंकित मूल्य

   द. स्कन्ध

   य. सूचीयन

5.14 उपयोगी पुस्तकें

1 व्यावसायिक संगठन – शर्मा, शर्मा, सुराना

2 व्यावसायिक संगठन – डॉ. आर.एल. नौलखा

3 Business Organisation : M.J. Mathew

इकाई-6 : व्यावसायिक संयोजन (Business Combination)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 इतिहास एवं विकास

6.3 अर्थ एवं परिभाषा

6.4 महत्त्व

6.5 सीमाएँ

6.6 प्रकार

6.7 अन्य विषयों से सम्बन्ध

6.8 विशेषताएँ

6.9 आधार

6.10 उदाहरण

6.11 सारांश

6.12 अभ्यास

6.13 उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

व्यावसायिक संयोजन से आशय दो या अधिक इकाइयों का जो समान या विभिन्न प्रकार की वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन अथवा वितरण में लगी हो, समान उद्देश्य के लिए एक सूत्र में बंधने से है । संयोजन निम्नांकित उद्देश्यों से प्रेरित होकर किया जा सकता है -

1. कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए तथा प्रशासनिक प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिए ।
2. व्यावसायिक क्षेत्र में आने वाली तेजी-मन्दी के कालचक्रों से सदस्य इकाइयों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए ।
3. संयोजन का मुख्य उद्देश्य है किसी उद्यम में कार्यरत विभिन्न इकाइयों की आपसी प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर, उनमें पारस्परिक सहयोग एवं सहकारिता की भावना जागृत करना ।
4. संयोजन के माध्यम से व्यावसायिक इकाइयों के अस्तित्व की रक्षा सरलतापूर्वक की जा सकती है, और उनका भावी विकास एवं विस्तार भी किया जा सकता है ।
5. संयोजन के माध्यम से व्यावसायिक इकाइयों में विवेकीकरण सरलता से लागू कर उससे लाभ उठाया जा सकता है ।
6. कई इकाइयों के आपस में मिलने का एक उद्देश्य यह भी होता है कि वे बड़े पैमाने पर उत्पादन कर अधिकाधिक लाभ कमाएँ ।
7. संयोजन का आशय लेकर कई कम्पनियाँ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों पर अपना नियन्त्रण रखने का उद्देश्य पूरा करने में सक्षम हो जाती हैं ।

8. कुशल प्रबन्धकों एवं तकनीकी विशेषज्ञों की सेवाओं का व्यय-भार अकेली इकाइयाँ सरलता पूर्वक वहन नहीं कर पाती । इसलिए वे आपस में मिलकर ही उनकी सेवाओं का लाभ उठा सकती हैं ।
9. विवेकीकरण की योजना को लागू करने के लिए ।
10. संयोजन के अन्तर्गत कई कम्पनियाँ मिल जाती हैं, जिससे उनके आर्थिक एवं औद्योगिक साधन केन्द्रीभूत होकर सब मिलने वाली इकाइयों का आर्थिक ढाँचा सुदृढ़ हो जाता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संयोजन चाहे स्थायी हो या अस्थायी, सम्पूर्ण हो या आंशिक - किसी विशेष उद्देश्य को लेकर ही बनाया जाता है, अत: उद्देश्य के अनुरूप ही वह अपना रूप धारण कर लेता है।

6.1 प्रस्तावना

सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्तियों का एक समुदाय में संगठित होना संयोजन कहलाता है । यन्त्रीकरण के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा है और बड़े-बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के सामने छोटों का जीना दुर्लभ हो गया । प्रतियोगिता में निरन्तर वृद्धि होने लगी है, जिसके फलस्वरूप छोटी और दुर्लभ व्यावसायिक इकाइयों को अपना अस्तित्व बचाना मुश्किल हो गया है । उनके सामने एक ही रास्ता शेष रह गया है कि वे संगठित होकर उस संकट का मुकाबला करें । इससे संयोजन का प्रादुर्भाव हुआ । इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रतिस्पर्धा संयोजन की जननी है ।' व्यावसायिक संयोजन विभिन्न या समान प्रकार के व्यावसायिक संगठनों के मध्य एक औपचारिक या अनौपचारिक समझौता है । इस समझौते की शर्तों के अनुसार ही सभी संगठनों पर आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है, ताकि सभी संगठनों के हितों एवं उद्देश्यों की पूर्ति एवं सुरक्षा हो सके ।

6.2 इतिहास एवं विकास

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में, इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने उत्पादन प्रणाली को यन्त्रीकृत बना दिया, जिसके फलस्वरूप बडे-बडे कल-कारखानों की स्थापना होने लगी, और मुक्त प्रतियोगिता (Free Competition) एवं अबाध व्यापार (Laissez Faire Policy) के सिद्धान्तों पर आधारित पूँजीवाद (Capitalism) पनपने लगा, फलतः यन्त्रीकृत बड़े पैमाने पर संचालित औद्योगिक इकाइयों में परस्पर कच्चे माल को खरीदने एवं निर्मित माल को बेचने के लिए प्रतिस्पर्द्धा होने लगी । कालान्तर में इस प्रतियोगिता ने उग्र रूप धारण किया । अनन्तोगत्वा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इस कटु एवं कण्ठछेदी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए प्रतियोगी व्यावसायिक इकाइयाँ आपस में मिलने लगीं, जिसके फलस्वरूप संयोजन आन्दोलन (Combination Movement) का आविर्भाव हुआ । संयोजन आन्दोलन, औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में, विशेष रूप से, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में अत्यधिक प्रचलित था जिसके फलस्वरूप जर्मनी के 'कार्टेल और संयुक्त राज्य अमेरिका के 'ट्रस्ट' अत्यधिक लोकप्रिय हो गये । भारतवर्ष में औद्योगिक क्रान्ति का बहुत देर से प्रभाव पड़ा, जिसके कारण आज तक संयोजन प्रथा यही अपनी शैशव अवस्था में ही है ।

6.3 अर्थ एवं परिभाषा

साधारण अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि जब दो या दो से अधिक व्यावसायिक इकाइयाँ, अपने समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, आपस में मिलकर कार्य करती हैं, तो इस मिलन को व्यावसायिक संयोजन की संज्ञा दी जाती है । वस्तुत: संयोजन के अन्तर्गत, प्रतियोगी व्यावसायिक इकाइयाँ, आपसी अस्वस्थ प्रतियोगिता के दुष्परिणामों से बचने के लिए तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने और मितव्ययताएँ प्राप्त करने आदि उद्देश्यों से प्रेरित होकर, परस्पर मिलकर, व्यवसाय संचालन करती हैं, जिससे वे सहयोग एवं सहकारिता के आधार पर, अपने सामान्य हितों की पूर्ति, सरलतापूर्वक कर सकें । व्यावसायिक इकाइयों का इस प्रकार का संयोग सामान्य समझौते से लेकर पूर्ण विलय तक का भी रूप धारण कर सकता है । यह आवश्यक नहीं है कि मिलने वाली व्यावसायिक इकाइयाँ अपना समाप्त कर दें । वे समूह में सम्मिलित होकर भी अपना पृथक अस्तित्व कायम रख सकती हैं ।

प्रो. एल.एच. हैने के अनुसार संयोजित होने का आशय है किसी समूह के अनेक अंगों: में से एक अंग बनना है, और संयोजन, सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कतिपय व्यक्तियों का एक समूह या संघ मात्र है ।

डॉ.एल.ए. जोशी के अनुसार 'औद्योगिक संयोजन को एक ऐसे आर्थिक संगठन के रूप में परिभाषित किया गया है जिसके द्वारा अनेक फार्मों पर अधिक या अल्प सम्पूर्णता के साथ सामान्य नियन्त्रण रखा जाता है जो अभी तक स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य कर चुकी है या कार्य कर सकती है । '

डॉ कोठरी के अनुसार संयोजन से आशय किन्हीं दो या अधिक एकाकी अथवा निर्गमित औद्योगिक इकाइयों के औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप में सम्मिलन से है, जो समान अथवा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन कर रही है अथवा किसी वस्तु के निर्माण की अनुगामी प्रक्रिया में संलग्न है, ताकि विनियोजित पूँजी पर अधिकाधिक लाभ अर्जित किया जा सके ।.

प्रो. मैक्ग्रेगर के अनुसार 'औद्योगिक संयोजन आर्थिक संगठन की एक विधि है जिसके द्वारा बहुत सी उन फार्मों पर न्यूनाधिक पूर्णता के साथ सामान्य नियन्त्रण स्थापित किया जाता है जो या तो स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थीं या कर सकती थी । यह नियन्त्रण स्थायी अथवा अल्पकालीन रूप से सभी या कुछ उद्देश्यों के लिए हो सकता है ।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि किसी उद्यम के अन्तर्गत कार्यरत विभिन्न इकाइयों का, समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, एक सूत्र में बॉधना ही, व्यावसायिक संयोजन कहलाता है ।

6.4 महत्त्व

संयोजन के निम्नलिखित महत्व हैं -

1. **घातक प्रतिस्पर्धा का अन्त -** एक ही उद्योग में संलग्न विभिन्न इकाइयों के मध्य संयोजन से अनावश्यक घातक प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है ।

2. **सके पैमाने पर उत्पादन के लाभों की प्राप्ति -** जब एक ही उद्योग में संलग्न विभिन्न इकाइयों के मध्य संयोजन होता है तो बडे पैमाने पर उत्पादन के लाभ प्राप्त होने लगते हैं । उदाहरण के तौर पर बड़ी मात्रा में कच्चे माल की खरीद तथा विशेषज्ञों की सेवाओं का उपलब्ध होना ।
3. **पारस्परिक सहयोग एवं सहकारिता की भावना का पोषण -** संयोजनों के माध्यम से परस्पर मिलकर कार्य करने की भावना को पर्याप्त रूप से पोषण मिल जाता है, जिससे आपसी ईर्ष्या व द्वेष की मनोवृत्ति सहयोग एवं सहकारिता में परिणत हो जाती है, जो उद्यम को बढ़ाने में कई प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकती है।
4. **आर्थिक सुदृढ़ता -** संयोजन के माध्यम से अनार्थिक इकाइयों की स्थिति में आर्थिक स्थायित्व एवं सुदृढ़ता आ जाती है, जिससे वे भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो जाती हैं।
5. **वितरण के खर्चो में कमी -** जिस प्रकार संयोजन से बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ होते हैं उसी प्रकार संयोजन से वितरण के खर्चो में भी कमी की जा सकती है ।
6. **एकाधिकार के लाभ -** वस्तुत: संयोजन से एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और उसके समस्त लाभ सभी सम्मिलित होने वाली इकाइयों को सरलता से उपलब्ध हो जाती है ।
7. **प्रबन्ध में मितव्ययता -** संयोजन के अन्तर्गत सभी उद्यमों में उत्पादन सम्बन्धी मितव्ययताएँ प्राप्त हो सकती है । उदाहरण के लिए - कच्चा माल खरीदने, मशीनरी क्रय करने, निर्मित माल विक्रय करने, परिवहन व्यय आदि में पर्याप्त मितव्ययताएँ प्राप्त हो जाती हैं क्योंकि मिलने वाली सब इकाइयों के लिए इस प्रकार की एक साथ ही व्यवस्था करनी होती है ।
8. **माल के वितरण में मितव्ययता -** संयोजन के माध्यम से, माल उपभोक्ताओं तक पहुँचाने में, विज्ञापन एवं परिवहन सम्बन्धी खर्चो में काफी बचत हो जाती है, क्योंकि ये सब कार्य सामूहिक रूप से किया जा सकता है ।
9. **पूँजी की समस्या का हल -** संयोजन उत्पादन के पैमाने को बढ़ाता है, अन्य खर्चों को रोकता है तथा आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान करता है । इसका सम्मिलित प्रभाव यह पड़ता है कि संयोजन में सम्मिलित इकाइयों की प्रतिष्ठा बढ़ती है । उन्हें अंशों एवं ऋण-पत्रों के निर्गमन से पूँजी प्राप्त करने में सुविधा होती है । साथ ही साथ उनके द्वारा लाभ बांटने से संचित कोषों में वृद्धि होती है और लाभों का पुनर्विनियोजन होने से पूँजी की समस्या का हल होता है ।
10. **विवेकीकरण के लाभों की प्राप्ति -** संयोजन से विवेकीकरण में सुविधा होती है और इस प्रकार संयोजन होती है और इस प्रकार संयोजन में सम्मिलित इकाइयों को विवेकीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं ।
11. **विदेशी व्यापार में सुविधा-**संयोजन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक व्यापक हो सकता है । संयोजन विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करता है ।

12. **सरकारी नियन्त्रण में सुविधा -** संयोजन के फलस्वरूप अनेक इकाइयों के साथ मिल जाने से सरकार को नियन्त्रण करने में सुविधा होती है ।
13. **बाजारों एवं मन्त्रियों का विस्तार -** संयोजन जनित सहकारिता व्यवसाय की शक्ति में वृद्धि करता है जिससे बाजार एवं मण्डियों के विस्तार में सुविधा होती है ।
14. **उचित समन्वय -** संयोजन के माध्यम से एक ही उद्यम में कार्यरत विभिन्न इकाइयों अथवा एक ही वस्तु के उत्पादन में सम्बन्धित विभिन्न प्रक्रियाओं में उचित समन्वय स्थापित किया जा सकता है, जिससे कार्य कुशलता का लाभ सहज ही प्राप्त हो सकता है ।
15. **भौगोलिक विकेन्द्रीकरण:** संयोजन आन्दोलन से भौगोलिक विकेन्द्रीकरण संभव हो जाता है और उद्यम में स्थिरता आ जाती है, क्योंकि संयोजन के अन्तर्गत कार्यरत सभी इकाइयाँ मिलकर किसी क्षेत्र विशेष के संकट का सामना सरलता से कर सकती हैं ।

6.5 सीमाएं

संयोजन की निम्नलिखित सीमाएँ हैं :-

1. **एकाधिकार के दोष -** संयोजन एकाधिकार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है । एकाधिकार की प्रवृत्ति पूर्णरूप से दोषमुक्त नहीं है । जहाँ एक ओर संयोजन में सम्मिलित होने वाली इकाइयों को एकाधिकार के लाभ प्राप्त होते हैं, वहीं दूसरी ओर समाज को सामान्यत: एकाधिकार के दोषों से नुकसान उठाना पड़ता है, अत: संयोजन समाज के लिए अहितकर और हानिकारक सिद्ध हो सकता है ।
2. **पूँजीवाद का प्रोत्साहन -** संयोजन के अन्तर्गत मिलने वाले सदस्य वैसे पूँजीपति ही होते हैं और मिलने से पूँजी का बाहुल्य हो जाता है, जिससे पूँजीवाद को बढ़ावा मिलता है, फलतः पूँजीवाद के समस्त दोष संयोजन में भी पैदा हो जाते हैं ।
3. **आर्थिक एवं राजनैतिक सत्ता का केन्द्रीकरण -** संयोजन के निर्माण से आर्थिक सत्ता कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीभूत हो जाती है, जो राजनैतिक सत्ता क्रय करने में सफल हो जाते हैं जिससे देश का अर्थ-तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है और उसके साधनों का अपव्यय एवं दुरूपयोग होने लगता है ।
4. **प्रबन्ध एवं नियंत्रण में शिथिलता -** संयोजन के फलस्वरूप व्यावसायिक संस्था के आकार में इतनी विशालता आ जाती है कि उसका कुशल प्रबन्ध एवं नियंत्रण कठिन हो जाता है।
5. **व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव -** संयोजन के परिणामस्वरूप व्यवसाय में इतनी विशालता आ जाती है कि व्यापारियों, श्रमिकों और ग्राहकों में व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखना दुर्लभ हो जाता है, जिसके कारण एक दूसरे के हितों को समझना कठिन हो जाता है, फलतः सम्पर्क के अभाव के कारण होने वाले दुष्परिणामों का सामना करना पड़ता है ।
6. **सत्ता का केन्द्रीकरण -** संयोजन आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है । आर्थिक सत्ता के कुछ हाथों में केन्द्रीयभूत होने से उन व्यक्तियों में राजनैतिक सत्ता को क्रय करने की शक्ति आ जाती है । इस प्रकार आर्थिक और

राजनैतिक सत्ता का केन्द्रीकरण राष्ट्र और समाज के लिए अहितकर सिद्ध हो सकता है।

7. **अति पूंजीकरण के दोष -** संयोजन के फलस्वरूप पूँजी प्राप्त करने में सुविधा होती है । इस सुविधा के कारण अति पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, अत: उद्योगों में संयोजन के कारण अति पूँजीकरण के दोष उत्पन्न हो सकते हैं ।
8. **धन का असमान वितरण -** समायोजन से देश का अधिकांश धन कुछ ही उद्योगपतियों के हाथों में केन्द्रीभूत हो जाता है और शेष व्यक्ति धन विहीन स्थिति में ही रह जाते हैं, जिसके कारण समाज का धनी वर्ग और अधिक धनी होता जा रहा है और निर्धन वर्ग निर्धन होता जा रहा है ।
9. **व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव -** संयोजन के परिणामस्वरूप व्यवसाय में इतनी विशालता आ जाती है कि व्यापारियों, श्रमिकों और ग्राहकों में व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखना दुर्लभ हो जाता है, जिसके कारण एक दूसरे के हितों को समझना कठिन हो जाता है, फलतः सम्पर्क के अभाव के कारण होने वाले दुष्परिणामों का सामना करना पड़ता है ।
10. **उपभोक्ताओं का शोषण -** संयोजन के माध्यम से छोटी-छोटी इकाइयाँ समाप्त होकर बड़े-बड़े संघ बन जाते हैं, जिसके कारण व्यवसाय में व्याप्त प्रतियोगिता का अंत हो जाता है । उपभोक्ताओं का शोषण न केवल ऊँची कीमत वसूल करके ही किया जाता है, अपितु वस्तुएँ घटिया किस्म की सप्लाई की जाती हैं।
11. **जन-कल्याण एवं जन-भावना के विरूद्ध -** संयोजनों का निर्माण जन कल्याण एवं जन-भावना की दृष्टि से अनुचित है । यह सरकार और जनता दोनों का ही कोप-भाजन होता है । जब संयोजनों द्वारा जन-साधारण का शोषण चरमसीमा पर पहुंच जाता है तो सरकार कानून बनाकर इनका नियंत्रण करती है । यही कारण था कि अमेरिका में प्रयासों (Trusts) को अवैधानिक घोषित किया गया ।

6.6 प्रकार

संयोजन के प्रकार (Types of Combination)

संयोजन के प्रमुख प्रकार निम्नांकित हैं -

1. व्यापारिक संयोजन / क्षैतिज / समतल
2. उद्योग संयोजन / शीर्ष / लम्बवत् / विधि
3. मिश्रित संयोजन / एकीकृत / चक्रीय
4. सेवा संयोजन / विकर्णीय
5. सहायक संयोजन / पार्श्व

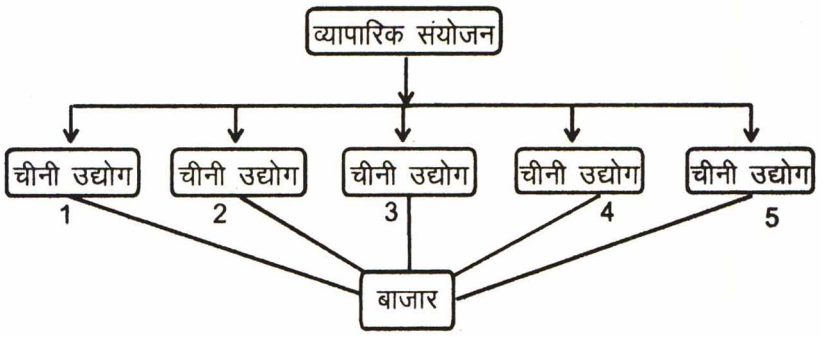

1. **व्यापारिक संयोजन (Horizontal or Trade Combination) :** यह क्षैतिज तथा समतल संयोजन के नाम से भी जाना जाता है । जब एक अथवा समान प्रकार के व्यवसाय में संलग्न इकाइयाँ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आपस में मिलकर कार्य करती है तो इस प्रकार के मिलन अथवा संयोग को समतल संयोजन के नाम से जाना जाता है ।

उदेश्य (**Objectives**) :

1. बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभों को प्राप्त करने के लिये ।
2. व्यापारिक चक्रों के दुष्परिणामों से बचने के लिये ।
3. एक दूसरे के अनुभव, तकनीकी ज्ञान एवं सूचनाओं का आदान-प्रदान करने के लिये ।
4. बाजार पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए ।
5. विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ प्राप्त करने के लिये ।
6. प्रबन्ध, उत्पादन एवं वितरण में फिजूलखर्ची को रोकने के लिये ।

लाभ (Advantage) :

1. **प्रतिस्पर्धा का अंत :** संयोजन अनार्थिक एवं अनुचित प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर, उचित एवं लाभकारी प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करता है ।
2. **बडे पैमाने पर उत्पादन के लाभ एवं बचतें:** क्षैतिज संयोजन के फलस्वरूप संयोजित इकाइयों के आकार में वृद्धि होती है जिससे उन्हें वृहत् स्तरीय उत्पादन के लाभों की प्राप्ति होती है तथा कच्चे माल और मशीनों के क्रय में बचत, विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ आदि ।
3. **आर्थिक सुदृढ़ता :** छोटी-छोटी इकाइयाँ मिलकर बाजार में अपनी स्थिति को मजबूत बना लेती हैं । प्रतिस्पर्धा का अंत एवं फिजूलखर्ची पर रोक लगाने से संयोजित इकाइयों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनती है ।
4. **अनुसंधान को बढ़ावा :** आजकल औद्योगिक अनुसंधान का व्यय-भार इतना अधिक होता है कि छोटी-छोटी इकाइयाँ उस भार को नहीं उठा पाती । क्षैतिज संयोजन के फलस्वरूप औद्योगिक अनुसंधान को बढ़ावा मिलता है ।
5. **वैज्ञानिक प्रबंध एवं विवेकीकरण के लाभों की प्राप्ति :** क्षैतिज संयोजन के फलस्वरूप संयोजित इकाइयाँ वैज्ञानिक प्रबंध एवं विवेकीकरण के लाभ प्राप्त कर सकती हैं ।

दोष (Disadvantages) :

1. **औद्योगिक विकास में बाधा :** प्रतिस्पर्धा औद्योगिक स्वास्थ्य में सुधार लाती है । प्रतिस्पर्धा का अंत औद्योगिक विकास की गति को अवरूद्ध करता है । एकाधिकार की शक्ति का दुरूपयोग औद्योगिक विकास की गति को रोकने के लिए किया जाता है ।
2. **पूंजीवाद को प्रोत्साहन :** क्षैतिज संयोजन व्यावसायिक इकाइयों के आकार में वृद्धि करता है जिससे पूँजीवाद को प्रोत्साहन मिलता है । पूँजीवाद के कुछ दोष भी हैं, अत: क्षैतिज संयोजक के साथ पूँजीवाद के दोष स्वत: आ जाते हैं ।
3. **नई संस्थाओं की स्थापना में कठिनाई :** संयोजित इकाइयाँ अपने लाभों को सुरक्षित बनाये रखने के लिए नई संस्थाओं की स्थापना में अधिकाधिक बाधा उत्पन्न करने की चेष्टा करती है । असंयोजित इकाइयाँ संयोजित इकाइयों के सम्मुख टिक नहीं सकती ।
4. **जोखिम में वृद्धि :** उत्पादन के पैमाने में वृद्धि होने से जोखिमों में भी वृद्धि होती है।
5. **समाजवाद के लक्ष्य को खतरा :** हमने राजनैतिक स्तर पर, प्रजातंत्र, एवं आर्थिक स्तर पर समाजवादी अर्थव्यवस्था को अपनाया है । सुदृढ़ क्षैतिज संयोजन से प्राप्त शक्ति का दुरूपयोग किया जा सकता है, जिससे हमारे राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है ।

2. **उद्योग संयोजन (Vertical Combination) :** जिसमें किसी एक उद्यम की विभिन्न क्रियाओं को स्वतंत्र रूप से करने वाली भिन्न-भिन्न इकाइयों को एक संस्था के रूप में संगठित किया जाता है । दूसरे शब्दों में, जब एक-दूसरे की पूरक क्रियाओं को स्वतंत्र रूप से सम्पन्न करने वाली विभिन्न औद्योगिक इकाइयाँ आपस में मिलकर एक हो जाती हैं तो इस एकीकरण को शीर्ष या उदग्र संयोजन की संज्ञा देते हैं । शीर्ष संयोजन से आशय उसी उद्योग की क्रमागत क्रियाओं को सम्पन्न करने वाली विभिन्न इकाइयों के संयोजन से है,. अत: इसके अनुसार शीर्ष संयोजन. एक ही उद्यम की क्रमागत उत्पादन-क्रियाओं में, स्वतंत्र रूप से कार्यरत, विभिन्न औद्योगिक इकाइयों का संयोजन है ।

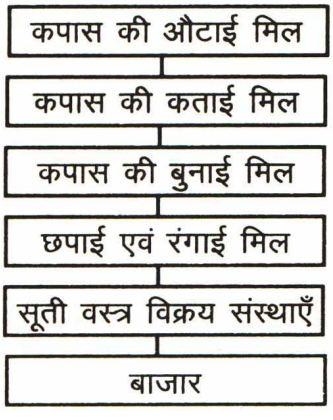

उद्देश्य (Objectives) :

1. कच्चे माल की पूर्ति पर नियंत्रण
2. उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में समन्वय
3. आत्मनिर्भरता
4. माल की किस्म व मात्रा पर नियंत्रण
5. संयोजित इकाइयों के लाभों में वृद्धि करना
6. वितरण के साधनों पर नियंत्रण
7. उत्पादन में निरंतरता

शीर्ष संयोजन के प्रकार (Types of vertical Combination) :

1. अग्रगामी शीर्ष संयोजन (Forward vertical Combination)
2. प्रतिगामी शीर्ष संयोजन (Backward vertical Combination)

1. **अग्रगामी शीर्ष संयोजन :** जब मूल उद्योग के साथ अन्य उद्योग जो इस मूल उद्योग के उत्पादित माल का प्रयोग करते हैं, संयोजन किया जाता है तो उसे अग्रगामी संयोजन के नाम से जाना जाता है ।
2. **प्रतिगामी शीर्ष संयोजन :** यह ठीक अग्रगामी नियोजन का विपरीत होता है । यदि कपड़ा बुनाई मिल, कताई और औटाई मिल से संयोजन करें तो यह प्रतिगामी शीर्ष संयोजन होगा । इस संयोजन का उद्देश्य कच्चे माल की पूर्ति पर नियंत्रण प्राप्त करना होता है । बुनाई मिल की दृष्टि से कता हुआ सूत कच्चा माल माना जायेगा और इसी प्रकार सूत की बुनाई के लिए औटी हुई कपास कच्चा माल माना जायेगा ।

लाभ (Advantage) :

1. **कच्चे माल की प्राप्ति की निश्चिन्तता :** शीर्ष संयोजन का महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि सभी संयोजित इकाइयाँ कच्चे माल की प्राप्ति के लिये निश्चित हो जाती हैं, क्योंकि इसमें समाविष्ट इकाइयाँ एक-दूसरे की पूरक होती हैं । अतः प्रत्येक इकाई को कच्चा माल सरलता पूर्वक मिल जाता है ।
2. **मध्य जनों का अन्त :** शीर्ष संयोजन में उत्पादन-क्रियाओं में संलग्न इकाइयाँ एक-दूसरे से इस प्रकार संयोजित होती हैं कि उन्हें अपने कार्यो के लिए किसी प्रकार की मध्य जनों की आवश्यकता नहीं रहती है, फलतः मध्य जनों की जेबों में जाने वाली राशियों की बचत सहज ही हो जाती है ।
3. **व्यापार-चक्रों से अप्रभावित:** शीर्ष संयोजन में समस्त उत्पादन-क्रियाओं का सूत्रीकरण हो जाने से, विशिष्टीकरण के लाभों की प्राप्ति तथा विविध प्रकार की बचतों के प्राप्त होने से संयोजित इकाइयों की स्थिति में सहज ही सुदृढ़ता आ जाती है । जिससे वे व्यापार चक्रों से उत्पन्न परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होने पाती है । वे स्वयं में अपनी दुनिया का निर्माण कर लेती है, जिससे वे तेजी-मंदी सम्बन्धी जोखिमों को मिलकर सरलता से झेल लेती हे ।

4. **विशिष्टीकरण के लाभ :** एक संस्था अपनी आय को उत्पादन की किसी एक प्रक्रिया तक सीमित रखती है जिससे विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है ।
5. **मध्यस्थों की समाप्ति:** शीर्ष संयोजन में सम्मिलित इकाइयों के मध्य ही जब माल का क्रय-विक्रय हो जाता है तो मध्यस्थों की आवश्यकता उत्पन्न नही होती ।
6. **मित्तव्ययता:** विक्रय विज्ञापन एवं विक्रय सम्बन्धी अन्य खर्चो के न होने से मित्तव्ययता होती है ।

दोष (Disadvantage):

1. **बडे पैमाने के लाभों से वंचित :** शीर्ष संयोजन उत्पादन के आकार में वृद्धि नही करता । अत: बहुस्तरीय उत्पादन के लाभ प्राप्त नहीं होते ।
2. **सीमित क्षेत्र :** इस प्रकार का संयोजन केवल उन्हीं उद्योगों में संभव है जहाँ उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाएं स्वतंत्र रूप से चलाई जा सकती हैं । अत: इस प्रकार के संयोजन का क्षेत्र सीमित ही रहता है ।
3. **अनुसंधान का अभाव :** शीर्ष संयोजन के अन्तर्गत संयोजित इकाइयों की औद्योगिक क्रियाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, जिससे सम्पूर्ण उद्योग सम्बन्धी अनुसंधान एक स्थान पर केन्द्रीभूत कर उसका लाभ इस इकाइयों को समान रूप से मितव्यतापूर्वक उपलब्ध करना बिल्कुल संभव नहीं है ।
4. **सीमित क्षेत्र:** शीर्ष संयोजन का सीमित क्षेत्र है, क्योंकि इसकी उपयोगिता केवल उसी औद्योगिक क्षेत्र में अत्यधिक है, जिसमें अंतिम उत्पादन अनेक मध्य वर्गीय क्रियाओं पर निर्भर होता है ।
5. **प्रतिस्पर्धा में कोई कमी नहीं :** शीर्ष रूप में संयोजित इकाइयाँ विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में लगी रहती हैं, अत: इस प्रकार के संयोजन से प्रतिस्पर्धा पर कोई रोक नहीं लगती ।
3. **मिश्रित संयोजन (Circular Combination) :** जब विभिन्न उद्यमों की औद्योगिक इकाइयाँ, जो पृथक रूप में, भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन करती है । किसी केन्द्रीय संगठन के अन्तर्गत संयोजित हो जाती है तो उसे वृत्तीय या चक्रीय संयोजन के नाम से सम्बोधित करते हैं । इसमें विभिन्न प्रकार का उत्पादन करने वाली औद्योगिक इकाइयाँ संयोजित होती हैं, अत: मिश्रित या पूरक संयोजन भी कहते हैं ।

उद्देश्य (Objectives)

1. प्रशासनिक एकीकरण का लाभ उठाना इसका प्रमुख उद्देश्य है ।
2. औद्योगिक शक्ति की लालसा वित्तीय संयोजन प्राय: ऐसे उद्योगपतियों द्वारा बनाये जाते हैं जिसके माध्यम से उनका अधिक से अधिक इकाइयों पर प्रभाव बना रहता है ।
3. **विस्तृत रूप से हितचिंतक के लिए निर्माण :** इस प्रकार के संयोजन का निर्माण प्राय: ऐसे महत्वाकांक्षी उपयोगिताओं द्वारा किया जाता है जिनका हित अनेक प्रकार के उद्यमों में विस्तृत रूप में विद्यमान होता है ।

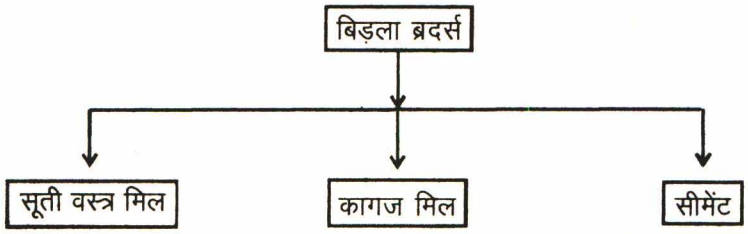

4. **सेवा संयोजन (Service Combination) :** इस प्रकार के संयोजन में मुख्य उद्योगों के साथ उससे संबंधित कुछ सहायक उद्योग मिल जाते हैं । इस प्रकार के संयोजन में प्रमुख उद्योग के साथ-साथ सहायक उद्योग धंधों को इसलिए मिला लिया जाता है कि माल के निर्माण व विक्रय के साथ-साथ उसकी मरम्मत या सुधार संबंधी सेवाएँ भी उपलब्ध करवायी जा सके । उदाहरण के लिए मशीन निर्माण उद्योग एवं उन मशीनों की मरम्मत करने वाले उद्योग अथवा इकाइयों के बीच संयोजन । इस प्रकार के संयोजन से माल के विक्रय, मरम्मत एवं अन्य सेवाओं को एक साथ लाया जा सकता है जिससे विक्रय में वृद्धि होती है ।

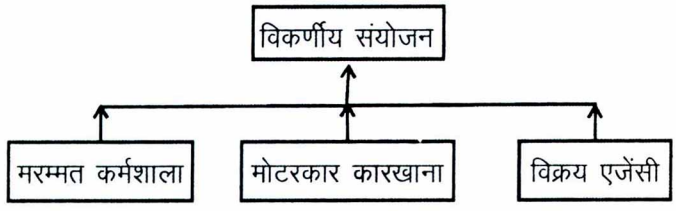

5. **सहायक संयोजन (Allied Combination) :** ऐसी औद्योगिक इकाइयों के एकीकरण से है जो अलग-अलग प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करती है, परन्तु वे वस्तुएँ किसी न किसी रूप में परस्पर संबंधित होती है इसके दो प्रकार हो सकते हैं।

   अ. केन्द्रीय पार्श्व संयोजन (Convergent Lateral Combination)

   ब. विकेन्द्रित पार्श्व संयोजन (Divergent Lateral Combination)

अ इस प्रकार के संयोजन में एक प्रमुख औद्योगिक इकाई होती है ओर अन्य औद्योगिक इकाईयाँ उसे कच्चा माल प्रदान करती हैं ।

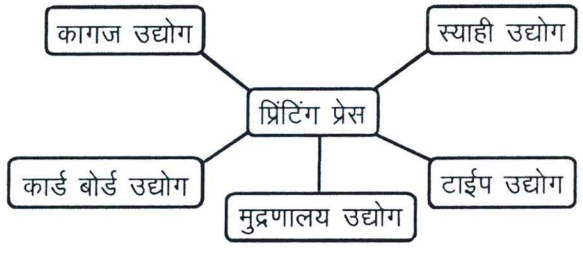

ब. इस प्रकार के एकीकरण का आशय ऐसे संयोजन से है जिसमें एक ही औद्योगिक इकाई द्वारा उत्पादित माल को कच्चे माल के रूप में उपयोग करने के लिए विभिन्न औद्योगिक इकाइयाँ संयोजित कर ली जाती हैं ।

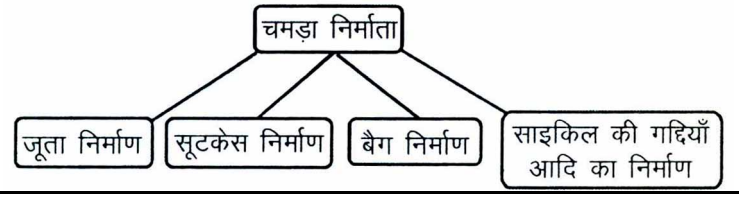

6.7 अन्य विषयों से संबंध

संयोजन के विभिन्न प्रारूप (Forms of Combination): संयोजन के मुख्य प्रारूप का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है-

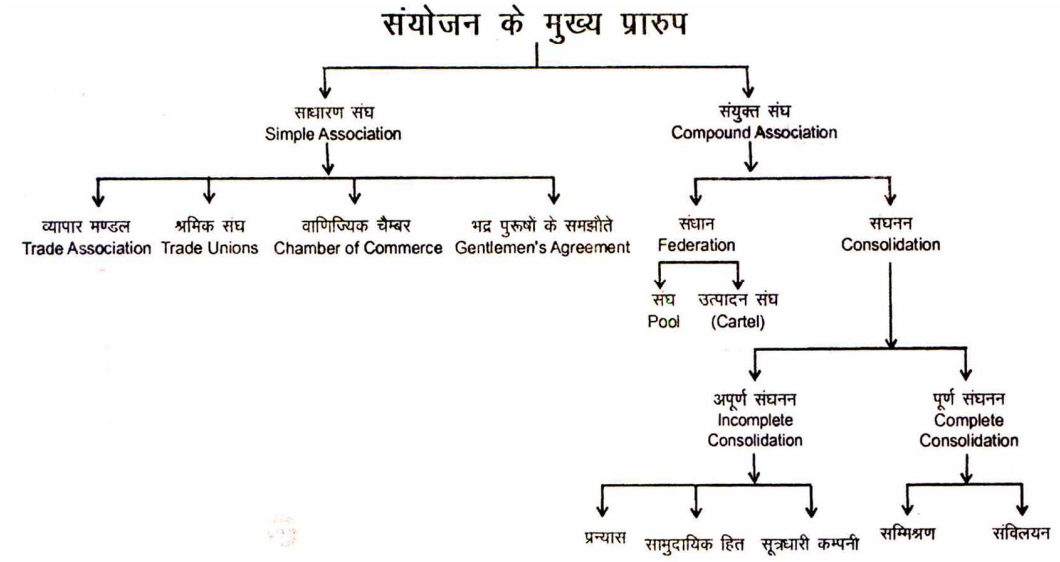

साधारण संघ (Simple Association) : साधारण संघ से हमारा तात्पर्य उन समूहों से है जो व्यावसायिक इकाईयों द्वारा सग्रिहक हितों की रक्षार्थ बनाये जाते है । ये संघ ऐच्छिक संगठन के रूप में होते हैं और इन संगठनों में सम्मिलित इकाईयों को अपना व्यवसाय चलाने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है । इसके निम्नलिखित मुख्य प्रकार है -

अ. **व्यापार मंडल (Trade Association) :** व्यापार मंडल एक स्वैच्छिक संगठन है जिसमें एक ही व्यापार में संलग्न विभिन्न इकाइयाँ सम्मिलित होकर हित चिंतन करती हैं । इसे व्यापार परिषद अथवा 'व्यापार संघ' के नाम से भी पुकारा जाता है ।

विशेषताएँ (Characteristics) :

1. स्वतंत्र रूप से कार्यरत व्यावसायिक इकाइयों का संगठन
2. स्वैच्छिक संगठन
3. सम्मिलित होने वाली इकाइयों का सामूहिक रूप से हित-चिंतन
4. इसकी स्थापना उद्यम या स्थान के आधार पर
5. प्रबंधकीय निर्णय की स्वतंत्रता ।

उद्देश्य एवं कार्य (Object and functions): व्यापार मण्डल के प्रमुख उद्देश्य एवं कार्यो का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है -

1. **पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना:** व्यापार मण्डल का मुख्य उद्देश्य एक ही व्यापार या उद्योग में कार्यरत विभिन्न इकाइयों के मध्य पारस्परिक अनार्थिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना होता है ।
2. **व्यवसाय या व्यापार का विकास करना:** ये संघ व्यापार के विकास एवं उन्नति के लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं ।
3. **उत्पादन एवं वितरण में कुशलता प्राप्त करना:** अनुसंधान को बढ़ावा देकर तथा विशेषज्ञों की सेवाओं को उपलब्ध कराकर उत्पादन तथा वितरण में कुशलता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं ।
4. **व्यवसाय की उन्नति:** व्यापार मण्डल के माध्यम से किसी व्यापार या उद्यम विशेष के विकास एवं उन्नति के लिए प्रयत्न किया जाता है ।
5. **शैक्षणिक कार्य:** व्यापार मंडल, सम्बन्धित व्यापार या उद्योग के बारे में उपयोगी आकड़े संकलित कर, उन्हें अपनी किसी सदस्य-इकाइयों के लिए एक साथ ही विज्ञापन की व्यवस्था कर व्यापार में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जा सकता है ।
6. **मानकीकरण को प्रोत्साहन:** व्यापार मंडल द्वारा वस्तुओं के उत्पादन में मानकीकरण को प्रोत्साहन दिया जाता है, जिससे वस्तुओं के प्रति लाभों में स्थायित्व सहज ही आ जाता है ।
7. **मशीनों एवं अन्य सामग्री का आदान-प्रदान:** सदस्य इकाइयों में अवशिष्ट मशीनों एवं अन्य सामग्री का व्यापार मण्डल के माध्यम से, सलाभ आदान-प्रदान किया जा सकता है ।

ब. श्रमिक संघ (Trade Union) श्रमिक संघ श्रमिकों का वह स्वैछिक संगठन है जो श्रमिकों द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए तथा अपनी समस्याओं को सग्रिहक रूप से सुलझाने के लिए बनाया जाता है । भारत में श्रम संघों का शुभारम्भ सन् 1980 से माना जाता है जब श्री नारायण मेघजी लेखाखण्ड की अध्यक्षता में बम्बई मिल मजदूर संघ की स्थापना की गई । विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् श्रम संघों के गठन के कार्य को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला ।

उद्देश्य एवं कार्य (Objects and Functions) :

1. **हितों की रक्षा करना:** श्रमिक संघों का मूल उद्देश्य श्रमिकों के हितों की रक्षा करना है।,
2. श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं में सुधार करना: श्रमिकों के कार्य करने के घंटों में कमी, स्वस्थ कार्य-स्थल, उचित मजदूरी, अवकाश आदि की समुचित व्यवस्था आदि सभी श्रमिक संघों का महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है ।
3. **श्रमिकों के जीवन स्तर को उन्नत करना:** उचित मजदूरी तथा उसके सदुपयोग द्वारा श्रमिकों के रहन-सहन के ढंगों में सुधार करना श्रमिक संघों का आधारभूत उद्देश्य होता है ।
4. **श्रमिक समस्याओं को सुलझाना:** इस संगठन के माध्यम से श्रमिकों की समस्याओं को सुलझाना एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है ।

5. **श्रमिकों के उचित प्रशिक्षण एवं सामाजिक सुरक्षा आदि की व्यवस्था:** श्रमिक संघ, श्रमिकों के उचित प्रशिक्षण एवं सामाजिक सुरक्षा आदि की व्यवस्था कराने के उद्देश्य को पूरा करने मे प्रयत्नशील रहता है ।
6. **श्रमिकों के शोषण को रोकना:** सेवा नियोक्ताओं द्वारा श्रमिकों का शोषण होना स्वाभाविक है, अत: श्रमिक संघ के माध्यम से सामूहिक शक्ति का संचार कर सेवा नियोक्ता द्वारा होने वाले शोषण को रोकना इस संगठन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है ।
7. **श्रमिकों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रखना:** श्रमिक संघ श्रमिकों को अपने अधिकार के प्रति जागरूक रखना है जिसके कारण वे अपने अधिकारों की माँग को सुलझाना एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है ।

राष्ट्रीय स्तर पर गठित प्रमुख श्रम संघ निम्नांकित हैं -

1. भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस [Indian National Trade Union Congress (INTUC)]
2. अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस [All India Trade union Congress (AITUC)]
3. हिन्द मजदूर सभा [Hind Mazdoor Sabha (HMS)]
4. संयुक्त श्रमिक संघ काँग्रेस [United Trade Union Congress (UTUC)]
5. सेन्टर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन [Center of Indian Trade Unions (CITU)]
6. भारतीय मजदूर संघ [Bhartiya Mazdoor Sangh (BMS)]
7. राष्ट्रीय मजदूर संघ [National Laboour Organisation (NLO)]
8. संयुक्त श्रमिक संघ काँग्रेस [United Trade Union Congress (UTUC)(LS)]
9. भारतीय श्रमिक संघों का राष्ट्रीय मोर्चा [National Front of Indian Trade Unions (N
   FITU)]
10. श्रमिक संघ संघनन केन्द्र [Trade Union Co-ordinator Centre (TUCC)]

स. वाणिज्यिक चैम्बर (Chamber of commerce)

चैम्बर ऑफ कॉमर्स अर्थात् वाणिज्यिक चैम्बर एवं उद्योग से सम्बन्धित व्यक्तियों का स्वैच्छिक संगठन है, जो सदस्यों के व्यावसायिक हितों के लिए कार्य करता है, अत: विभिन्न प्रकार के व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योगों में कार्यरत व्यापारी, उद्योगपति, बैंकर, आदि प्राय: इसके सदस्य होते हैं । कार्य क्षेत्र की दृष्टि से, ये समस्याएँ राज्य, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संगठित की जा सकती है । भारत, इंग्लैण्ड, अमेरिका और जर्मनी में ये संस्थाएँ निजी क्षेत्र में ही व्यवसायियों द्वारा स्वैच्छिक संगठन के रूप में ही निर्मित की जाती हैं, परन्तु फ्रांस में इनका निर्माण निजी क्षेत्र के साथ-साथ सरकारी क्षेत्र में भी किया जा सकता है ।

कार्य (Functions):

1. सदस्य उद्योगों एवं व्यवसायियों के हितों का सम्बर्द्धन एवं रक्षा करना ।
2. सदस्यों के लिए आचार संहिता का निर्माण करना तथा उसे व्यवहार में लाने के लिए आवश्यक कदम उठाना ।
3. व्यवसाय सम्बन्धी सरकारी नीतियों की व्यवसायियों के प्रवक्ता के रूप में समालोचना करना भी वाणिज्य मण्डल का एक प्रमुख कार्य है ।
4. वाणिज्य मण्डल समय-समय पर सदस्यों को, व्यवसायों में नवीन परिवर्तनों एवं प्रवृत्तियों (Trends) के बारे में जानकारी देता रहता है ।.
5. वाणिज्य मण्डल अपने सदस्यों के आचार-संहिता (Copy of Conduct) तैयार करवाता है और उन्हें उसके पालन हेतु प्रेरित करता है ।
6. वाणिज्य मण्डल विदेशी व्यापार को बढ़ाने में हर प्रकार प्रयत्नशील रहता है ।
7. वाणिज्य मण्डल अपने सदस्यों को व्यवसाय सम्बन्धी तकनीकि, कानूनी एवं अन्य आवश्यक जानकारी तथा परामर्श देकर अपना कर्तव्य निभाता है ।
8. वाणिज्य मण्डल, व्यवसायियों को अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रखने में सहायक सिद्ध होता है ।
9. वाणिज्य मण्डल द्वारा व्यवसाय की सामान्य उन्नति के लिए समय-समय पर औद्योगिक प्रदर्शनियों (Exhibitions) विचार-गोष्ठियों आदि का भी आयोजन किया जाता है ।
10. यदि सरकार द्वारा पारित व्यवसाय सम्बन्धी कोई कानून सदस्यों के हितों के प्रतिकूल सिद्ध होता है तो उसकी भी आलोचनात्मक टिप्पणी करना वाणिज्य-मण्डल का कार्य होता है ।

भारत में चैम्बर ऑफ कॉमर्स अर्थात् वाणिज्य-मण्डल (Chamber of Commerce in India) : भारत के लगभग सभी राज्यों में वाणिज्य मण्डल कार्यरत है । किसी-किसी राज्य में तो एक से अधिक वाणिज्य मण्डल भी दृष्टिगोचर होते हैं । इस प्रकार चैम्बर ऑफ कॉमर्स अर्थात् वाणिज्य मण्डल प्राय: क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संगठित किये जा सकते हैं, जिनके भारतीय उदाहरण इस प्रकार हैं -

1. क्षेत्रीय स्तर पर :

अ. बम्बई चैम्बर ऑफ कॉमर्स, बम्बई ।

ब. बंगाल चैम्बर ऑफ कॉमर्स, कलकत्ता ।

स. मद्रास चैम्बर ऑफ कॉमर्स, मद्रास

द. राजस्थान चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्री, जयपुर ।

2. राष्ट्रीय स्तर पर :

अ. इंडियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स

ब. फैडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री

3. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर:

इण्टरनेशनल चैम्बर ऑफ कॉमर्स, फ्रांस जिसकी शाखा भारतवर्ष में सन् 1928 में खुली थी ।

द. **भद्र पुरुषों के समझौते (Gentlemen's Agreement):** इस समझौते को भद्र पुरुषों के समझौते के अतिरिक्त अनौपचारिक समझौतों के नाम से भी जाना जाता है । ये समझौते वे हैं जो कुछ व्यवसायियों में आपसी वचनबद्धता के आधार पर वस्तुओं के मूल्यों, उत्पादन की मात्रा तथा व्यवसाय से सम्बन्धित नियमों के पालन आदि के सम्बन्ध में किये जाते हैं । ये समझौते मौखिक होते हैं और इनमें औपचारिकता का अभाव होता है । इस प्रकार समझौते के भंग करने पर दोषी पक्ष को कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता और न ही उसके विरूद्ध न्यायालय में किसी प्रकार की कोई कार्यवाही को जा सकती है । समझौते का पालन करना भी सभी पक्षों का नैतिक दायित्व माना जाता है आर समझौते के पालन करने के लिये उन पर सामाजिक दबाब डाला जाता है । समझौते को भंग करने पर दोषी पक्ष का सामाजिक बहिष्कार किया जा सकता है ।

संयुक्त संघ (Compound Association) : साधारण संघ के अन्तर्गत हमने मुख्यतया व्यापार-मंडल, वाणिज्य-मंडल. श्रमिक संघ एवं अनौपचारिक या भद्रा जनों के समझौतों का अध्ययन किया, जिससे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि ये संघ एक प्रकार से शिथिल (Loose) संगठन हैं जो अपने सदस्यों से समझौता का पालन कराने में असफल रहते है, क्योंकि समझौतों के उल्लंघन की दशा में दण्ड व्यवस्था का पूर्ण अभाव है इसलिए ये न तो आपसी प्रतिस्पर्धा ही समाप्त करने में सफल होते हैं और न मूल्य व उत्पादन पर ही नियंत्रण स्थापित करने में, अत: साधारण संघों के दोषों को दूर करने के लिए संयुक्त संघों का निर्माण किया जाता है ।

संयुक्त संघ के प्रकार (Kinds of Compound Association)

अ. संधान : (Federation) संधान, संयोजन का वह प्रारूप है जिसमें सम्मिलित होने वाली इकाइयाँ अपने पृथक एवं स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए कुछ मामलों के सम्बन्ध में पारस्परिक समझौता कर लेती है । इन सदस्य इकाइयों को समझौते का पालन करना अनिवार्य होता है । इस प्रकार संधान, अनौपचारिक समझौते का एक उन्नत स्वरूप है ।

प्रकार : संधान के दो प्रकार होते हैं -

1. **संघ (Pool):** पूल या संघ संयोजन का वह स्वरूप है जिसमें समान व्यवसाय में संलग्न विभिन्न इकाइयाँ, आपसी समझौते के अधीन, एक केन्द्रीय संगठन के माध्यम से, वस्तुओं के मूल्यों एवं उत्पादन की मात्रा को नियंत्रित करने आदि उद्देश्यों को पूरा करने हेतु सहमत होकर कार्य करती है ।

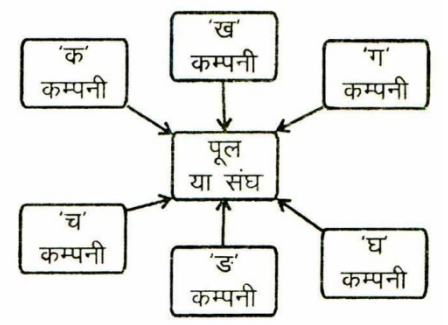

प्रो. एल. एच. हैने के अनुसार 'पूल या संघ व्यावसायिक संगठन का वह स्वरूप है जो विभिन्न व्यावसायिक इकाइयों के संधान द्वारा निर्मित किया जाता है, जिसके सदस्य सम्पूर्ण मूल्य-निर्धारण-प्रक्रिया के किसी संयोजित करके और उसे सदस्यों में विभाजित कर, मूल्य पर कुछ हद तक नियंत्रण स्थापित करना चाहती है ।

आर. एन. आवेन्स के अनुसार 'पूल या संघ किसी निश्चित संविदा पर आधारित एक समझौता है जो प्राय: लिखित होता है और जिसमें अधिकांशत: संविदा उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था होती है ।.

विशेषताएँ (Characteristics):

1. पूल एक स्वैच्छिक संगठन है, जिसमें संयोजित होना पूर्णतया व्यावसायिक इकाइयों की इच्छा पर निर्भर होता है ।
2. इस प्रकार के संघ का निर्माण प्राय: किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है- जैसे विक्रय मूल्यों का नियंत्रण, आपसी प्रतियोगिता का उन्मूलन अथवा उत्पादन की मात्रा का नियंत्रण आदि ।
3. व्यावसायिक इकाइयाँ आपस में मिलकर मूल्य आदि पर नियंत्रण स्थापित कर एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न कर देती है जिसका लाभ उठाना इरा संयोजन का मुख्य उद्देश्य होता है । '
4. इस प्रकार के संयोजन में सम्मिलित होने वाली इकाइयाँ, व्यक्तिगत हितों को त्याग कर, सामूहिक हितों के लिए ही, कार्य करती है ।
5. पूल या संघ के माध्यम से कार्य करने वाली विभिन्न व्यावसायिक इकाइयों में लिखित समझौता होता है, जिससे इसके अनुपालन की बाध्यता बनाये रखने में सुविधा रहती है।
6. सदस्य इकाईयों का यह दायित्व होता है कि संघ द्वारा सामान्य हित में उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किये गए निर्णयों का पालन करें । अनुबन्ध का खण्डन करने पर दोषी पक्षकार दण्ड का भागी होता है ।
7. पूल या संघ का निर्माण स्थायी (Permanent) रूप से अर्थात दीर्घकालीन हो सकता है अथवा अस्थायी रूप से अर्थात् अस्थायी (Temporary) भी हो सकता है ।

पूल के उद्देश्य (Objectives) :

1. समान व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न व्यावसायिक इकाईयों में आपसी प्रतियोगिता समाप्त करना ।
2. वस्तुओं का समान विक्रय मूल्य रखना ।
3. वस्तुओं की मांग और पूर्ति में संतुलन स्थापित रखना ।
4. बाजार पर एकाधिकार स्थापित करना ।
5. समस्त संयोजित इकाइयों का समान रूप से लाभ उपलब्ध कराना ।
6. सदस्य इकाइयों को अपने आंतरिक व्यवसाय संचालन एवं प्रबंध में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करना ।
7. समान व्यवसाय में संलग्न व्यावसायिक इकाइयों की व्यवसायिक नीतियों में एकरूपता लाना ।

संघो के प्रकार (Types of Pools):

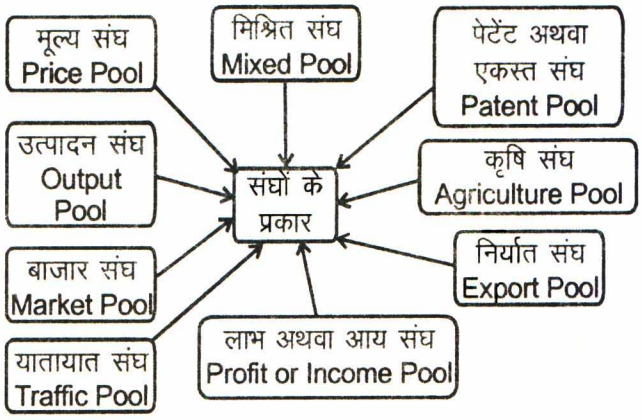

1. **मूल्य संघ (Price Pool) :** मूल्य संघों का उद्देश्य सदस्य इकाइयों के मध्य गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करना होता है । पारस्परिक समझौते के माध्यम से वस्तुओं के विक्रय मूल्य निर्धारित कर, बाजार में मूल्य समता की स्थिति प्राप्त की जाती है । विक्रय मूल्य निर्धारित करने के लिये किसी एक ऐसी सदस्य व्यावसायिक इकाई का चुनाव किया जाता है जिसका उत्पादन सामान्य हो । ऐसी फर्म में उत्पादन व्यय में यातायात व्यय को जोड़कर सामान्य मूल्य निर्धारित कर लिया जाता है, सभी सदस्य इकाइयों को अपना माल संघ द्वारा निर्धारित सामान्य मूल्य पर विक्रय करना होता है।
2. **उत्पादन संघ (Output Pool) :** यह पूल का वह स्वरूप है, जिसके माध्यम से संयोजित इकाइयों के उत्पादन पर नियंत्रण किया जाता है, जिससे वस्तुओं की मांग और पूर्ति में समुचित संतुलन बनाये रखा जा सके और इनके असंतुलन के कारण होने वाले प्रभावों से बचा जा सके ।
3. **बाजार संघ (Market Pool) :** ये वह संघ है जिसका उद्देश्य सदस्य इकाइयों द्वारा आपस में विपणन क्षेत्रों का विभाजन कर पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त करना होता है, फलतः प्रत्येक सदस्य इकाई अपनी विक्रय-क्रिया उसी बाजार के क्षेत्र तक सीमित

रखती है जो उसके लिए निर्धारित किया गया है । बाजार विभाजन मुख्यत: निम्नांकित आधारों पर किया जाता है ।

अ. ग्राहकों के आधार पर

ब. निर्मित वस्तुओं के आधार पर

स. क्षेत्रीय आधार पर

4. **यातायात संघ (Traffic Pool) :** यातायात संघ का उद्देश्य व्यवसाय में संलग्न कम्पनियों के मध्य बाजार का बंटवारा कर एकाधिकार स्थापित करना होता है । यातायात के व्यवसाय में संलग्न कम्पनियों के मध्य भाड़ा युद्ध को समाप्त करने के उद्देश्य से इस प्रकार के संघों का निर्माण किया जाता है, अत: यह स्पष्ट है कि यातायात संघों का मुख्य उद्देश्य पारस्परिक प्रतियोगिता का उन्मूलन करना । यदि कोई कम्पनी इन मार्गों पर अपनी यातायात सेवाएँ प्रस्तुत करती है तो संघ द्वारा सदस्य कम्पनियों को छूट प्रणाली (Rebate System) को अपनाने का निर्देश दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप नई कम्पनी प्रतियोगिता मे ठहर नहीं पाती है ।
5. **लाभ अथवा आय संघ (Profit or Income) :** इन संघों का समुख्य उद्देश्य सामूहिक रूप से अर्जित लाभ को सदस्य इकाईयों में निश्चित अनुपात में बांटना होता है । संघ के माध्यम से प्रत्येक सदस्य इकाई के लिए, उत्पादन का कोटा (Quota) निर्धारित कर लिया जाता है, जिसके अनुसार उत्पादन करके सदस्य इकाई द्वारा उत्पादित कोटा संघ के सुर्पुद कर दिया जाता है ।
6. **निर्यात संघ (Export Pool) :** इस प्रकार के संघों का निर्माण सबसे पहले अमेरिका में हुआ । विदेशी कम्पनियों की प्रतियोगिता का सफलतापूर्वक सामना करने और देश के निर्यात-व्यापार में वृद्धि करने के उद्देश्य से इस प्रकार के संघों की स्थापना की जाती है ।
7. **कृषि संघ (Agriculture Pool) :** ये वे संघ हैं, जिनके द्वारा कृषि जन्य पदार्थो के विक्रय में आपसी प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, फलतः कृषकों को अपनी उपज का उचित मूल्य मिल जाता है और उनकी आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हो जाता है । वस्तुत: इस प्रकार के संघों की स्थापना, सबसे पहले सन् 192**0** में अमेरिका में कृषि-उत्पादन के गिरते हुए मूल्यों के लिए की गई थी ।
8. **पेटेंट या एकस्व संघ (Patent pool) :** इस प्रकार के संघ अपनी सदस्य कम्पनियों से उनके पेटेन्ट (Patent Right) प्राप्त करके शनै: शनै: अधिक से अधिक क्षेत्र अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न करते हैं । संघ द्वारा इस प्रकार एकत्रित एकस्व अधिकारों को पुन: सदस्य कम्पनियों में वितरित कर दिया जाता हैं।
9. **मिश्रित संघ (Mixed pool) :** एक से अधिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित इस प्रकार के संघों को मिश्रित संघों के नाम से सम्बोधित किया जाता है । व्यवहार में ऐसे संघों का अधिक प्रचलन है ।

संघों के लाभ (Advantages of pools)

1. **प्रतिस्पर्धा का अंत :** संघ के सदस्यों के बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है।
2. **एकाधिकार के लाभों की प्राप्ति :** संघ एकाधिकार की स्थापना में सहायता प्रदान करते हैं और इस प्रकार इकाइयों को एकाधिकार के लाभ प्राप्त होते हैं
3. **स्थापना में सरलता :** इस प्रकार के संघों की स्थापना सरलतापूर्वक की जा सकता है । केवल लिखित आपसी समझौता ही इनका निर्माण कर सकता है, अन्य वैधानिक औपचारिकताओं की कोई आवश्यकता नहीं होती है ।
4. **दीर्घ जीवन :** पूल या संघों का जीवन भद्र जनों के समझौतों आदि की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है ।
5. **लचीलापन :** इस प्रकार के संघों के निर्माण का मूलाधार समझौता होता है, जिसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन सरलतापूर्वक किया जा सकता है, अत: इस प्रकार के संगठनों में लचीलापन का गुण विशेष रूप से विद्यमान होता है ।
6. **पारस्परिक सहयोग :** पूल अपने में समाविष्ट व्यावसायिक इकाइयों को पारस्परिक प्रतियोगिता करने के स्थान में उन्हें आपसी सहयोग का पाठ पढ़ाते हैं ।
7. **सुगम अंत :** पल या संघ का निर्माण जितना सरल होता है, उतना ही इसका अंत भी सरल होता है, क्योंकि सदस्य इकाइयों की इच्छानुसार यह कभी भी समाप्त किया जा सकता है ।

हानियाँ : (Disadvantages)

1. **एकाधिकार के दोष :** संघ एकाधिकार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं । एकाधिकार की प्रवृत्ति स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को प्रतिबन्धित करती है जिससे समाज का अहित होता है।
2. **गोपनीयता :** संघ के समझौते गोपनीय रखे जाते हैं । गोपनीयता सन्देह को जन्म देती है, अत: यह स्वाभाविक है कि समाज एवं उपभोक्ता, संघों को अच्छी निगाह से नहीं देखते हैं ।
3. **समाज के लिए अहितकर :** मूल्य नियंत्रण, उत्पादन नियंत्रण, व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने के कारण तथा एकाधिकार को प्रोत्साहित करने की वजह से संघों को समाज के लिए अहितकर माना जाता है ।
4. **अति उत्पादन का भय :** अधिक लाभार्जन से प्रेरित होकर कभी-कभी इन संघों द्वारा वस्तुओं के मूल्य इतने ऊँचे निर्धारित कर दिये जाते हैं जिसके कारण उनकी माँग में गिरावट आ जाती है और सदस्य इकाइयों को अति पूँजीकरण का सामना करना पड़ता है ।
5. **अकुशलता :** व्यावसायिक इकाइयों में प्रतियोगिता का अभाव एवं उत्पादन पर नियंत्रण कार्य-कुशलता को क्षीण कर देता है । इसके अतिरिक्त कभी-कभी संघ इतना विशाल आकार धारण कर लेता है कि कुशलता का स्थान अकुशलता ले लेती है ।

6. **बडी योजनाओं का कार्यान्वयन कठिन :** इस प्रकार के संघों का जीवन अल्पकालीन होता है, इसलिए इसके माध्यम से किसी बड़ी योजना का क्रियान्वयन कठिन हो जाता है ।

2. **उत्पादन संघ:** (Cartels) जब एक ही व्यवसाय में संलग्न विभिन्न इकाइयों द्वारा स्वेच्छा से, आपस में समझौता करके, व्यापार पर नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से कोई संघ स्थापित किया जाता है तो ऐसे संगठन को 'कार्टेल' या 'उत्पादन संघ कहा जाता है । उत्पादन संघों के साथ प्राय: एक केन्द्रीय विक्रय संगठन (Selling Syndicate) भी जुड़ा रहता है, जो बाजार को नियंत्रित करने के लिए आवश्यक होता है ।

डॉ. लीफमैन (Leefman) के अनुसार कार्टेल या उत्पादक संघ स्वतंत्र व्यापारियों की स्वैच्छिक संस्था है, जो व्यापार में एकाधिकार स्थापित करना चाहती है ।

डॉ. इसे (Issay) के अनुसार 'कार्टेल या उत्पादक संघ स्वतंत्र उपक्रमों का एक संघ है जो सदस्य इकाईयों के उत्पादन, बाजार क्रय, मूल्य गणना अथवा व्यापारिक शर्तों से सम्बन्ध दायित्वों को लागू करवाता है ओर इसलिए बाजार को स्वस्थ प्रतियोगिता की कार्यशीलता के विरूद्ध प्रभावित करता है ।'

विशेषताएं : (Characteristics)

1. **समान उद्यम की विभिन्न इकाइयों का संयोजन :** कार्टेल या उत्पादक संघ में एक ही प्रकार के उत्पादकों की विभिन्न इकाइयों का संयोजन होता है ।
2. **स्वैच्छिक संगठन :** उत्पादक संघ स्वैच्छिक संगठन होते हैं, जिनमें समान व्यवसाय में संलग्न विभिन्न संस्थाएं अपनी इच्छा से सम्मिलित होती हैं ।
3. **बाजार पर एकाधिकार स्थापित करना :** इस प्रकार के संघ बाजार पर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास करते हैं ।
4. **दण्ड व्यवस्था :** इनमें नियम विरूद्ध आचरण करने पर सदस्यों के लिए दण्ड व्यवस्था का भी प्रावधान होता है ।
5. **वैधानिक औपचारिकताएं आवश्यक :** इनके निर्माण में वैधानिक औपचारिकताओं की कोई आवश्यकता नहीं होती है ।
6. **केन्द्रीय विक्रय संघ की व्यवस्था :** उत्पादक संघ के साथ प्राय: केन्द्रीय विक्रय संघ जुड़ा रहता है ।

उत्पादक संघों के प्रकार (Types of Cartels) :

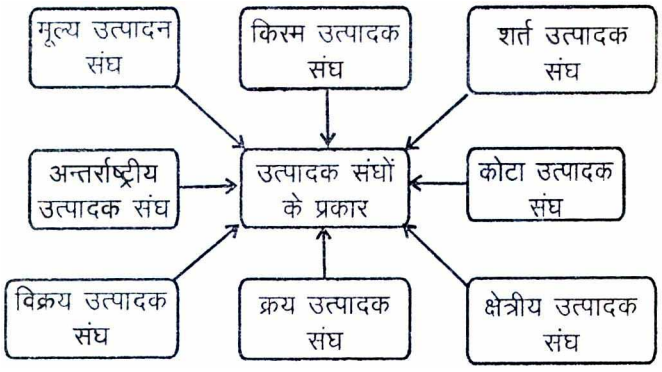

1. **मूल्य उत्पादन संघ (Price Cartels) :** ये संघ जहाँ वस्तुओं के मूल्य निर्धारण के लिए बनाये जाते हैं । सदस्य इकाइयों के माल की मूल्य समता स्थापित करना इन संघों का उद्देश्य होता है ।
2. **किस्म उत्पादक संघ (Quality Cartels) :** इस प्रकार के उत्पादक संघ, सदस्य संस्थाओं द्वारा निर्मित माल की किस्म अथवा गुण निर्धारित करते हैं । सदस्य इकाइयों को संघ द्वारा निर्धारित किस्म के माल का उत्पादन करना होता है ।
3. **शर्त उत्पादक संघ (Term or Conditions Cartels) :** ये संघ सदस्य इकाइयों द्वारा बेचे जाने वाले माल की व्यापारिक शर्तों का निर्धारण करते हैं । व्यापारिक शर्तों में बट्टे की दर, साख की अवधि, सुपुर्दगी की विधि, बीमा तथा यातायात संबंधी बातें आती हैं ।
4. **कोटा उत्पादक संघ (Quota Cartels) :** इस प्रकार के संघों के द्वारा सदस्य इकाईयों के वर्ष भर के उत्पादन का कोटा निर्धारित कर दिया जाता है और उन पर इससे अधिक उत्पादन करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है । वस्तु स्थिति यह है कि कोटा निर्धारण संघों की स्थापना उस समय की जाती है जब मांग की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता है ।
5. **क्षेत्रीय उत्पादक संघ (Zonal Cartels) :** इस प्रकार के संघों द्वारा संपूर्ण बाजार को क्षेत्रीय आधार पर भिन्न- भिन्न क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक सदस्य इकाई के लिए एक-एक क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है, जिसके बाहर वह अपना विक्रय नहीं कर सकती ।
6. **क्रय उत्पादक संघ (Buying Cartels) :** यह वह संघ होते हैं जो अपनी सदस्य इकाइयों को सस्ता और अच्छा कच्चा माल उपलब्ध कराने का प्रयत्न करते हैं ।
7. **विक्रय उत्पादक संघ (Selling Cartels) :** इस प्रकार के संघों द्वारा सदस्य इकाइयों के उत्पादित माल को एकत्रित कर लिया जाता है और उसे केन्द्रीय विक्रय संगठन के माध्यम से बेचा जाता है, जिससे उन्हें अच्छा मूल्य प्राप्त हो सके ।
8. **अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघ (International Cartels) :** इस प्रकार के संघों का निर्माण, विभिन्न देशों के उत्पादक संघों को मिलाकर किया जाता है । इन्हें सुपर कार्टेल के नाम से भी जाना जाता है ।

लाभ (Advantages) :

1. **प्रतियोगिता का अंत :** उत्पादक संघ बहुधा एक ही व्यवसाय में संलग्न विभिन्न इकाइयों द्वारा स्थापित किये जाते हैं, इसलिए उनमें आपस में प्रतियोगिता होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।
2. **मूल्यों में स्थायित्व :** उत्पादक संघों द्वारा उत्पादन एवं मूल्यों का नियंत्रण किया जाता है, जिससे मूल्यों में स्थायित्व बना रहना स्वाभाविक हो जाता है ।
3. **उपभोक्ता को लाभ :** उत्पादक संघों की स्थापना के कारण मध्य जनों का अंत हो जाता है, जिससे उत्पादकों के विक्रय व्ययों में कमी होकर उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध होना संभव हो जाता है ।
4. **उत्पादकों को लाभ :** उत्पादकों के माल का विक्रय उत्पादक संघ द्वारा किया जाने के कारण उन्हें विक्रय सम्बन्धी व्ययों में मित्तव्ययता का लाभ सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है ।
5. **अनुसंधान की सुविधा :** उत्पादक संघ एक उद्यम विशेष का ही केन्द्रीय संगठन होने के कारण उसमें अनुसंधान की व्यवस्था सरलतापूर्वक की जा सकती है, जिससे समान व्यवसाय में संलग्न सभी सदस्य इकाइयों को लाभ पहुंच सकता है ।
6. **लोच :** उत्पादक संघ का मूलाधार आपसी समझौता होता है, अत: इसमें सब सदस्य इकाइयों की सहमति से आवश्यकतानुसार, परिवर्तन सरलतापूर्वक किया जा सकता है ।
7. **सरकारी नियंत्रण में सुविधा :** कार्टेल या उत्पादक संघ के माध्यम से सरकार कई व्यावसायिक इकाइयों पर एक साथ सरलतापूर्वक नियंत्रण रख सकती है ।

दोष (Drawbacks) :

1. **अस्थायी संगठन :** उत्पादक संघों को स्थायी संगठन नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सदस्य इकाइयों का मत-भेद भी उनका विघटन कर सकता है ।
2. **उपभोक्ताओं का शोषण :** कार्टेल या उत्पादक संघ बाजार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर, उपभोक्ताओं से मन-माने दाम वसूल करते हैं ।
3. **माँग की स्थिरता रखने का असफल प्रयास :** उत्पादक संघों में वस्तुओं का विक्रय केन्द्रीय संगठन से होने के बावजूद भी, ये न तो उनकी माँग में स्थिरता बनाये रख पाते हैं और न ही उनमें होने वाले उतार-चढ़ाव पर नियंत्रण रख पाते हैं ।
4. **बाह्य प्रतियोगिता :** एक ही उद्यम में, यदि एक से अधिक कार्टेल या उत्पादक संघ बन जाते हैं, तो प्रतियोगिता विभिन्न उत्पादक संघों मे होने लगती है जिससे उत्पादक संघ का समान उद्यम में पारस्परिक प्रतियोगिता का उन्मूलन का उद्देश्य असफल हो जाता है ।
5. **निर्बल राष्ट्रों का शोषण :** अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघ स्थापित हो जाने पर भी, निर्बल राष्ट्रों को शक्तिशाली राष्ट्रों के शोषण से नहीं बचाया जा सकता है ।
6. **अकुशलता :** एकाधिकार की प्रवृत्ति तथा लाभों की निश्चितता सदस्य इकाइयों में अकुशलता को जन्म देती है ।

7. **गैर सदस्यों द्वारा प्रतिस्पर्धा :** संघों की सफलता ऐच्छिक होती है । संघों को गैर सदस्यों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है ।

ब. संघनन (Consolidation) : जब समान उद्यम में रत, विभिन्न इकाइयाँ बड़े परिणाम की आंतरिक एवं बाहरी मितव्ययताएँ प्राप्त करने के लिए आपस में मिलकर अपना संयोजन बना लेती हैं तो उसे संघनन कहते हैं- संघनन दो प्रकार का होता है -

1. अपूर्ण संघनन 2. पूर्ण संघनन

अपूर्ण संघनन में संयोजन में सम्मिलित होने वाली इकाईयों का पृथक अस्तित्व बना रहता है, लेकिन इनका नियंत्रण किसी एक केन्द्रीय संगठन के हाथों में चला जाता है ।

अ. **प्रन्यास (Trust) : प्रो. हैने** के अनुसार "प्रन्यास स्टॉक धारियों का एक संगठन है, जिसमें सदस्यों को अपने अंशों के बदले में प्रन्यास, जिसमें सदस्यों को, अपने अंशों के बदले में, प्रन्यास प्रमाण-पत्र प्राप्त हो जाते हैं । इस संगठन में, यद्यपि सदस्य संयुक्त रूप से कार्य करते हैं, परन्तु उनका व्यावसायिक अस्तित्व पृथक बना रहता है" ।

प्रन्यास के लाभ (Advantages of Trust) :

1. प्रन्यास में भाग लेने वाली सभी इकाइयाँ एक के अधीन होती हैं इसमें उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है ।
2. प्रन्यास के माध्यम से निजी लाभ अर्जित करने कहप्रवृत्ति पर रोक लग जाती है ।
3. प्रन्यास में भाग लेने वाली सभी इकाईयाँ एक ही प्रबन्ध के अधीन होने के कारण उनके मध्य पारस्परिक सहयोग में वृद्धि होती है ।
4. छोटी-छोटी अनार्थिक इकाईयों को बड़ी इकाइयों में मिलाकर हानियों को लाभ में बदला जा सकता है ।

प्रन्यास के दोष (Disadvantages of Trust) :

1. प्रन्यास को शर्तों एवं नियमों में सुगमता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता, अत: इनमें लोच का अभाव पाया जाता है ।
2. प्रन्यास का निर्माण करना एवं उनका समापन करना कठिन होता है ।
3. प्रन्यास के माध्यम से आर्थिक साधनों का संयोग किया जा सकता है, जिससे अति पूंजीकरण की आशंका बनी रहती है ।

ब. सामुदायिक हित (Community Interest) :

प्रो. ओवेन्स के अनुसार "जब एक ही व्यक्ति के पास दो या अधिक कंपनियों के अंश आ जाते हैं तो उन कंपनियों के मध्य समरस संबंध स्थापित हो जाते हैं, जिसे सामुदायिक हित संयोजन कहते हैं ।

लाभ (Advantages) :

1. इस प्रकार का संयोजन एक ऐसा संगठन है जो बिना औपचारिकताओं के ही स्थापित किया जा सकता है ।
2. इसकी स्थापना aअनौपचारिक होने के कारण सरल है ।

3. यह लचीला संगठन है, क्योंकि इसमें समय-समय पर आवश्यक संशोधन सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं ।

दोष (Disadvantages)

1. औपचारिकताओं के अभाव में यह अपूर्ण रहता है, जिसके कारण वृहत्त परिणाम के अपेक्षित लाभ पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो पाते हैं ।
2. यद्यपि व्यावसायिक सत्ताधारी समुदाय को कई कम्पनियों के प्रबंध का अधिकार तो प्राप्त हो जाता है परन्तु उन्हें हानियों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है ।

स. **सूत्रधारी कम्पनी (Holding Company) :**

सूत्रधारी का आशय उस कम्पनी से है जो अन्य कम्पनियों के आधे से अधिक अंशों को खरीदकर उनके प्रबंध एवं नियंत्रण को अपने अधिकार में कर लेती है । जो कम्पनी प्रबंध एवं नियंत्रण करने की स्थिति में होती है उसे सूत्रधारी या नियंत्रक कम्पनी कहते हैं ।

लाभ (Advantages) :

1. एक केन्द्रीय संस्थान के माध्यम से पुर्नस्थापन एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सरल हो जाती है ।
2. सूत्रधारी कम्पनी के निर्माण से क्रय, विक्रय एवं उत्पादन आदि के क्षेत्र में बड़े पैमाने के लाभों की प्राप्ति की जा सकती है ।
3. सूत्रधारी कम्पनी अपनी सहायक कम्पनियों के भेदों को गुप्त रख सकती है । जन सामान्य एवं प्रतियोगी संस्थाओं को उनके भेद प्रकट नहीं होते ।

दोष (Disadvantages) :

1. सूत्रधारी कम्पनियाँ अपने लाभ के लिए सहायक कम्पनियों का शोषण करती हैं ।
2. सूत्रधारी कम्पनी के पूर्ण विकास की स्थिति में अति पूंजीकरण का भय बना रहता है ।
3. सूत्रधारी कम्पनी के प्रबन्धक अपनी सहायक कम्पनियों के प्रबन्ध में अधिक रूचि नहीं लेते हैं, क्योंकि सहायक कम्पनी से उनको कोई प्रत्यक्ष हित पूरा नहीं होता ।

2. **पूर्ण संघनन (Complete Consolidation) :** जब समान व्यवसाय में संलग्न दो या दो से अधिक कम्पनियाँ अपना स्वयं का पृथक अस्तित्व समाप्त कर एक दूसरे में पूर्ण रूप से विलीन हो जाती हैं तो इस अस्तित्वहीन संयोजन की स्थिति को पूर्ण संघनन की संज्ञा दी जाती है।

अ. सम्मिश्रण या एकीकरण (Amalgamation) :

जब संयोजन के परिणामस्वरूप संयोजन में सम्मिलित होने वाली सभी इकाइयों का पृथक-पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है और उनके स्थान पर उन इकाइयों की परिसम्पत्ति एवं दायित्वों को ग्रहण करने के लिए नई संस्था का गठन किया जाता है तो इस प्रकार के संयोजन को सम्मिश्रण के नाम से जाना जाता है ।

ब. संविलयन (Merger) :

संविलयन, पूर्ण संघनन का वह स्वरूप है, जिसके अन्तर्गत एक सुदृढ़ वित्तीय स्थिति वाली व्यावसायिक कम्पनी, अन्य अशक्त व्यावसायिक कम्पनियों को उनकी

परिसम्पत्तियों को क्रय कर तथा उनके दायित्वों को स्वीकार कर, अपने में मिला लेती है । विलयन में मिलाने वाली कम्पनी का अस्तित्व तो बना रहता है, परन्तु मिलने वाली कम्पनियों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है ।

6.8 विशेषताएँ (संयोजन की विशेषताएँ):

1. घातक प्रतियोगिता की समाप्ति
2. पारस्परिक सहयोग एवं सहकारिता की भावना का पोषण
3. आर्थिक सुदृढ़ता
4. विदेशी व्यापार में सुविधा
5. सरकारी नियंत्रण में सुविधा
6. औद्योगिक विकास में सहायक
7. उचित समन्वय
8. वित्त संबंधी सुविधा
9. मांग एवं पूर्ति में संतुलन की सुविधा
10. लाभों की सुरक्षा

6.9 संयोजन के आधार:

1. बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभों को प्राप्त करना
2. व्यापारिक चक्रों के प्रभावों से बचना
3. एकाधिकार से लाभ प्राप्त करने की अभिलाषा
4. परिवहन एवं संचार के साधनों का विकास एवं विस्तार
5. अधिक पूंजी एकत्रित करने के लिए
6. अधिकाधिक लाभ अर्जन की अभिलाषा
7. बाजारों पर नियंत्रण स्थापित करना
8. प्रबंध चातुर्य एवं संगठन योग्यता का लाभ उठाना
9. मुद्रा नीति
10. आधुनिक उत्पादन प्रणाली की जटिलता
11. व्यावसायिक संगठन प्रणाली
12. पारस्परिक संबंधित उद्यमों में संयोजन को बढ़ावा

6.10 उदाहरण

मान लीजिये, 'अ', 'ब' और स तीन कम्पनियाँ है । अ कम्पनी ने 'ब' कम्पनी के 50 प्रतिशत से अधिक अंश क्रय कर रखे है और उसके संचालक मण्डल के गठन पर नियंत्रण रखती है तो 'अ' कम्पनी सूत्रधारी या नियंत्रक कम्पनी है और 'ब' कम्पनी सहायक या नियंत्रित कम्पनी है । इसी प्रकार 'स' कम्पनी की आधे से अधिक अंश पूंजी पर 'ब' कम्पनी का अधिकार है और 'ब' कम्पनी 'स' कम्पनी के अधिकांश संचालकों की नियुक्ति का अधिकार रखती है । अत: 'स'

कम्पनी व 'ब' कम्पनी की सहायक या नियंत्रित कम्पनी है, परन्तु 'ब' कम्पनी स्वयं एक सहायक कम्पनी होने के कारण यह 'स' कम्पनी की सूत्रधारी या नियंत्रक कम्पनी नहीं हो सकती है । अत: 'ब' और स' दोनों ही सहायक या नियंत्रित कम्पनियाँ हैं, और 'अ' कम्पनी सूत्रधारी या नियंत्रक है ।

6.11 सारांश

संयोजन के अंतर्गत प्रतियोगी व्यावसायिक इकाईयाँ आपसी अस्वस्थ प्रतियोगिता के दुष्परिणामों से बचने के लिए तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने और मितव्ययताएँ प्राप्त करने आदि उद्देश्यों से प्रेरित होकर परस्पर मिलकर व्यवसाय संचालन करती है । जिससे वे सहयोग एवं सहकारिता के आधार पर अपने सामान्य हितों की पूर्ति सरलता पूर्वक कर सकें ।

6.12 अभ्यास

प्र.1 व्यावसायिक संयोजनों से आप क्या समझते हैं ? विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संयोजनों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।

प्र.2 उत्पादक संघ से आप क्या समझते हैं? इसके लक्षणों, कार्यो एवं उद्देश्यों को समझाइये।

प्र.3 संघ किसे कहते हैं? इसके प्रकार का वर्णन करते हुए लाभ एवं दोषों को समझाइये ।

प्र.4 आधुनिक व्यवसाय में व्यापारिक संघ तथा चैम्बर ऑफ कॉमर्स की महत्वपूर्ण को समझाइये।

प्र.5 प्रन्यास किसे कहते है? इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिये ।

प्र.6 निम्न को समझाइये?

(अ) पूल (ब) कार्टेल (स) ट्रस्ट (द) सूत्रधारी कम्पनी

6.13 उपयोगी पुस्तकें

1. व्यावसायिक संगठन - डॉ. आर. एल. नौलखा
2. व्यवसायिक संगठन - शर्मा, शर्मा, सुराणा
3. Business organization - M.J.Methew

इकाई - 7 : वैश्वीकरण तथा भारत (Globalization and India)

इकाई की रूपरेखा

7.1 परिचय

7.2 अर्थ एवं परिभाषा

7.3 वैश्वीकरण की विशेषताएं

7.4 वैश्वीकरण को बढवा देने वाले घटक

7.5 वैश्वीकरण नीति के सकारात्मक प्रभाव:

- व्यवसाय पर प्रभाव
- सामाजिक आर्थिक प्रभाव

7.6 वैश्वीकरण नीति के नकारात्मक प्रभाव:

- व्यवसाय पर प्रभाव
- सामाजिक-आर्थिक प्रभाव

7.7 भारत में वैश्वीकरण के लिए उठाये गये कदम या प्रवृत्तियाँ

7.8 सारांश

7.9 अभ्यासात्मक प्रश्न

7.10 उपयोगी पुस्तके/संदर्भ ग्रन्थ

7.1 परिचय (Introduction)

आज विश्व में आर्थिक आत्मनिर्भरता तेजी से बढ रही है । विश्व के देश, बाजार, फर्म, ग्राहक, प्रौद्योगिकी, उत्पादन प्रणालियाँ आदि सिमटकर एक दूसरे के नजदीक आ रहीं हैं । देशों की आर्थिक सीमाएँ और राष्ट्रीय घेरे टूट रहे है । सभी देशों में तरक्की के लिए अपने द्वार एक दूसरे के लिए खोल दिये है और सारी दुनिया सिमटकर एक 'वैश्विक गाँव" हो गई है । वैश्वीकरण के प्रभाव से आज सम्पूर्ण मानव समुदाय एक एकीकृत विश्व बाजार बन गया है । हम वैश्विक गाँव का एक हिस्सा बन चुक है तथा एक ऐसी 'वैश्विक अर्थव्यवस्था में रहते हैं जहाँ कोई भी संगठन विदेशी बाजारों एवं प्रतिस्पर्द्धा से पृथक नहीं है ।

7.2 अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition) .

- **अर्थ (Meaning)**

  वैश्वीकरण का अर्थ व्यापारिक क्रियाओं, विशेष रूप से विपणन सम्बन्धी क्रियाओं का अन्तर राष्ट्रीयकरण करना है, जिसमें बाजारों के मध्य पारस्परिक निर्भरता उत्पन्न करके देश की व्यापार सीमाओं को तोड़कर सम्पूर्ण विश्व बाजार को एक ही क्षेत्र के रूप में देखा जाता है ।

- **परिभाषा (definition)**

एन. वाघुल (N. Vaghul) के अनुसार, "वैश्वीकरण शब्द बाजार क्षेत्र के तीव्र गति से विस्तार को प्रकट करता है, जो विश्वव्यापी पहुँच रखता है ।

श्रीकान्त सोनम (Shrikant Sonam) के अनुसार, "वैश्वीकरण से तात्पर्य किसी ऐसी अर्थव्यवस्था से है जो विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ती है ।"

स्टोनर एवं अन्य (Stoner and Others) के अनुसार- "वैश्वीकरण दूसरे देशों में व्यक्तियों के साथ सम्बन्धों के प्रति एक नये परिप्रेक्ष्य अथवा प्रवृत्ति को दर्शाता है । यह अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं के पार संचालित किये जाने वाले व्यावसायिक सम्बन्धों के अभूतपूर्व क्षेत्र, स्वरूप, संख्या एवं जटिलता को दर्शाता है । "

थॉमस मैथ्यू (Thomas Mathew) के अनुसार, "वैश्वीकरण परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो सीमा-पार क्रियाओं की वृद्धि तथा सूचना प्रौद्योगिकी के प्रसार के संयोग से घटित होती है तथा जो विश्व-स्तर पर सम्प्रेषण में सहायक होती है ।

प्रो- मधु दण्डवते (Prof. Madhu Dandvate) के मतानुसार "वैश्वीकरण से आशय किसी एक अर्थव्यवस्था का विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ समन्वय करना है, ताकि विकास तथा व्यापार की सन्तुलित वृद्धि हो सके तथा सम्पत्ति के चक्राकार समुद्र के बीच से सम्पत्ति के द्वीपों को समाप्त किया जा सके ।"

- **निष्कर्ष (Conclusion)**

  वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें एक देश की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत किया जाता है, ताकि सम्पूर्ण विश्व एक ही अर्थव्यवस्था एवं एक ही बाजार के रूप में कार्य कर सके तथा जिसमें सीमा विहीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों के लिए व्यक्तियों, पूँजी, तकनीक, माल, सूचना एवं ज्ञान का पारस्परिक विनिमय सुलभ हो सके ।

7.3 वैश्वीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Globalization)

(1.) वैश्वीकरण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों द्वारा उदारवादी आर्थिक नीति या आर्थिक सुधार कार्यक्रमों को अपनाये जाने का परिणाम है ।

(2.) वैश्वीकरण की प्रक्रिया बहुराष्ट्रीय कम्पनियों या निगमों के द्वारा सम्पन्न होती है । यह अनेक देशों में उत्पादन विक्रय, निर्माण एवं अनुसंधान का कार्य करता है ।

(3.) वैश्वीकरण ने सम्पूर्ण विश्व को एक अर्थव्यवस्था में बदल दिया जिसके कारण एक व्यवसाय की क्रियाओं का एकीकरण एवं स्थापना कई अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं के पार हो रही है । इसी के फलस्वरूप "राष्ट्रेत्तर प्रबन्ध" (Transnational Management) विकसित हो गया है ।

(4.) वैश्वीकरण व्यवसाय को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चलाने का एक नया एवं खुला दृष्टिकोण है । इसके पश्चात् किसी भी देश की अर्थव्यवस्था बन्द नही रह सकती है ।

(5.) वैश्वीकरण के फलस्वरूप सिकुडती हुई दुनिया की विचारधारा सामने आई । नवीन सूचना प्रोद्योगिकी, इलेक्ट्रोनिक सम्प्रेषण कम्प्यूटर्स के कारण दुनिया की निकटता बढी है ।

(6.) वैश्वीकरण ने प्रतिस्पर्द्धा का स्वरूप बदल दिया जो कि अब व्यवसायों के बीच न होकर राष्ट्रों के बीच उत्पन्न हो गया (वैश्वीकरण की नीति निःसंदेह देश के संरक्षणवादी दृष्टिकोण से पलायन है)

(7.) वैश्वीकरण ने अनेक देशों की संस्कृति तथा वहाँ के मूल्यों के अध्ययन को आवश्यक बना दिया है ।

7.4 वैश्वीकरण को बढ़ावा देने वाले घटक (Factors Motivating Globalization)

(1.) अनेक विकासशील देशों ने उदार आर्थिक नीतियों को अपना कर विदेशी निवेशकों के लिए अपने द्वारा खोल दिये है ।

(2.) उद्योग एवं उत्पादन के क्षेत्र में नई तकनीकें विकसित हो चुकी है । ये तकनीकें सभी देशों में हस्तान्तरित की जा रही है । सभी देशों में सभी वस्तुओं के निर्माण एवं उपलब्धि के फलस्वरूप देश वैश्वीकरण की नीति में रूचि ले रहा है ।

(3.) परिवहन, सूचना-प्रसार एवं सम्प्रेषण ने वैश्वीकरण को जीवन की सच्चाई बना दिया ।

(4.) उत्पादन एवं निर्यात आदि की क्रियाओं के लिए वैश्वीकरण को अपनाना आवश्यक हो गया ।

(5.) वैश्वीकरण भावी आर्थिक विकास का आधार है । इसके बिना आर्थिक विकास को सुनिश्चित नही किया जा सकता है ।

(6.) परिवर्तनों से अपनी रक्षा करने के लिए विश्व स्तर पर जुड़ना आवश्यक है ।

(7.) घरेलू बाजारों की माँग, उपभोग, लागत, ग्राहक प्रकृति आदि अनेकों दृष्टियों से वैश्वीकरण की अपनी सीमाएं होती है । वैश्वीकरण देश को एक वृहत् बाजार एवं एक वृहत् अर्थव्यवस्था से जोड़ देता है।

(8.) कोई भी देश विश्व व्यापार समझौते के बिना कार्य नही कर सकता है ।

(9.) विश्व संगठनों के दबाव के कारण भी वैश्वीकरण को अपनाना आवश्यक हो गया है।

7.5 वैश्वीकरण नीति के सकारात्मक प्रभाव (Positive Impacts of Globalization Policy)

- **व्यवसाय पर प्रभाव (Favorable Impacts on Business)**

i) व्यावसायिक उपक्रमों का आकार विशाल होने लगता है, क्योंकि उनका क्षेत्र अनेक देशों तक विस्तृत हो जाता है ।

ii) उपक्रम की उत्पादन-क्षमता का निर्धारण बाजार शक्तियों द्वारा होने लगता है । उसकी उत्पादन सीमा पर अफसरशाही के बन्धन नहीं होते है ।

iii) प्रत्येक स्वदेशी कम्पनी एवं निगमों को अपनी क्षमता के विकास का अवसर उपलब्ध कराता है। इससे देश में स्वदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों का विकास होता है ।

iv) स्वदेशी उत्पादों की गुणवत्ता में भी सुधार के प्रयास किया जाते हैं, ताकि विदेशी माल की चुनौती का सामना किया जा सके ।

v) नवीनतम तकनीकी ज्ञान का भी तेजी से प्रसार होता है ।

vi) अर्थव्यवस्था में ब्राण्ड वाले उत्पादों की माँग बढ जाती है जिससे नकली वस्तुओं का उत्पादन रूक जाता है । देश में "ब्राण्ड इक्विटी" का प्रचलन होता है ।

vii) व्यवसाय को एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रतिरोपण (Transplant) करने की प्रक्रिया को भी सम्भव एवं सुगम बना दिया ।

viii) कम्पनी अपने निर्माण संयन्त्र अनेक स्थानों पर स्थापित करके विभिन्न परिस्थितियों एवं मितव्ययिताओ का लाभ उठा सकती है ।

ix) उपक्रम की प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता का विकास सम्भव होता है ।

x) सभी देशों में स्वतन्त्र मुद्रा बाजार विकसित होगा ।

xi) वैश्वीकरण उद्योगों को अति-संरक्षणवादी प्रवृत्ति से मुक्ति दिलायेगा ।

xii) विस्तृत पूँजी बाजार उपलब्ध करायेगा, फलत: उन्हे सस्ती दर पर वित्त प्राप्त होगा ।

xiii) नये उत्पादों का विकास सम्भव होता है ।

xiv) बाजार सीमाओं का विस्तार होता है ।

xv) वैश्वीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय फर्मो के पास अधिक वित्तीय साधन होते हैं, वे कोषों के प्रयोग में दक्ष होतीं हैं, वे विदेशी बाजारों में आसानी से वित्तीय साधन जुटा लेती हैं तथा अन्य देशों के निवेशक भी इनमें निवेश करने को इच्छुक होते हैं ।

xvi) सरकारें भी व्यवसाय एवं उद्योगों पर से नियन्त्रण हटा लेतीं हैं ।

xvii) प्रबन्ध पेशे का विकास होगा ।

xviii) श्रम की गतिशीलता बढेगी । श्रम पूंजी में साझेदारी बढेगी ।

xix) देश में व्यावसायिक संयोजनों को भी बढ़ावा मिलेगा । अलाभकारी एवं रूग्ण संस्थाओं को स्वस्थ उपक्रमों के साथ सम्मिश्रण या एकीकरण का अवसर प्राप्त होगा । इससे व्यावसायिक सफलताऐं बढ़ेगी तथा संसाधनों का दुरूपयोग रूकेगा ।

- **सामाजिक आर्थिक सुप्रभाव (Socio Economics Favorable Impacts)**

(1) अर्थव्यवस्था पर से कई नियन्त्रण हटा लिया जायेगा, फलतः देश में नये नये उद्योगों की स्थापना होगी ।

(2) देश में आधारभूत संरचना का विकास भी तीव्र गति से होगा ।

(3) भारत में 'प्रत्यक्ष विदेशी निवेश' और 'पोर्टफोलियो' निवेश में पिछले 3-4 वर्षों में तेजी से वृद्धि हुई है ।

(4) वैश्वीकरण के पूर्व भारत एक बन्द बाजार था जिसमें बाहर से पूँजी, प्रबन्ध एक तकनीक का बहुत कम उत्साह था । भारत अब एक खुला बाजार है ।

(5) निर्यात आय में वृद्धि हुयी है ।

(6) भुगतान सन्तुलन भी पक्ष में रह सकेगा । हमारे निर्यातों में भी वृद्धि हुई हैं ।

(7) नये उद्योग खुलेंगे तथा रोजगार के अवसर बढ़ने से देश में बचत एवं विनियोग दोनों में वृद्धि होगी, जो देश में पूँजी निर्माण की गति में तीव्रता लायेगी ।

(8) सामाजिक क्षेत्रों में पूँजी निवेश बढेगा ।

(9) रोजगार के अवसरों पर भी अनुकूल प्रभाव ही पड़ेगा ।

(10) वैश्वीकरण के दृष्टिकोण वाले आर्थिक सुधारों से देश में विदेशी मुद्रा के प्रारक्षित भण्डारों में आशातीत वृद्धि हुई है ।

(11) चालू खाते के घाटे में कमी हुयी है ।

(12) विदेशी ऋण भार में कमी आयी है ।

(13) विनिमय दर के स्थिरता, वैश्वीकरण के पूर्व गैर कानूनी व 'हवाला' माध्यमों से विदेशी विनिमय लेन देन होता था, अब वह सरकारी व कानूनी माध्यमों से होगा

(14) सामाजिक समूह में सहयोग की सम्भावना रहती है ।

(15) सामाजिक समस्याओं के हल में भी सहायता मिली है ।

(16) प्रतिभा पलायन पर रोक संभव हुई है ।

(17) देश की राष्ट्रीय सीमाओं के विवाद कम होंगे, क्षेत्रवाद समाप्त होगा तथा उदार प्रजातान्त्रिक मूल्यों का विकास होगा ।

(18) एकाधिकारी क्रियाओं वाले केन्द्र समाप्त हो रहे है तथा दक्षता और प्रभाव वाले केन्द्रों की व्यावसायिक क्रियाये आकर्षित होगी ।

(19) नई-नई वस्तुओं का शीघ्र उपभोग कर पाना भी सम्भव हुआ है ।

7.6 वैश्वीकरण नीति के दुष्प्रभाव (Negative effects of Globalisation Policy)

- **व्यवसाय पर दुष्प्रभाव (Adverse effects on Business)**

1) स्वदेशी उत्पादों की विदेशी वस्तुओं के साथ गलाकाट स्पर्द्धा में अनेक उद्योग अपने आस्तित्व को बचाने में लगे है ।

2) वैश्वीकरण के कारण आरम्भिक उद्योगों को दिये जाने वाले सभी संरक्षण हटा लिये जाते हैं ।

3) घरेलू उद्योगो के चौपट हो जाने की आशंका बढ गई है, क्योंकि विकसित देश अपने अति उत्पादन का राशि पतन भारतीय बाजारों में कर रहे हैं ।

4) लघु एवं कुटीर उद्योगों के अस्तित्व को खतरा बढ़ा है क्योंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तुलना में इन लघु उद्योगों के पास न तो तकनीकी श्रेष्ठता है न उच्च उत्पादन क्षमता व गुणवत्ता ।

5) यदि निर्यातों में वृद्धि नही हुई तो आयात उदारीकरण बहुत महंगा सिद्ध होगा ।

6) पहले बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश को विदेशी मुद्रा कमा कर दे रही थी, अब वे विदेशों को धन प्रेषण, कर रही हैं ।

7) कडी बाजार प्रतिस्पर्द्धा के कारण कम्पनियों के अधिग्रहण एवं विलय की घटनाएँ बढ़ने लगीं हैं।

8) अनुपयुक्त वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है ।

9) बहुराष्ट्रीय निगम अल्प विकसित देशों में अनुसंधान व विकास की गतिविधियाँ भी नही चलाते है ।

10) बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पुरानी टेक्नॉलोजी का अन्तरण अल्प विकसित देशों में करती हैं । अपनी मजबूत सौदाकारी शक्ति का लाभ उठाते हुये ये बहुराष्ट्रीय निगम कड़ी शर्तों पर ही नई तकनीक का अन्तरण करते हैं ।

- **सामाजिक आर्थिक दुष्प्रभाव (Adverse Socio-economics Effects)**

1) चूंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में कर्मचारी विदेशों से नियुक्त किये जाते हैं अत: स्थानीय रोजगार के अवसर समाप्त होते है ।

2) दैनिक जीवन की वस्तुएं महँगी होती है, क्योंकि वस्तुओं का प्रवाह विभिन्न देशों की ओर हो सकता है एवं हमारे देश में उनकी पूर्ति कम होती है ।

3) देश का सन्तुलित आर्थिक विकास भी प्रभावित होता है ।

4) देशों के मध्य असमानताएँ बढ़ती हैं ।

5) वैश्वीकरण विरोधी शक्तियों को उत्प्रेरित करता है और वह संघर्ष और तनाव के बीज बो सकता है ।

6) वैश्वीकरण अल्पविकसित देशों में विकसित देशों द्वारा आर्थिक साम्राज्यवाद स्थापित करने की नीति है ।

7) शेयर बाजार पर अधिपत्य के कारण छोटे शेयर धारकों के हितों पर कुठाराघात ।

8) रूपये के अवमूल्यन से आयात की रूपये में लागत बढ़ेगी और विदेशी ऋणों की अदायगी का भार बढ गया ।

इसके अलावा वैश्वीकरण ने निम्न और समस्याओं को भी जन्म दिया है:

राजनैतिक हस्तक्षेप, असन्तुलित विकास, गरीबी का हल नहीं, राष्ट्रीय सम्प्रभुता को खतरा आदि।

7.7 भारत में वैश्वीकरण के लिए उठाये गये कदम (Steps Toward Globalisation in India)

(1) **आयात उदारीकरण** (Import liberalization) : 1990 में अपनी रिपोर्ट (India strategy trade Reforms) में विश्व बैंक ने भारत को आयात उदारीकरण की नीति को बडे पैमाने पर लागू करने का सुझाव दिया था ।

(2) **विदेशी पूँजी को और सुविधाएँ** (Opening up to foreign capital) : भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत करने के लिए भारत सरकार ने उदारतापूर्वक विदेशी निवेशकों के लिए अपने द्वारा खोल दिये है ।

(3) फेरा में किये गये निम्न परिवर्तन भी वैश्वीकरण को बढावा देते हैं:

- विदेशी कम्पनियों को मुनाफा देश से ले जाने की छूट ।

- फेरा के अधीन आने वाली इकाईयों को भारत में अचल सम्पत्ति खरीदने की छूट ।

(4) **विनिमय दर समायोजित और रूपये की परिवर्तनीयता** (Exchange rate adjustment and rupee convertibility) : किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी मुद्रा को पूर्णरूपेण परिवर्तनीय बना दिया जाये । परिवर्तनीय के लिय यह आवश्यक होता है कि विनियम नियन्त्रणों को क्रमबद्ध दशा से कम करते हुये अन्ततः पूर्ण समाप्त कर दिया जाय ।

(5) **विदेशी सहयोग समझौते** (Foreign Collaborations): जुलाई, 1991 में घोषित उदार विदेशी नीति के फलस्वरूप विदेशी सहयोग के समझौते में तेजी से वृद्धि हुई है तथा वैश्वीकरण की प्रक्रिया को बल मिला ।

(6) सरकार ने समय-समय पर बहुराष्ट्रीय निगमों को देश में पूँजी निवेश का नियन्त्रण देकर वैश्वीकरण को बढावा दिया है ।

(7) देश में बढता प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग भी वैश्वीकरण की ओर एक प्रभावी कदम है ।

(8) वैश्वीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत ही देश की निर्यात प्रतिस्पर्द्धात्मकता को सुदृढ बनाने की दृष्टि से सरकार द्वारा 31 मार्च 1999 को संशोधित आयात निर्यात नीति की घोषणा की गई ।

(9) वैश्विक आर्थिक वातावरण एवं नीति के निर्माण में 'गैट समझौते' तथा विश्व व्यापार संगठन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । इसका उद्देश्य पारस्परिक लाभ के लिए व्यापारिक तटकरो एवं रूकावटों को कम करना था । 12 दिसम्बर 1995 को गैट का अस्तित्व समाप्त कर इसकी जगह 1 जनवरी, 1995 से स्थापित 'विश्व व्यापार संगठन (WTO) ने ले ली है । WTO में बौद्धिक सम्पन्न अधिकार (T.R.I.P.S.) विदेशी पूँजी निवेश उपाय (T.R.I.M.S.) सेवाओं में व्यापार का समझौता (General agreement on trade in services), कपड़ा उद्योग तथा कृषि और संस्थागत मामलों का समावेश किया गया है । GATT समझौते का भारतीय अर्थव्यवस्था पर वैदेशिक क्षेत्र की दृष्टि से निम्नांकित प्रभाव पड़ा :

(1) भारत के निर्यात में प्रति वर्ष 1 से 2 अरब डॉलर वृद्धि की आशा आंकी गयी ।

(2) सरकार के पास यह अधिकार बना रहेगा की वह किस प्रकार की पूँजी निवेश को अनुमति दे।

7.8 सारांश (Summary)

वैश्वीकरण ने विश्व को एक ''वैश्विक गाँव' (Global Village) बना दिया । इस Global Village के अपने फायदे एवं नुकसान दोनों हैं । भारत, ने 1990 के बाद से देश में विद्यमान गम्भीर आर्थिक संकटों के दौर में भारत सरकार ने वैश्वीकरण की नीति को अपनाया । इस नीति ने जहाँ भारत की निस्तेज और प्राणहीन अर्थव्यवस्था को जीवनदान दिया, वहीं अनेक खतरे भी पैदा कर दिये।

7.9 अभ्यासात्मक प्रश्न

अति लघुतरात्मक प्रश्न

प्र.1 वैश्वीकरण क्या है?

What is globalization?

प्र.2 बहुराष्ट्रीय उपक्रम किसे कहते है?

What is meant by Multinational Enterprise?

प्र.3 वैश्वीकरण से प्रमुख खतरा क्या है?

What is the main danger of globalization?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्र.1 वैश्वीकरण के प्रमुख लक्षण बताइये ।

State the main characteristics of globalization?

प्र.2 वैश्वीकरण का प्रमुख गुण क्या है?

What is the Chief merit of globalization?

प्र.3 क्या वैश्वीकरण की नीति भारत के लिए उपयुक्त है?

Is the policy of globalization suitable for India?

निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 वैश्वीकरण से आप क्या समझते है? इस विचारधारा के लक्षण बताइये ।

What do you mean by globalization? State the characteristics of this concept.

प्र.2 वैश्वीकरण की नीति के सम्भावित खतरे एवं दुष्प्रभाव क्या है? विवेचना कीजिए ।

What are the probable dangers and negative effects of globalization policy?

प्र.3 "वैश्वीकरण से आप क्या समझते हैं? वैश्वीकरण की नीति का व्यवसाय पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना कीजिए ।

What do you mean by globalization? Discuss the impacts of globalization policy on business.

7.10 उपयोगी पुस्तके/संदर्भ ग्रन्थ

1. व्यावसायिक संगठन, लेखक - जी. एस. सुधा, प्रकाशक शील सन्स जयपुर ।
2. भारत में आर्थिक पर्यावरण, लेखक- प्रो. डी. आर. जाट, डी. पीसी. भण्डार प्रकाशक - अजमेर बुक कम्पनी, जयपुर ।
3. भारत में आर्थिक पर्यावरण, लेखक - गुप्ता, स्वामी, प्रकाशक - रमेश बुक डिपो, जयपुर-नई दिल्ली ।

4. व्यावसायिक पर्यावरण, लेखक - प्रो. जिनेन्द्र जैन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (म.प्र.)

इकाई - 8 : व्यावसायिक नैतिकता तथा व्यवसाय का सामाजिक दायित्व

इकाई की रूपरेखा

8.1 व्यावसायिक नैतिकता

(i) परिचय

(ii) अर्थ

(iii) परिभाषा

(iv) व्यावसायिक नीतिशास्त्र की मान्यताएँ एवं विशेषताएँ

(v) व्यवसायिक नीतिशास्त्र का महत्व

(vi) व्यवसायिक नीतिशास्त्र के सिद्धान्त

8.2 व्यवसाय का सामाजिक दायित्व

(i) परिचय

(ii) अर्थ

(iii) परिभाषा

(iv) सामाजिक उत्तरदायित्व विचारधारा की मुख्य विशेषताएँ

(v) व्यवसाय का सामाजिक दायित्व

(vi) व्यवसाय का सामाजिक दायित्व विपक्ष में तर्क

(vii) व्यवसाय का सामाजिक दायित्व पक्ष में तर्क

8.3 सारांश

8.4 अभ्यासात्मक प्रश्न

- अतिलघुउत्तर प्रश्न
- लघु उत्तर प्रश्न
- दीर्घ उत्तर प्रश्न

8.5 उपयोगी पुस्तके एवं संदर्भ ग्रन्थ

8.1 व्यावसायिक नैतिकता (Business Ethics)

परिचय (Introduction)

आधुनिक युग में व्यवसाय का नैतिक पहलू महत्वपूर्ण हो गया है । व्यवसाय में गिरते नैतिक मानदण्डों, अपवित्र साधनों, छल-कपट के रिश्तों, मर्यादाहीन अनैतिक क्रियाओं व कुटिल आचरण के कारण व्यवसाय अपनी गरिमा खोता जा रहा है ।

थोमस एम. गैरटे लिखते है कि " जब तक हम नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन न करें, हम सफल व्यवसायी तो बन सकते है, किन्तु हम नैतिक रूप से कमजोर होकर अपंग, अति सामान्य व्यक्ति बनकर रह जाते है ।"

व्यावसायिक नीतिशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Defination of Business Ethics)

अर्थ (Meaning)

व्यावसायिक नीतिशास्त्र का आशय व्यवसायिक क्रिया-कलापों में उच्च नैतिक स्तरों का पालन करने, सामाजिक दृष्टि से पवित्र उद्देश्यों को निर्धारित करने तथा उनकी पूर्ति के लिए उपयुक्त साधनों को अपनाने से है । व्यवसाय को सुदृढ सामाजिक लक्ष्यों को स्वीकार करके उपभोक्ताओं, कर्मचारियों, प्रतिस्पर्द्धियों, पूर्तिकर्त्ताओं आदि के साथ उचित व्यवहार एंव नैतिक आचरण करना चाहिए ।

परिभाषाएं (Definations)

रू तथा बिअर्स के शब्दों में "व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यक्तियों तथा संगठनों के दैनिक आचरण के प्रमापों से सम्बन्धित है।"

रोगेन बुच्छोम्ज के अनुसार, "व्यावसायिक नीतिशास्त्र से आशय व्यावसायिक निर्णयों के प्रति 'सही' एवं 'गलत' व्यवहार से है ।"

निष्कर्ष (Conclusion)

व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसाय में कार्यरत व्यक्तियों के आचरण के सिद्धान्त या प्रमाप है जो अनेक दैनिक कार्यो, निर्णयों, लक्ष्यों व साधनों के चयन एवं व्यवहार में उनका मार्गदर्शन करते है।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र की विशेषताएँ एवं मान्यताएँ (Characteristics and assumptions of Business Ethics)

(1) यह वह ज्ञान है जिसके द्वारा व्यावसायिक जगत में मानवीय आचरण का अध्ययन किया जाता है ।

(2) यह एक आदर्श विज्ञान है, उचित व्यवहार अर्थात 'क्या होना चाहिए' (Ought to be) का प्रतिपादन करता है । यह एक कला भी है, क्योंकि यह मानवीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए पवित्र साधनों व कार्यों के चयन की कला है ।

(3) पवित्र लक्ष्य पवित्र साधनों के लिए प्रेरित करते हैं । लक्ष्य एवं साधन दोनों का नैतिक होना आवश्यक है ।

(4) यह नैतिकता के उच्च स्तरों नैतिक मूल्यों, आदर्शों व प्रमाप को स्वीकार करता है ।

(5) इसमें कानूनी नियन्त्रण व व्यवस्था के आधार पर नहीं वरन् नैतिकता के आधार पर दायित्वों को स्वीकार किया जाता है ।

(6) यह गतिशील दर्शन है, समाज के परिवर्तनशील नैतिक मानदण्डो व आचरण के आदर्शों का सजग निरीक्षण करता है ।

(7) यह सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं व नैतिक नियमों का सजग परीक्षण करता है ।

(8) धर्म, दर्शन व्यावसायिक नीतिशास्त्र का आधार है । समाज में धर्म का स्थान नीति से ऊपर रहा है ।

(9) व्यावसायिक नीतिशास्त्र सामाजिक नैतिकता से अलग है ।

(10) भावनाओं पर आधारित ना होकर वास्तविकता से जुड़ा होता है ।

(11) नीति शास्त्रीय आचरण मानवीय सिद्धान्तों द्वारा, अनुमोदन से नहीं ।

(12) कानून का क्षेत्र वैधानिक है, जबकि व्यावसायिक नीतिशास्त्र नैतिक व स्वेच्छिक दायित्व है ।

(13) यह सामाजिक दायित्वों से पृथक है ।

(14) नीतिशास्त्र का आधार सदैव मानवीय रहा है ।

(15) सामाजिक कल्याण प्रगति, समृद्धि व हित की भावना से प्रेरित है ।

(16) प्राचीन विचारधारा, समाज में व्यवसाय के विकास के साथ ही उसके नीतिगत आचरण का विचार भी जुड़ा रहा है ।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र का महत्व (Importance of Business Ethics)

(1) उच्च नैतिक मापदण्डों व आदर्शों की स्थापना करता है ।

(2) अच्छे और बुरे की विवेचना कर व्यवसायी का मार्गदर्शन करता है ।

(3) श्रेष्ठ सामाजिक लक्ष्यों की स्थापना करके उनकी पूर्ति के लिए पवित्र साधन को अपनाने के लिए प्रेरित करता है ।

(4) दीर्घकालीन सफलता का सूचक है ।

(5) यह व्यक्तियों व समाज के विकास में होता है ।

(6) समाज व उसके विभिन्न वर्गों के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास करता है ।

(7) व्यवसाय व्यवसाय के कार्य व्यवहारों में सुधार लाता है ।

(8) व्यावसायिक कार्यकुशलता को बढाता है तथा सामाजिक लागतों को कम करता है ।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र के सिद्धान्त (Principels of Business Ethics)

(1) **साध्य एवं साधन की पवित्रता का सिद्धान्त :** व्यवसायी का न केवल साध्य ही पवित्र हो, वरन उनकी प्राप्ति के साधन भी पवित्र होने चाहिए ।

(2) **बुरी कामना न करने का सिद्धान्त :** स्वयं तथा दूसरे के प्रति बुरी कामना करना अनैतिक है, भले ही ऐसी कामना करना साध्य के रूप में हो या साधन के रूप में ।

(3) **बुराई में सहयोग न देने का सिद्धान्त :** बुराई में सहयोग न देना भी एक अच्छे कार्य के समान है । व्यवसायी को मिथ्या विज्ञापन करना, अहितकर वस्तुएँ बनाना, विद्वेषपूर्ण नीतियां बनाना अथवा समाज के लिए घातक निर्णय लेना आदि क्रियाओं का पूर्णत: परित्याग कर देना चाहिये ।

(4) **दूसरों की सहायता का सिद्धान्त :** यदि कोई व्यक्ति या समूह है तो उसे अच्छे लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग प्रदान करना चाहिए ।

(5) **मानवीय गरिमा का सिद्धान्त :** व्यवसायी के सामाजिक व्यवहार में मानवीयता का स्थान सर्वोपरि होना चाहिए ।

(6) **शाश्वत मूल्यों का सिद्धान्त :** व्यवसायी का आचरण मानवीय शाश्वत मूल्यों जैसे- ईमानदारी, भलाई, सेवा, विश्वास आदि के अनुकूल होना चाहिए ।

(7) **स्वायत्तता का सिद्धान्त :** मनुष्य के ऊपर नियमों व कानूनों को बाहर से नहीं लादना चाहिए । सामाजिक व्यवहार के नियमन एवं नियन्त्रण में मनुष्य को स्वतन्त्रता एवं स्वायत्तता मिलना आवश्यक है ।

(8) **संतुष्टि का सिद्धान्त :** व्यवसाय के प्रत्येक वर्ग की अधिकतम सन्तुष्टि पर ध्यान देना चाहिये।

(9) **उचित कार्यवाही का सिद्धान्त :** व्यवसायी को अपने निर्णयों व कार्यों की उचित निष्पक्ष एवं खुली प्रक्रिया अपनानी चाहिए ।

(10) **अनुकरणीय आचरण का सिद्धान्त :** "मालिकों को यह देखना चाहिए कि कहीं उनका आचरण दूसरों को अनीति शास्त्रीय आचरण के लिए प्रेरित तो नही कर रहा है ।

(11) **वायदे का सिद्धान्त :** व्यवसायी को अपने द्वारा किये गये वायदों एवं दिये गये आश्वासनों को पूरा करना चाहिए तथा दूसरों के प्रति अपने वचनों को भुलाकर अपने स्वार्थों को सिद्ध नहीं किया जाना चाहिए ।

(12) **अपेक्षाओं में रूचि का सिद्धान्त :** व्यवसायियों को व्यवसाय से जुड़े सभी वर्गों की उचित अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रयास करना चाहिए ।

(13) **अहिंसा का सिद्धान्त :** जब व्यवसायी समाज के हितों व अधिकारों को चोट पहुँचाता है उपभोक्ताओं का शोषण करता है, दूसरों के हितों की अनदेखी करता है तथा विभिन्न वर्गो को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रयोग में लाता है तो यह उसका हिंसक आचरण होता है, जो अनीतिगत है ।

(14) **प्रचार का सिद्धान्त :** व्यवसायी की क्रियाएं निर्णय व योजनाएँ गुप्त नहीं रखी जानी चाहिए । व्यवसाय की प्रगति व वास्तविक स्थिति से समाज को अवगत कराया जाना चाहिए ।

(15) **सम मूल्य का सिद्धान्त :** समाज को उसकी मुद्रा के बराबर उपयोगिता प्रदान की जानी चाहिए । व्यवसायी को सदैव विभिन्न वर्गों की सेवाओं, सेवा लाभांश व पुरस्कार प्रदान करना चाहिए ।

(16) **अन्तर्ज्ञान न का सिद्धान्त :** व्यवसायी को अपने कार्यों व व्यवहार में अपनी अन्तर्ज्ञान को उच्च महत्व देना चाहिये ।

(17) **सेवा भावना का सिद्धान्त :** व्यवसायी को अपने प्रत्येक कार्य में 'सेवा भावना' व 'जनकल्याण' का लक्ष्य रखना चाहिए । उसका आचरण समाज की सेवा के निमित्त होना चाहिये।

(18) **आनुपातिक विवेक का सिद्धान्त :** आनुपातिक विवेक को काम में लिए बिना स्वयं के प्रति अथवा दूसरों के प्रति किसी बड़ी बुराई को होने देना था उसकी जोखिम उठाना अनैतिक है ।

8.2 व्यवसाय का सामाजिक दायित्व

परिचय (Introduction) :

एक समय था जब व्यवसाय की सम्पूर्ण क्रियाएँ अर्थमुखी हुआ करतीं थीं । व्यवसायिक स्वलाभ की प्रवृति से ही प्रेरित होते थे । लाभों को अधिकतम करना ही सफल व्यवसायी का लक्षण माना जाता था । इस प्रकार 'आर्थिक मानव के युग' की विचाराधारा प्रचलित थी, परन्तु धीरे-धीरे आर्थिक एवं सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होने लगा । व्यावसायिक जगत में मूल्यों, समता की इच्छाओं के महोत्सवों को स्वीकार किया जाने लगा । समाजवादी एवं कल्याणकारी राज्य की विचाराधारा ने सरकार को व्यवसायिक जगत में हस्तक्षेप करने के लिए प्रेरित किया, फलतः आर्थिक मानव की विचारधारा का स्थान 'सामाजिक मानव' की विचारधारा ने ले लिया । इस प्रकार परिवर्तित परिस्थितियों में सामाजिक विचारकों ने "व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व" का प्रतिपादन किया । इस विचारधारा के अनुसार व्यवसाय एक सामाजिक संस्था है । व्यवसाय समाज में, समाज के द्वारा प्रदत्त साधनों से, समाज के लिए किया जाता है ।

सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ एवं परिभाषाएं (Meaning and Definition Of Social Responsibility)

अर्थ (Meaning)

व्यवसाय के सामाजिक दायित्व से आशय व्यवसाय एवं समाज के पारस्परिक हितों के समझने एवं पूरा करने की क्रिया से है । सामाजिक दायित्वों की पूर्ति ही व्यावसायिक सफलता की कसौटी है ।

परिभाषाएँ (Definations)

ए.दास गुप्ता के अनुसार "व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व का पूर्ण कुशल निष्पादन द्वारा लाभ कमाना है साथ ही कर्मचारियों, ग्राहकों, समुदाय और सरकार के प्रति दायित्वों तक विस्तृत करना है ।"

अन्तर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठी दिल्ली 1965 के अनुसार "व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व से आशय ग्राहकों, कर्मचारियों, अंशधारियों एवं समुदाय के प्रति व्यवसाय के दायित्व से है ।"

निष्कर्ष (Conclusion)

व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व एक सार्वभौमिक विचारधारा है । समाज चाहे पूर्व या पश्चिमी हो चाहे विकसित या विकासशील समाज हो, सभी के व्यवसाय पर यह विचारधारा लागू होती है ।

आधुनिक सामाजिक वैज्ञानिकों के अनुसार सामाजिक उत्तरदायित्व एक दोहरी प्रक्रिया है, अत: समाज के विभिन्न पक्षों को भी व्यवसाय के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझना एवं पूरा करना चाहिये ।

व्यवसाय के सफल संचालन के लिए एक व्यावसायिक वातावरण की आवश्यकता होती है, जो समाज के सभी पक्षों के सहयोग से ही संभव होता है ।

सामाजिक उत्तरदायित्व विचारधारा की मुख्य विशेषताएँ (Main Characteristics of Responsibility Concept)

1. सामाजिक उत्तरदायित्व एक द्विमार्गी क्रिया है, क्योंकि व्यवसाय समाज के लिए है वस्तुएँ एवं सेवाएँ उपलब्ध करवाता है तो समाज व्यवसाय के लिए व्यावसायिक वातावरण बनाने में सहयोग देते हैं ।
2. यह व्यावसायिक संगठनों से सम्बन्धित है गैर आर्थिक संगठन इस विचारधारा के अन्तर्गत नहीं आते ।
3. यह एक सार्वभौमिक विचारधारा है ।
4. सार्वजनिक हितों की सर्वोच्चता पर आधारित विचारधारा को मानती है कि व्यक्तिगत हित एवं सार्वजनिक हित में आवश्यक सामंजस्य स्थापित करते हुये व्यवसाय का संचालन एवं प्रबन्ध करना चाहिये ।
5. सामाजिक उत्तरदायित्व का विस्तार, व्यवसाय का समाज के विभिन्न पक्षों, उपभोक्ता, कर्मचारी, अंशधारी, सरकार समुदाय आदि के प्रति उत्तरदायित्व होता है ।
6. सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह व्यवसाय को सफलता का एक आवश्यक तत्व है ।
7. यह एक सतत प्रक्रिया है, जब तक व्यावसायिक क्रियाएँ जारी रहेंगी, व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व भी बना रहेगा ।

स्वयं व्यावसायिक संस्था के प्रति व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Responsibility of Business towards business Institution itself)

व्यवसायियों, प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों का व्यावसायिक संस्था के प्रति निम्नलिखित उत्तरदायित्व होता है-

(i) कुशल संचालन एवं प्रबन्ध
(ii) संस्थागत साधनों का अत्युत्तम उपयोग
(iii) संस्था का विस्तार
(iv) विनियोग पर उचित प्रत्याय
(v) प्रतिष्ठा बनाये रखना
(vi) नियोजित यन्त्रीकरण
(vii) भुगतान क्षमता बनाये रखने व अनिश्चितताओं का पूर्वानुमान लगाना

ग्राहकों के प्रति दायित्व (Responsibilities towards customers)

(1) उत्पादकों एवं वितरकों को वस्तुओं का उचित मूल्य निर्धारित करना चाहिए ।
(2) ग्राहकों को अच्छी किस्म की वस्तुएं उपलब्ध करानी चाहिये ।
(3) बैंक, बीमा, पानी, बिजली, यातायात, प्रकाशन आदि से सम्बन्धित संस्थाओं के द्वारा अच्छी एवं सस्ती सेवाएं उपलब्ध करानी चाहिये ।
(4) अधिक से अधिक वस्तुओं का प्रमापीकरण कर देना चाहिये ।

ऋणदाताओं के प्रति दायित्व (Responsibilities towards creditors)

(i) उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त करना,
(ii) व्यावसायिक नैतिकता का पालन करना,
(iii) ऋण पूंजी का सदुपयोग करना,

(iv) किश्त एवं ब्याज का नियमित भुगतान करना,

(v) बन्धक के नियमों का पालन करना,

(vi) निर्धारित समय पर भुगतान करना ।

आपूर्तिकर्ताओं के प्रति दायित्व (Responsibilities towards suppliers)

पूर्तिकर्ता व्यक्ति तथा संस्थाएँ दोनों ही हो सकते हैं । इनके प्रति उत्तरदायित्व अग्रलिखित है-

(i) उचित मूल्य प्रदान करना,

(ii) उचित समय में भुगतान करना,

(iii) उचित शर्तों पर माल क्रय करना,

(iv) देशी पूर्तिकरताओं को प्रोत्साहित करना,

(v) तकनीकी सहायता प्रदान करना,

(vi) परिवर्तनों की सूचना देना,

(vii) स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा देना ।

कर्मचारियों के प्रति दायित्व (Responsibilities towards employees)

कर्मचारियों को उचित वेतन एवं मजदूरी सुरक्षात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति, अच्छी कार्यदशाएँ सही कार्य प्रदान करना, प्रशिक्षण सुविधाएँ प्रदान करना, परिवेदनाओ एवं विवादों का शीघ्र निपटारा कराना आदि बातों का ध्यान रखना प्रबन्ध का विशेष दायित्व है ।

स्वामियों के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Owners)

पूंजी को सुरक्षा प्रदान करके, उचित लाभांश का भुगतान करके, पूर्व निर्धारित लक्ष्यों में पूंजी विनियोजित करके, सभाओं की सूचना देना, लक्ष्यों को प्रकट करना संस्था की प्रगति की सूचना देना, स्वामियों के निर्देशों का पालन करना आदि कार्यों को क्रियान्वित करके प्रबन्ध कुशलता से स्वामियों के प्रति अपना दायित्व निभा सकता है ।

निक्षेपकर्ताओं के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Depositors)

कुछ व्यावसायिक संस्थाएँ विशेषतः कम्पनी जनता को निक्षेप की सुविधा प्रदान करतीं है । इन निक्षेपकर्ताओं के प्रति व्यवसाय के निम्नलिखित दायित्व हैं-

(i) इनके धन को सुरक्षा प्रदान करना,

(ii) उचित ब्याज का नियमित भुगतान करना,

(iii) धन निकलवाने की सुविधा प्रदान करना,

(iv) विशेष सुविधाएँ प्रदान करना ।

सरकार के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Government)

(1) व्यवसाय से सम्बन्धित अधिनियमों का पालन करना चाहिये ।

(2) विभिन्न करों का समय पर ईमानदारी से भुगतान करते रहना चाहिये ।

(3) निजी हित के लिए सरकारी तंत्र एवं कर्मचारी को भ्रष्ट नहीं करना चाहिये ।

(4) सरकारी नीतियों, नियमों, योजनाओं विभागों आदि की गोपनीयता को प्रभावित नहीं करना चाहिये ।

(5) संवैधानिक प्रावधानों का पालन करना चाहिये ।

(6) व्यावसायिक शक्ति से राजनीतिक शक्ति का दुरूपयोग नहीं करना चाहिये ।

(7) आर्थिक योजनाओं के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग देना चाहिये ।

(8) शत्रु देश में व्यावसायिक सौदे नहीं करने चाहिये ।

(9) युद्ध, आपातकाल आदि में सरकार का सहयोग करना चाहिये ।

विश्व समाज के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards World Society)

(1) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यावसायिक सहयोग को बढ़ावा देना चाहिये ।

(2) बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अन्य देशों में राजनैतिक एवं आर्थिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये ।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी सहयोग को बढावा देना चाहिये ।

(4) किसी देश विशेष में सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालना चाहिये।

(5) किसी देश विशेष को गोपनीयता को प्रभावित नहीं करना चाहिये ।

(6) बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की निर्धारित आचार संहिता का पालना करना चाहिये ।

(7) व्यावसायिक समझौते में नैतिकता बनायी रखनी चाहिये ।

(8) उचित मूल्य पर मशीनों, वस्तुओं एवं कच्चे माल का विक्रय करना चाहिये ।

सामाजिक उत्तरदायित्व के विपक्ष में तर्क (Arguments against Social Responsibility)

(1) **व्यवसाय के मूल उद्देश्यों के विरोधाभासी** (Contrary to basic objectives of business) : व्यवसाय का मूल उद्देश्य लाभ कमाना होता है । सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन हेतु व्यवसाय को लाभान्वित करने के उद्देश्य से निम्न कार्य भी करने पड़ते है, जो इसके मूल उद्देश्यों के विरोधाभासी है ।

(2) **सामाजिक मूल्यों का व्यावसायिक मूल्यों पर हावी होना** (Domination of Business Values on Social Values) : जब व्यवसाय सामाजिक उद्देश्यों की तरफ उन्मूख होता है तो उसे व्यवसायिक मूल्यों के स्थान पर सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्व देना पड़ता है, जो व्यवसाय के मूल्य उद्देश्यों के विपरीत ।

(3) **व्यवस्थागत अकुशलता** (Inefficiency in the system) : जब व्यवसायी अपने मूल्य उद्देश्यों से हटकर स्व: हित के स्थान पर सामाजिक दायित्वों को अधिक महत्व देता है तो व्यवसाय से सम्बन्ध हितकारों की कार्यप्रणाली में शिथिलता आ जाती है ।

सामाजिक उत्तरदायित्व के पक्ष में तर्क (Arguments for Social Responsibility)

(1) **सरकारी प्रावधानों का उल्लंघन** (Avoidance of govt. Regulation) : जब व्यापार अपने सामाजिक दायित्वों का पालन नहीं करता तो उसे सरकारी बाधाओं का सामना करना पड़ता है, अत: इन सरकारी बाधाओं से बचने के लिए व्यापार को अपनी समस्त सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना चाहिये ।

(2) **व्यवसाय के स्वयं के प्रति दीर्घकालिक हित** (Long Run Self Interest of Business) : कम्पनी अथवा व्यापार अपने सभी सामाजिक दायित्वों का यदि उचित पालन करते है तो वह धीरे-धीरे वक्त के साथ स्वयं हित समूह की नजर में अपनी अच्छी छवि बना लेते हैं ।

8.3 सारांश (Summary)

व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व व्यवसाय की दीर्घकालिक सफलता के लिए बहुत जरूरी है। यदि व्यवसाय अपना उत्तरदायित्व जो कि उसका स्वमियों, ऋणदाताओं, निक्षेपकर्त्ताओं, कर्मचारियों, ग्राहकों, पूर्तिकर्ताओ, पेशेवर संस्थाओं, अन्य व्यावसायिक संस्थाओं, स्थानीय समुदाय, सरकार एवं विश्व समाज आदि के प्रति सुचारू रूप से पूर्ण नहीं करता है तो उसे स्वयं के प्रति नुकसान उठाना पड़ सकता है । आज के युग में व्यवसाय एवं समाज दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर है, अत: दोनों को ही एक दूसरे व्यवसाय को समाज, समाज को व्यवसाय के प्रति अपने दायित्व सम्पूर्ण करने चाहिये, क्योंकि व्यावसायिक परिर्वतन समाज को एवं सामाजिक परिवर्तन व्यवसाय को प्रभावित करते है । इस प्रकार व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा को सार्वभौमिक विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है । सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ ही साथ आधुनिक युग में व्यवसाय का नैतिक पहलू भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है । नीतिशास्त्र व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों के आचरण एवं व्यवहार के मार्गदर्शन हेतु प्रतिपादित सिद्धान्तों का समूह है, वस्तुत: जब नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग व्यवसायियों की क्रियाओं, निर्णयों, नीति निर्माण एवं आचरण में किया जाता है तो यह व्यावसायिक नीतिशास्त्र का रूप धारण कर लेता है, जो सामाजिक हितों की पूर्ति एवं वृद्धि में सहायक होती है ।

8.4 अभ्यासात्मक प्रश्न

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 "श्रेष्ठ नीतिशास्त्र श्रेष्ठ व्यवसाय है ।" समझाइये ।

"Good ethics is good business." Explain.

प्र.2 नीतिशास्त्र व सामाजिक उत्तरदायित्व की विशेषताएँ बताईये ।

Give the charcteristices of Ethics & Social Responsibility.

प्र.3 नीतिशास्त्र का अर्थ बताईये ।

Explain the meaning of ethics.

लघुउत्तरीय प्रश्न

प्र.1 व्यावसायिक नीतिशास्त्र से आप क्या समझते है?

What do mean by 'Business Ethics'?

प्र.2 'व्यावसायिक नीतिशास्त्र कला एवं विज्ञान दोनों है ।' स्पष्ट कीजिए ।

"Business ethics is both art and science" explain.

प्र.3 सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ एवं परिभाषा बताईए ।

Give the Meaning & Defination of Social Responsibility.

दीर्घ उत्तर प्रश्न

प्र.1 व्यापार के सामाजिक उत्तरदायित्वों की विस्तार में विवेचना कीजिए ।

Explain the Social Responsibility of Business.

प्र.2 व्यावसायिक नीतिशास्त्र के महत्व को समझाइये ।

Explain the significance of Business ethics.

प्र.3 "व्यवसाय में व्यक्तिगत लाभ के अतिरिक्त एक व्यवसायी के कुछ सामाजिक दायित्व होते हैं।" ये कौन से है? समझाइये ।

"In addition to the personal benefit in business a businessman has certain Social responsibility:" what are they? Explain.

8.5 उपयोगी पुस्तके/संदर्भ ग्रन्थ

1. प्रिंसिपल एण्ड प्रैक्टिस ऑफ मैनेजमेंट (लेखक एल. एम. प्रसाद, प्रकाशक: सुल्लान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली)
2. व्यावसायिक संगठन (लेखक - शर्मा, बंसल, राठौड, प्रकाशक: रमेश बुक डिपो, जयपुर)
3. आधुनिक व्यावसायिक संगठन (लेखक - जी.एस सुधा, प्रकाशक: शील सन्स जयपुर)

इकाई-9 : प्रबन्ध की महत्ता तथा कार्य

इकाई की रूपरेखा

9.1 परिचय

9.2 अर्थ एवं परिभाषा

9.3 प्रबन्ध का इतिहास

9.4 प्रबन्धक की विशेषताएँ या लक्षण/प्रकृति

9.5 प्रबन्ध का महत्व

9.6 प्रबन्ध का क्षेत्र

9.7 प्रबन्ध की सीमाएँ

9.8 प्रबन्ध के सिद्धान्त

9.9 प्रबन्ध के कार्य

9.10 सारांश

9.11 शब्दावली

9.12 अभ्यासात्मक प्रश्न

अतिलघुउत्तर प्रश्न

लघु उत्तर प्रश्न

दीर्घ उत्तर प्रश्न

9.13 उपयोगी पुस्तकें/संदर्भ ग्रन्थ

9.1 परिचय (Introduction)

वर्तमान समाज संगठनों व संस्थाओं का समाज (Society of Institutions) है । व्यक्ति अपने लक्ष्यों व आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न संस्थाओं पर निर्भर करता है, किन्तु यह प्रबन्धक ही है जो संगठनों को उत्पादक, उद्देश्यपूर्ण एवं कार्यशील बनाता है । (It is managers and management that make institutions perform)

प्रबन्धक संगठनात्मक जीवन की आधारभूत, समन्वयकारी एवं जीवन-उत्प्रेरक (Life Including) प्रक्रिया है । कून्ट्ज एवं ओ'डोनेल (Koontz and O'Donnell) लिखते हैं कि, " **प्रबन्ध से अधिक महत्वपूर्ण मानवीय क्रिया का सम्भवत: कोई क्षेत्र नहीं है"** (Perhaps there is no more important area of human activity the managing)"

केनेथ फेल्ड (Kenneth Feld) ने कहा है कि **"प्रबन्ध इस पृथ्वी पर सबसे महान कार्य है, क्योंकि इससे उत्पादन सम्भव होता है तथा उत्पादन से मानव संतुष्टि एवं कल्याण का कार्य प्रशस्त होता है ।" पीटर एफ. ड्रकर** (Peter F. Drucker) लिखते है कि, **"एक आवश्यक, विशिष्ट एवं प्रमुख संस्था के रूप में प्रबन्ध का प्रार्दुभाव समाज के इतिहास में एक केन्द्रीय घटना है । इस शताब्दी के संक्रातिकाल से ही कोई एक नयी संस्था, में निहित नहीं है निश्चित रूप से यह कार्य कवियों, लेखकों, संत-महात्माओं, फिल्मकारों, सिपाहियों अथवा राजनीतिज्ञों द्वारा भी नहीं किया जा सकता हैं"** । विकास का कार्य केवल प्रबन्धकों द्वारा ही किया जा

सकता है । **फ्रैंकलिन मूरे** (Franklin Moore) के अनुसार, "राजनीतिज्ञ प्राय: धन का उपयोग करते है, जबकि प्रबन्धक धन का सृजन करते है (Politicians usually consume whereas managers create wealth) ।"

वास्तव में, 'प्रबन्ध' तथा 'विकास' साथ-साथ हाथ मिलाकर चलते हैं । इसीलिए अक्सर यह कहा जाता है कि 'विकासशील राष्ट्र, न्यून-विकसित नहीं, वरन् अप्रबन्धित होते हैं (Developing countries are not under-developed, they are under-managed) । प्रबन्ध ही समृद्धि का मार्ग है (Management promotes prosperity) ।

9.2 अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions)

प्रबंध के अर्थ के बारे में लेखक एक मत नहीं है । ई. एफ. एल.ब्रेच (E.F.L. Brech) ने ठीक ही कहा है कि - "हमारे युग को सबसे आश्चर्यजनक बात शायद प्रबन्ध का आधारभूत अथवा विस्तृत महत्व होना नहीं है, वरन् इसके सम्बन्ध में हमारे सुदृढ़ ज्ञान का विस्मृत रूप से सीमित होना है ।

पीटर एफ ड्रकर (Peter F Drucker) लिखते है कि, " प्रबन्धक' तथा 'प्रबन्ध' पकड़ में न आने वाले शब्द है (The words 'manager' 'management' are slippery) । वे एक अन्य स्थान पर लिखते हैं कि "प्रबन्ध" असाधारण रूप से एक कठिन शब्द है । यह विशिष्टतः: अमेरिकन है और किसी अन्य भाषा में, यहां तक कि अंग्रेजी की अंग्रेजी भाषा में भी इसका रूपान्तरण कठिनाई से ही किया जा सकता है । यह एक कार्य (Function) को, किन्तु साथ ही एक विधा (Discipline) और अध्ययन के क्षेत्र (Field of Study) को भी बतलाता है ।"

वस्तुत: औपचारिक अध्ययन के लिए प्रबन्ध का विषय बहुत नया है । विभिन्न राष्ट्रों में इसका प्रयोग अपने-अपने दृष्टिकोणों, विश्वासों और धारणाओं के अनुसार किया जाता रहा है । प्रबन्ध की जटिल एवं अमूर्त प्रकृति के कारण भी इसके कई अर्थ प्रचलित हो गये है । 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उद्योगों का प्रबन्ध इंजीनियर्स किया करते थे, जिनके लिए प्रबन्ध का आशय वस्तु व यंत्रों की डिजाइनें तैयार करना व उत्पादन का अभिन्यास तैयार करना होता था । इस काल में लेखाकारों के लिए प्रबन्ध का अर्थ सांख्यिकी सूचनाओं तथ्यों व चिट्ठे के आधार पर संस्था की प्रगति का विवरण तैयार करना था, जबकि रसायनशास्त्रियो (Chemists) के लिए प्रबन्ध प्राथमिक रूप से सूत्रों (Formulae) व मिश्रणों (Mixtures) का विषय था । 1940 के पश्चात प्रबन्ध में 'मानव तत्व' (Human factors) को महत्व दिया जाने लगा ।

'प्रबन्ध' शब्द को संकीर्ण एवं व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता रहा है ।

(i) **संकीर्ण अर्थ में**, "प्रबन्ध का आशय अन्य लोगों से कार्य लेने की कला है" (Art to get others to perform) । यह सामान्य धारणा है कि प्रबन्धक दूसरों से कार्य

करवाते हैं तथा स्वयं कार्य से पृथक् रहते है (They no longer perform the work)।

(ii) **विस्तृत अर्थ में**, "प्रबन्ध से आशय निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय व्यवहार एवं क्रियाओं का निर्देशन करने से है ।" अर्थात् संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रबन्ध सामूहिक प्रयासों से नियोजन, निर्देशन एवं नियंत्रण की प्रक्रिया है ।

9.3 प्रबन्ध का इतिहास (History of Management)

प्रबन्धशास्त्र एवं उसके व्यवहार का जो स्वरूप आज हम देख रहे है वह निश्चित ही अनादि काल में तो नहीं रहा है, किन्तु यह भी विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि प्रबन्धकीय विचारो का आविर्भाव उस समय ही हो गया था जब मनुष्य ने जंगलों में भटकना छोडकर परिवार के साथ रहना सीखा था, अत: यह कहने तथा स्वीकार करने में कतई संकोच नही है कि प्रबन्ध की विचारधारा उतनी ही पुरानी है जितनी मानव सभ्यता ।

सम्भवत: जिस दिन मनुष्य ने जाने-अनजाने यह अनुभव किया होगा कि वह लोगों के साथ मिलकर समूह में अधिक कार्य कर सकता है, अधिक सुरक्षित रह सकता है, अधिक सुध पा सकता है, अधिक धन कमा सकता है, उसी दिन प्रबन्ध विचारधारा का जन्म हो गया होगा । कारण भी स्पष्ट है कि समूह के प्रयासों का नियोजन, संगठन, नियन्त्रण, निर्देशन तथा समन्वय करना पढ़ता है ताकि उनके प्रयासों से अधिकाधिक अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकें। शायद इसीलिए **"हैमैन" (Haimann)** ने लिखा भी है कि "मानवीय प्रयासों का समन्वय उतना ही पुराना है जितनी मानव जाति और इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध का इतिहास भी मानव जाति के इतिहास के ही समान बड़ा है ।"

वास्तव में प्रबन्ध के विधिवत् अध्ययन एवं शोध का क्रम प्रारम्भ हुए लगभग एक-डेढ शताब्दी का समय ही बीता है, इसीलिए **प्रो. ग्रे तथा स्मेल्टजर (Gray and semltzer)** ने ठीक ही लिखा है कि "प्रबन्ध का पुराना व्यवहार (कार्य) किन्तु ज्ञान की नई विधा है ।" प्रबन्ध के विधिवत् अध्ययन एवं शोध का इतिहास सन् 1800 के बाद से ही प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु सन् 1900 के बाद इस दिशा में कई उल्लेखनीय प्रयास हुए । प्रयासों की गति दिन-दुगुनी, रात-चौगुनी बढ़ी परिणामस्वरूप पिछले 5-6 दशकों में तो प्रबन्धशास्त्र का आशातीत विकास हुआ है ।

9.4 प्रबन्ध की विशेषताएँ या लक्षण/प्रकृति (Characteristics or Features or Nature of Management)

1. **प्रबन्ध एक विशिष्ट कार्य (Management is a Distinct Activity) : टैरी तथा फैंकलिन (Terry and Franklin)** ने भी लिख है कि "प्रबन्ध व्यक्ति नहीं है बल्कि एक विशिष्ट कार्य है ।" वस्तुत यह एक अत्यधिक चुनौतीपूर्ण एवं परिश्रमपूर्ण कार्य है।

यह असंगठित संसाधनों का उपयोग कर उपयोगी उत्पादों/सेवाओं का उत्पादन करने में सक्षम है ।

2. **मानवीय कार्य (Human activity) :** प्रबन्ध विशेषज्ञ **टैरी** ने ठीक ही लिख है कि "कम्प्यूटर प्रबन्ध में सहायता करते हैं, किन्तु ये मानव का स्थान नहीं ले सकते हैं ।" यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्ध कार्य में कुछ दशकों पूर्व तक पुरूष वर्ग का ही आधिपत्य था किन्तु अब महिलाओं का भी इस कार्य में योगदान बढ़ता जा रहा है ।
3. **मानवीय संगठनों के प्रबन्ध का कार्य (An Activity for Management of Human Organization) : कारलिसले (Carlisle)** के अनुसार, "प्रबन्ध मानवीय संगठनों से सम्बन्धित कार्य है ।" इसीलिए उन्होंने यह भी लिखा है कि पशुओं का प्रशिक्षण प्रबन्धक नहीं होता है, जबकि मनुष्यों का प्रशिक्षक प्रबन्धक हो सकता है ।
4. **औपचारिक समूहों में सम्पन्न कार्य (It take place in formal groups) :** प्रबन्ध कार्य औपचारिक समूहों में ही सम्पन्न किया जा सकता है । असंगठित व्यक्तियों के समूह केवल भीड़ होते है जिनका प्रबन्ध नहीं किया जा सकता है ।
5. **अन्य व्यक्तियों से कार्य करवाने का कार्य (An Activity for Getting things don through others) :** स्व. कूंज ने ठीक ही लिखा है कि औपचारिक रूप से संगठित लोगों से कार्य करवाने की कला का नाम ही प्रबन्ध है ।
6. **उद्देश्यपूर्ण या सोद्देश्य कार्य (Purposeful activity) : क्रीटनर (Kreitner)** ने लिखा है कि "उद्देश्यों के बिना प्रबन्ध प्रक्रिया गंतव्य स्थल को निर्धारित किये बिना की गयी यात्रा के समान है जो उद्देश्यहीन एवं निरर्थक होगी ।"
7. **वातावरणमूलक कार्य (Enviroment- oriented activity) :** प्रबन्ध कार्य संस्था के अन्दर एवं बाहर के वातावरण से प्रभावित होता है तथा उसे प्रभावित भी करता है । आन्तरिक वातावरण में कर्मचारी तथा साधन होते है जबकि बाह्य वातावरण में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा तकनीकी वातावरण होता है । अकेली संस्था या उसके प्रबन्धक बाह्य वातावरण को बहुत ही सीमित रूप में ही प्रभावित कर पाते है ।
8. **सृजनात्मक कार्य (Creative Activity) : ड्रकर** ने प्रबन्ध को " प्रत्येक संस्था का जीवनदायी तत्व" (Life-giving element) माना है ।
9. **सार्वभौमिक क्रिया (Universal Activity) :** प्रबन्ध एक सार्वभौमिक किया है । यह छोटे,बडे, धार्मिक, राजनीतिक, सैनिक, सामाजिक, व्यावसायिक आदि संगठनों में की जाने वाली क्रिया है ।
10. **सभी स्तरों पर व्याप्त क्रिया (Pervasive at all levels) :** प्रबन्ध प्रक्रिया संस्था के सभी स्तरों पर व्याप्त क्रिया है । दूसरे शब्दों में, उच्च प्रबन्धकों, मध्यमवर्गीय प्रबन्धकों तथा पर्यवेक्षीय प्रबन्धकों सभी के द्वारा की जाने वाली क्रिया है ।
11. **श्रेष्ठ व्यक्तियों का कार्य (An Activity of Elite Person) :** प्रबन्ध कार्य समाज के श्रेष्ठ या विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला कार्य है ।
12. **प्रबन्ध एक प्रक्रिया है (Management is a process) :**

(i) यह कार्यों की प्रक्रिया (Process of functions) है जिसमें प्रत्येक प्रबन्धक को क्रमश: नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण के कार्य करने पड़ते हैं ।

(ii) यह समन्वित एवं सतत प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक कार्य दूसरे कार्यों से समन्वय बनाये रखकर निरन्तर रूप में किया जाता है ।

(iii) यह एक सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज के लोगों द्वारा समाज के लिए समाज में रहकर पूरी की जाती है ।

(iv) यह एक गतिशील प्रक्रिया है जो समय, परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार परिवर्तित होती रहती है ।

(v) यह सार्वभौमिक प्रक्रिया है ये सभी कार्यों, सभी संगठनों, संगठनों के सभी स्तरों तथा सभी देशों में अपनायी जाती है ।

13. **पदानुक्रम व्यवस्था (Hierarchical system) :** प्रबन्धक दूसरों से कार्य करवाने के लिए पदानुक्रम व्यवस्था बनाते हैं । दूसरे शब्दों में प्रबन्धक दूसरों से कार्य करवाने हेतु अपने कुछ अधिकारों को अपने अधीनस्थों को सौंपते हैं । वे अधीनस्थ पुन: अपने कुछ अधिकारों को अपने अधीनस्थों को सौंपते हैं । फलतः प्रत्येक अधीनस्थ अपने अधिकारी के प्रति उत्तरदायी भी बन जाता है । इस प्रकार संस्था के प्रत्येक स्तर पर अधिकार एवं दायित्व की श्रृंखला (अर्थात आदेशों की श्रृंखला or Chain of Commands) का निर्माण हो जाता है ।
14. **सामान्य सिद्धान्त (General principles) :** ये सिद्धान्त विभिन्न शिक्षाविदों एवं प्रबन्धकों ने गहन शोध एवं अनुभव के आधार पर प्रतिपादित किये हैं ।
15. **निर्णय (Decision-making) :** प्रबन्ध की एक विशेषता यह है के सभी प्रबन्धकों को सदैव कोई न कोई निर्णय करना पड़ता है ।

    पीटर ड्रकर (Peter Drucker) ने इसलिए लिख भी है कि "प्रबन्धक जो भी करता है निर्णयन द्वारा ही करता है ।"
16. **नेतृत्व (Leadership) :** प्रत्येक प्रबन्धक में नेतृत्व करने की क्षमता होनी आवश्यक है । इस गुण के होने पर प्रबन्धक की सफलता में कोई सन्देह नहीं रह जाता है ।
17. **समन्वय प्रबन्ध का सार (Coordination is the essence of management) :** प्रबन्ध के अध्ययन एवं व्यवहार के लिए यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि समन्वय प्रबन्ध का कार्य नहीं है बल्कि यह तो प्रबन्ध का सार है ।
18. **उत्पादकता के सरोकार (Concerned with productivity) :** प्रबन्धक अपने संसाधनों की उत्पादकता से सरोकार रखता है, अत: प्रत्येक प्रबन्धक संस्था के संसाधनों का मितव्ययिता से उपयोग करके कुशलता प्राप्त करता है तथा संसाधनों का इस प्रकार उपयोग करता है कि उनसे इच्छित परिणाम या प्रभाव प्राप्त/उत्पन्न किये जा सकें ।
19. **अदृश्य शक्ति (Intangible force) :** टेरी ने लिखा है कि प्रबन्ध एक अदृश्य शक्ति है । इसे देखा एवं छुआ नहीं जा सकता, किन्तु इसके प्रयासों के परिणामों के आधार पर इसकी उपस्थिति का स्वत: अनुमान हो जाता है ।

20. **प्रबन्ध कला एवं विज्ञान का संगम (Management an Amalgamation of Art and Science) :** प्रबन्ध एक ऐसा कार्य है जो कला के साथ विज्ञान भी है । यह कला है क्योंकि इसमें ज्ञान एवं चातुर्य का उपयोग किया जाता है । दूसरी ओर, प्रबन्ध विज्ञान भी है क्योंकि इसका व्यवस्थित ज्ञान उपलब्ध है जिसमें कारण एवं परिणाम का सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि यह वह कला है हो वैज्ञानिक आधार पर बनाये गये सिद्धान्तों को अपनाती है, अत: यह कला एवं विज्ञान का संगम है
21. **प्रबन्ध एक पेशा बन रहा है (Management is becoming a profession) :** प्रबन्ध एक पेशा बनता जा रहा है, क्योंकि इसमें पेशे की सभी विशेषताएँ विकसित होतीं जा रहीं हैं । इसके व्यवस्थित ज्ञान का भण्डार हो गया है जिनमें कई प्रबन्धकीय सिद्धान्त, अवधारणाएँ एवं विचारधाराएँ सम्मिलित हैं ।
22. **प्रबन्ध बहु-विषयक (Multi-disciplinary) : प्रो मेसी (Massie)** के अनुसार, "प्रबन्ध विविध विषयों द्वारा विकसित ज्ञान तथा विचारधाराओं के समन्वय एवं व्यवहार का विषय है ।"
23. **स्वामित्व एवं प्रबन्ध (Ownership and Management) :** वृहद्स्तरीय निगमित व्यावसायिक संगठनों में प्राय: स्वामित्व एवं प्रबन्ध पृथक-पृथक व्यक्तियों के हाथों में होता है, किन्तु इनमें भी प्राय: यह देखने में आता है कि उच्च प्रबन्धकीय पदों (संस्था अध्यक्ष, प्रबन्ध संचालक आदि) पर स्वामी (नियन्त्रण पूंजी के धारक) ही कार्य करते है। संस्था के नीचे के स्तरों पर प्रबन्धक पद पर कार्यरत व्यक्ति प्राय: स्वामियों के परिवार से असम्बद्ध होते है । छोटे एवं मध्यम स्तर के संगठनों में तो प्रवर्तक या साहसी ही स्वामी, (अधिकांश पूजी के धारक) प्रमुख कार्यकारी प्रबन्धक होते है । संगठन के निचले स्तर पर नियुक्त प्रबन्ध भी प्राय: सम्बन्धित व्यक्ति (Relatives) ही होते है ।

9.5 प्रबन्ध का महत्व (Importance of Management)

प्रबन्ध का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही दिखायी देता है । यह व साधन है जो साधनों की उत्पादकता, कर्मचारियों की आय, उपभोक्ताओं की सन्तुष्टि में अभिवृद्धि कर सम्पूर्ण संस्था की सफलता में योगदान देता है । संक्षेप में, आधुनिक युग में प्रबन्ध की भूमिका बहु-आयामी है । यह व्यावसायिक संस्था के लिए ही नहीं बल्कि समाज एवं राष्ट्र के लिए भी महत्वपूर्ण शक्ति है, अत: इसके महत्व को भी हम निम्नलिखित तीन वर्गो में बाँटकर अध्ययन करें तो श्रेयस्कर होगा:

- व्यावसायिक संस्थाओं के लिए महत्व
- समाज के लिए महत्व, तथा
- राष्ट्र के लिए महत्व ।

व्यावसायिक संस्थाओं के लिए महत्व :

पीटर एफ. ड्रकर ने व्यवसाय में प्रबन्ध के महत्व को उजागर करते हुए लिखा है कि "प्रबन्ध प्रत्येक व्यवसाय का गतिशील जीवन दायी अंग है ।" ("Management is the dynamic, life-giving element of every business." Peter F.Drucker) उसकी भूमिका तथा महत्व को नीचे के कुछ शीर्षकों में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

1. **उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं का निर्धारण (To determine objectives and priorities) : स्टोन तथा वेंकल (Stone and Wankel)** का कहना है कि "चूँकि साधन सदैव सीमित होते हैं, अत: प्रबन्धक को साधनों, लक्ष्यों तथा आवश्यकताओं में संतुलन स्थापित करना पड़ता है । वे प्रबन्धक विभिन्न प्रतिस्पर्द्धी उद्देश्यों में संतुलन स्थापित करने और उद्देश्यों की प्राथमिकताओं को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है ।"
2. **साधनों का अनुकूलतम उपयोग (Optimum Utilization of Resources) : उर्विक तथा ब्रैच (Urwick and Brech)** का तो यहाँ तक कहना है कि "कोई भी विचारधारा, कोई भी वाद या कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के उपयोग तथा न्यूनतम प्रयासों से अधिकतम उत्पादन नहीं करवा सकता है । यह तो केवल अच्छे प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है " स्पष्ट है कि प्रबन्ध वह साधन है जो न्यूनतम संसाधनों एवं प्रयासों से अधिकतम उत्पादन तथा सफलता के लक्ष्यों की पूर्ति में महान योगदान दे सकता है ।
3. **संख्या की सफलता या लक्ष्यों की प्राप्ति (Sucess or achievement of Objectives of the Enterprise) :** अच्छा प्रबन्ध सदैव ही सोद्देश्य या उद्देश्यपरक (Objectives or goal-oriented) होता है । कुशल प्रबन्ध से ही संस्था की सफलता को सुनिश्चित किया जा सकता है ।
4. **प्रतिस्पर्द्धा पर विजय (Overcoming competition) :** प्रबन्ध विशेषज्ञ टैरी ने एक अध्ययन के आधार पर यह लिखा है कि "प्रत्येक 100 नयी स्थापित की जाने वाली संस्थाओं में से 50 संस्थाएँ पहले दो वर्षों में ही लुप्त हो जाती हैं तथा पॉच वर्षों की समाप्ति पर केवल एक तिहाई संस्थाओं का ही अस्तित्व रह पाता है ।" भारत में आज अनेक औद्योगिक इकाइयाँ रूग्ण है । रिजर्व बैंक के अध्ययन से यह तथ्य सामने आया है कि आधे से अधिक इकाइयाँ कु प्रबन्ध (Mismanagement) के कारण रूग्ण या बन्द हुई हैं ।
5. **प्रभावकारी संगठन संरचना का निर्माण (Creating Effective Organization Structure) : एलेन (Allen)** ने लिखा है कि "सुदृढ संगठन संरचना संस्था के सफलतापूर्वक संचालन में महान् योगदान दे सकती है ।" वास्तव में किसी भी उपक्रम के सफल संचालन में महान् योगदान दे सकती है ।"
6. **मानवीय संसाधनों का विकास (Human resources development) :** कुशल प्रबन्ध का महत्व इसलिए भी है कि मानवीय संसाधनों का अधिकतम विकास करने में सक्षम है । प्रबन्ध के इसी महत्व को समझाते हुए शायद अमेरिकन प्रबन्ध संघ के पूर्व

अध्यक्ष लारेन्स एप्पले (Lawrence Appley) ने लिखा है कि प्रबन्ध मनुष्यों का विकास है ...." ("Management is the Development of People...")

7. **सुदृढ औद्योगिक सम्बन्धों की स्थापना (Establishing Sound Industrial Relations) :** "सुदृढ़ औद्योगिक सम्बन्ध संस्था की सफलता की आधारशिला है ।" प्रभावकारी प्रबन्धक कर्मचारियों की शिकायतों समस्याओं तथा आपसी विवादों को निपटाकर सुदृढ़ श्रम सम्बन्धों की स्थापना कर सकता है ।
8. **उत्पादकता में अभिवृद्धि (Invigorate productivity) : रू तथा बिआर्स (Rue and Buars)** के अनुसार, "उत्पादकता पर सर्वाधिक प्रभाव डालने वाला एक तत्त्व दक्ष या कुशल प्रबन्ध ही है ।"
9. **नवीन तकनीकों तथा प्रचलित विधियों में समन्वय (Coordinates between new technology and prevailing methods) : डी.सी.एम. समूह** के **डॉ. विनय भरतराम** ने उचित ही कहा है कि "तकनीक (Technology) के विकास के साथ-साथ प्रबन्ध का महत्व बढ़ता जा रहा है।"
10. **परिवर्तनों का प्रेरक एवं माध्यम (A catalyst and instrument of change) : द्रेवाथा तथा न्यूपोर्ट** का कथन है कि "प्रबन्ध हमारे सम्पूर्ण वातावरण का एक महत्वपूर्ण अंग है । यह वातावरण से प्रभावित नहीं होता है बल्कि यह वह शक्ति है जो उसे भी (वातावरण को) परिवर्तित करता है ।"संक्षेप में कुशल प्रबन्ध सदैव ही समयानुकूल परिवर्तन करता है तथा परिवर्तनों की प्रेरणा देता है ।
11. **संकटों का निवारण (Easy handling of crises) :** आधुनिक व्यावसायिक संस्थाओं को एक नही अनेक संकटों का सामना करना करना पड़ता है । ऐसे में कभी-कभी तो प्रबन्धक 'संकट मोचक' ही बनकर रह जाता है । विद्युत संकट, पेट्रोल संकट, कच्चे माल का संकट, कर्मचारी संकट, विदेशी मुद्रा संकट, राजनीतिक (सरकार की नीतियों का) संकट, आर्थिक (पूंजी) संकट आदि कई संकट संस्था में उपस्थित होते रहते है । कुशल प्रबन्ध इन सभी संकटों का समाधान खोजकर संस्था को निर्बाध रूप में संचालित करता है । अकुशल प्रबन्ध इन समस्याओं से संस्था की तालाबन्दी को रोक भी नहीं पाता है ।
12. **सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह (Fulfilling social responsibilities):** कुशल प्रबन्ध सामाजिक रूप से संवेदनशील होता है, अत: वह समाज के प्रति अपने दायित्वों का भली प्रकार निर्वाह कर सकता है ।
13. **संस्था की ख्याति (Goodwill of the institutions) : किलियन** ने ठीक ही लिखा है कि "प्रभावकारी प्रबन्ध का महत्व केवल इसलिए ही नहीं है कि वह संस्था का सफल संचालन कर सकता है बल्कि इसलिए भी कि वह विनियोजकों, बैंकरों, ग्राहकों तथा कर्मचारियों का संस्था की ख्याति में विश्वास भी उत्पन्न करता है ।"

सामाजिक दृष्टि से महत्व :

अमेरिका के पूर्व. राष्ट्रपति स्व. कैनेडी ने प्रबन्ध के सामाजिक महत्व को स्पष्ट करते हुए बहुत ही सटीक लिख था कि "हमारे समाज के मानवीय विकास में प्रबन्ध की क्रान्तिकारी भूमिका है। यह मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के कारगर उपयोग से जीवन-स्तर में सुधार करने की हमारे युग की महान् चुनौती को समझ सकता है ।"

1. **समाज के विभिन्न वर्गो के हितों में सामंजस्य (Integrates Interests of various sections of society) : लूथर गुलिक (Luther Gulick)** के अनुसार, " सभी संगठन कुछ सामाजिक समूहों के प्रति उत्तरदायी होतें हैं । प्रबन्धक उन समूहों के साथ सम्बन्धों की कड़ी का कार्य करते है ।"
2. **वस्तुओं तथा सेवाओं की उपलब्धि** (Provides goods and services) : आज जो वस्तुएँ तथा सेवाएँ हम उपयोग में लाते है वे सब कुशल प्रबन्ध के अभाव में केवल एक स्वप्न ही होती है ।
3. **रोजगार की उपलब्धि** (Provides employment) : कुशल प्रबन्ध समाज के लोगों के लिए निरन्तर रोजगार के अवसर उपलब्ध करने में सक्षम होते हैं ।
4. **जीवन-स्तर में सुधार** (Improves standards of living) : **ट्रेवाथा तथा न्यूपोर्ट** का कहना है कि "प्रबन्ध किसी भी राष्ट्र के जीवन स्तर में महत्वपूर्ण योगदान देता है । टाइम्स ऑफ इण्डिया समूह के प्रबन्ध संचालक डॉ. राम तरनेजा ने लिखा है कि "प्रबन्ध का उद्देश्य जनता के जीवन को ऊँचा करते हुए सम्पूर्ण समाज के जीवन की किस्म को सम्पन्न बनाना है ।"
5. **सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा** (Protects Social- cultural values): कुशल प्रबन्ध ही देश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा भी कर सकता है । वह समाज की मान्यताओं, परम्पराओं तथा सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखते हुए अपने व्यावसायिक लक्ष्यों की पूर्ति में महान योगदान देता है ।
6. **सामाजिक उत्थान में योगदान (Contributes the social upliftment) :** दुनिया के सभी देशों में अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं, जैसे- गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी, जातीय, छुआछूत (अस्पृश्यता), रंगभेद, अशिक्षा, अज्ञानता आदि । कुशल प्रबन्ध इन सामाजिक समस्याओं के निवारण में सहयोग करके सामाजिक उत्थान में योगदान देता है ।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में महत्व

विश्वविख्यात प्रबन्ध विशेषज्ञ पीटर ड्रकर ने लिखा भी है कि "द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जहाँ भी द्रुत गति से आर्थिक एवं सामाजिक विकास हुआ है यह प्रबन्ध एवं प्रबन्धकों के द्वार विकास के लिए किये गये सुव्यवस्थित एवं उद्देश्यपूर्ण कार्यों के परिणामस्वरूप ही हुआ है ।" कुशल प्रबन्ध का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में योगदान का हम निम्न कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है ।

1. **भौतिक संसाधनों का सदुपयोग** (Proper utilization of physical resources) : हिन्दुस्तान लीवर लि. के पूर्व अध्यक्ष पी. एल. टण्डन (P.L.Tandon) ने लिखा भी है

कि "हम देख चुके है कि केवल श्रम,पूंजी तथा कच्चे माल से स्वत: आर्थिक विकास नहीं हो जाता है । इसके लिए प्रबन्धकीय ज्ञान की आवश्यकता होती है । जहाँ-जहाँ साधनों का अच्छा प्रबन्ध हुआ है वही परिणाम भी अच्छे निकले हैं ।

2. **मानव संसाधनों का सदुपयोग** (Proper utilization of Human Resources) : पीटर ड्रकर इस प्रकार की भूमिका से बहुत आश्वस्त है । वे लिखते है कि "विकास आर्थिक सम्पदा से अधिक मानव शक्तियों पर निर्भर करता है और मानव शक्तियों का सृजन करना प्रबन्ध का कार्य है । प्रबन्ध इसे गति प्रदान करता है जिसके परिणामस्वरूप विकास होता है ।"
3. **पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन** (Encourages capital formation) : सभी देशों में पूंजी निर्माण होता है, किसी में कम तो किसी में ज्यादा । विकासशील राष्ट्रों मे पूंजी निर्माण की दर कम होती है । इसका कारण यह है कि वही के लोगों की आय कम होने से बचत भी कम होती है । दूसरी ओर बचत के विनियोग के रास्ते भी सीमित ही होते है । कुशल प्रबन्ध विनियोग के अवसर उपलब्ध करता है ।
4. **राष्ट्रीय योजनाओं में योगदान** (Contribution to national planning) : कुशल प्रबन्ध राष्ट्रीय योजनाओं के लक्ष्यों की प्राप्ति में भी महत्वपूर्ण रूप से योगदान देता है । यह सामाजिक योजनाओं तथा शिक्षा, रोजगार, जनसंख्या नियन्त्रण, स्वास्थ्य आदि में योगदान देता है ।
5. **संतुलित आर्थिक विकास** (Balanced Economics development) : विश्व के सभी देशों में आर्थिक विकास एक समान नहीं हुआ है । वे पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों के लिए सहयोग करके वहॉ विकास के द्वार खोल सकते हैं ।
6. **गरीबी उन्मूलन** (Eliviation of poverty) : दुनिया में कुछ देश ऐसे भी है जिन्हें विकासशील कहा जाता है । ऐसे देशों में कुशल प्रबन्ध की आवश्यकता सर्वाधिक है । वे वहाँ की समस्याओं के निराकरण के लिए अपने प्रबन्धकीय कौशल का उपयोग कर सकते हैं । पीटर ड्रकर का मानना है कि व्यावसायिक प्रबन्ध की उपलब्धियों में हम युगों से मानव जाति के भाग्य की निर्धनता की चक्की में हो रही पिसाई को रोक सकते हैं ।
7. **देश की समृद्धि** (Prosperity of the Nation) : महान अर्थशास्त्री शुम्पीटर ने प्रबन्ध एंव साहसी को विकास के इन्जिन (Engine of growth) की संज्ञा दी है, वह देश के साधनों का सदुपयोग करता है रोजगार में अभिवृद्धि करता है, पूंजी तथा मानवीय संसाधनों को उत्पादक कार्यो में लगाता है । इन सबका अतन्तोगत्वा परिणाम देश की समृद्धि ही तो होता है ।

9.6 प्रबंध का क्षेत्र (Scope of Management)

प्रबन्ध के क्षेत्र का हम निम्नलिखित शीर्षकों में अध्ययन करेंगे ।

(1) **उत्पादन प्रबंध** (Production Management) : इस क्षेत्र में कार्य करते हुए प्रबंधक को यह निर्णय करना पड़ता है कि उत्पादन किस प्रकार करवाया जाए, किस वस्तु का

उत्पादन करवाया जाए, संयंत्र की स्थापना किस प्रकार करवाई जाऐ, वस्तुओं के उठाने व रखने के सम्बन्ध की व्यवस्था किस प्रकार की हो, आदि-आदि ।

(2) **विपणन प्रबंध** (Marketing Management) : इस कार्य-क्षेत्र में कार्य करते हुए प्रबंधकों को बाजार अनुसंधान करना पड़ता है । बाजार अनुसंधान के द्वारा ग्राहकों की इच्छाओं के ज्ञात करते है और उसी प्रकार के माल का उत्पादन करवाते है ।

(3) **वित्तीय प्रबंध** (Financial Mangement) : वित्त व्यवसाय का जीवन रक्त (Life blood) है । वित्त के बिना व्यवसाय की जीवन चर्या समाप्त हो जाती है । अब प्रबंध को कई वित्तीय कार्य करने पड़ते है । ये वित्तीय कार्य व्यवसाय की स्थापना के पूर्व से लेकर समाप्ति के बाद तक करते है ।

(4) **क्रय प्रबंध** (Purchase Management) : प्रबंध को क्रय प्रबन्ध का कार्य करना पड़ता है । उसे यह निश्चित करना पड़ता है कि माल कहां से खरीदना है, कितना खरीदना है, किस किस्म का खरीदना है, कब-कब खरीदना है, आदि आदि । इस हेतु प्रबंधक को अपनी संस्था में अच्छे क्रय विशेषज्ञों की भी नियुक्ति करनी पड़ती है, जो अच्छी से अच्छी किस्म का मूल्य पर खरीदने का प्रयास करते है ।

(5) **लेखाकर्म प्रबंध** (Accounting Management) : व्यवसाय में एक पुरानी कहावत है ' पहले लिख और पीछे दे' अर्थात प्रत्येक सौदे को लिखना उचित माना गया है । लेखाकर्म भी कार्यालय कार्य की सीमा में ही आता है, किन्तु यह कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण हो गया है इसलिए हमने पहले अलग से विवेचन कर दिया है ।

(6) **कार्यालय प्रबंध** (Office Management) : कार्यालय कार्यों का महत्व विशिष्टीकरण के परिणामस्वरूप विशेष रूप से बढ़ा है । जब प्रत्येक विशिष्ट कार्य के लिए विशेषज्ञ नियुक्त कर दिया जाता है तब उन सब विशेषज्ञों के कार्यो के समन्वय की समस्या उत्पन्न होती है । इसके लिए व्यवसाय के अध्यक्ष की नियुक्ति की जाती है जिसका कार्यालय काफी विस्तृत होता है जिसमें कई लिपिक कार्य करते हैं, कई समय तथा श्रम बचत के साधनों (time and labour saving device) का प्रयोग किया जाता है ।

(7) **अनुरक्षण प्रबंध** (Office Management) : संगठन में उत्पादन और अन्य सभी कार्यों में मशीनें तथा अन्य यंत्र-प्रयोग में लाये जाते हैं एवं भवन आदि बनाए जाते हैं । इन सभी की निरंतर देख-रेख को आवश्यकता पड़ती हैं । अत: प्रबन्धकों को इनकी देख-रेख के लिए अनुरक्षण प्रबन्ध विभाग खोलने की आवश्यकता पड़ती है ।

(8) **यातायात प्रबंध** (Transport Management) प्रत्येक संस्था में माल आता एवं जाता ही रहता है । कुछ बड़ी संस्थाओं में इसकी मात्रा एवं क्रम अत्यधिक होता है, अत: उन्हें माल के आवागमन के लिए पृथक् से प्रबन्ध व्यवस्था करनी पडती है ।

(9) **वातावरण प्रबंध** (Environment Management) ; आज प्रबन्धक भी सम्पूर्ण समाज के वातावरण से प्रभावित है । उन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक वातावरण के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान देना पड़ता है उन्हें समाज के प्रति अपने दायित्वों को समझना एवं निभाना पड़ता है । देश की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति के अनुकूल

अपनी नीतियाँ निर्धारित करनी पडती है, अत: संस्था में वातावरण प्रबन्ध एक महत्वपूर्ण प्रबन्धकीय कार्य होता जा रहा है ।

(10) **समय प्रबंध** (Time Management); विकसित राष्ट्रों में वर्तमान समय में प्रबन्धकों को कर्मचारियों की वित्तीय समस्या नहीं सता रही है, बल्कि उनके समक्ष समय की सबसे बड़ी समस्या है । उन्हें कम समय में ही सभी व्यावसायिक पहलुओं पर ध्यान देना पड़ता है । आज उनके समक्ष उनके समय के समुचित बंटवारे तथा उपयोग की समस्या है । समय सीमित है तथा कार्य अनेक है, अत: आधुनिक प्रबन्धक इस और अत्याधिक ध्यान देने लगे है ।

(11) **विकास प्रबंध** (Development Management): आज प्रतिस्पर्द्धा का युग है प्रत्येक व्यवसायी अपनी संस्था को विकसित कर प्रतिस्पर्द्धा में आगे निकल जाना चाहता है । विकास वर्तमान समय की मांग है । प्रत्येक प्रबन्धक की ख्याति तथा प्रगति का मूल्यांकन उसकी संस्था के विकास से किया जाता है, फलतः प्रत्येक प्रबन्धक अपने उत्पादों की संख्या बढाने का प्रयास करता है, अपने बाजार क्षेत्र को बढ़ाने के अवसर खोजता है । इस हेतु उसे विकास प्रबन्ध संबंधी अनेक कार्य करने या करवाने पड़ते है।

इस प्रकार स्पष्ट है किए प्रबन्ध का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है । आशा है भविष्य में इसका क्षेत्र और भी दिन दुगुना रात चौगुना बढ़ता चला जायेगा ।

9.7 प्रबंध की सीमाएं (Limitation of Management)

प्रबन्ध एक कला तथा सामाजिक विज्ञान है । इसमें विज्ञान कम तथा कला का भाग अधिक है। यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में प्रबन्ध के सिद्धांतों को सदैव समान रूप से लागू किया जा सकता है, किन्तु फिर भी इसकी कुछ सीमाएं है प्रबन्ध एवं इसके सिद्धांत प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते हैं ये निम्नलिखित है:

1. **परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आवश्यक है :** प्रबन्ध के सिद्धांतों को संस्थाओं की प्रकृति के अनुसार परिवर्तित करके ही प्रयोग करना चाहिए । जिस रूप में प्रबंध सिद्धांतों का प्रयोग व्यावसायिक संस्थाओं पर किया जाता है उसी रूप में गैर व्यावसायिक संस्थाओं जैसे चर्च, मन्दिर, मस्जिद आदि में प्रयोग नहीं किया जा सकता है । व्यावसायिक एवं गैर-व्यावसायिक संस्थाओं में नियम तो वे ही प्रयोग किए जायेंगे किन्तु उनमें परिस्थितियों के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन आवश्यक है ।
2. **प्रबन्ध के सिद्धांत स्थायी नहीं है:** प्रबंध के सिद्धांतों की दूसरी सीमा यह है कि ये स्थायी नहीं होते हे । ये सिद्धांत परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तित किए जा सकते है । एक युग में जो सिद्धांत काफी प्रचलित हों, वे ही सिद्धांत एक अन्य युग में प्रचलित रहें, यह आवश्यक नहीं है ।
3. **व्यावसायिक संगठनों में समानता का अभाव:** आधुनिक समय में सभी व्यावसायिक संगठनों की प्रकृति समान प्रकार की नहीं है । उनके प्रारूप एवं कार्य संचालन की विधि में पर्याप्त अन्तर विद्यमान है । इतना ही नहीं, एक देश की व्यावसायिक परिस्थितियां

दूसरे देश की व्यावसायिक परिस्थितियों से भी भिन्न होती है, अत: कई बार प्रबन्ध के वे सिद्धांत, जो एक स्थान एवं एक व्यावसायिक संगठन. के लिए उपयुक्त है, दूसरे देश एवं संगठन में अनुपयुक्त सिद्ध हो जाते है ।

4. **प्रबन्ध मानव -व्यवहार से प्रभावित होता है:** प्रबन्ध करने वाले तथा जिनका प्रबन्ध किया जाता है, वे सभी मनुष्य होते है, अत: प्रबन्ध पर मानव-व्यवहार का प्रभाव होना स्वाभाविक ही है । मानव नवीन रीतियों एवं विधियों से कार्य करने की सोचता है । इससे प्रबन्ध कला काफी प्रभावित होती है । ऐसी दशा में प्रबन्ध के सिद्धांत लागू हों, यह आवश्यक नहीं है । इसीलिए ओलीवर शेल्डन (Oliver Sheldon) के विचार उपयुक्त ही जान पड़ते हैं कि ' 'जहाँ मनुष्यों का प्रश्न है, प्रबन्ध के सिद्धांत बहुत अधिक रद्दी कागज के बराबर हो सकते है ।
5. **प्रबन्धकीय जटिलता में वृद्धि:** आधुनिक समय में व्यावसायिक प्रबन्ध में जटिलताएं बढ़ती जा रही है । प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ जाने के कारण ये और भी जटिल होती जा रही हैं, अत: ऐसी परिस्थितियों में व्यवसायियों को कई बार सिद्धांतों से हटकर कार्य करना पड़ता है ।
6. **प्रबन्ध मौद्रिक प्रतिफलों से प्रभावित होता है:** व्यवसाय का उद्देश्य लाभ कमाना होता है अत: प्रबन्धक को वे ही क्रियाएं विशेष रूप से करनी पड़ती है जो धनोपार्जन की दृष्टि से उचित हो । इस प्रक्रिया में कई बार प्रबन्ध के सिद्धांतों को ताक पर रख दिया जाता है और किसी अन्य विधि द्वारा ही प्रबंध किया जाता है ।
7. **संस्कृति में अन्तर :** सभी देशों में समान प्रकार की संस्कृति नहीं पाई जाती है उनकी संस्कृति के अनुरूप ही प्रबन्ध के सिद्धांत बनते है । गौन्जालेज तथा मैकमिलन ने एक अध्ययन करके ज्ञात किया कि प्रबन्धकीय दर्शन संस्कृति से प्रभावित होता है तथा अमरीकी प्रबन्ध दर्शन सब जगह समान रूप से मान्य नहीं है । इसी प्रकार अन्य कई विद्वानों का मत है कि संस्कृति के अनुसार भी प्रबन्ध के सिद्धांत बदल जाते है । फेयोल का मत है कि 'प्रबन्ध के सिद्धांतों के प्रयोग को सांस्कृतिक परम्पराएं, आर्थिक विकास का स्तर तथा सरकारी नीतियां भी प्रभावित करती है ।"
8. **प्रबन्ध नौकरशाही को प्रोत्साहन देता है:** प्रबंध दूसरे व्यक्तियों से कार्य करवाते है । इससे नौकरशाही की भावना बढ़ती है जो प्रबंध के सिद्धांतों को व्यर्थ बना देती है ।

9.8 प्रबन्ध के सिद्धान्त (Principles of Management)

(1) **कार्य (श्रम) विभाजन** (Division of Labour) : व्यक्ति प्रत्येक कार्य करने में दक्ष नहीं होता है, इसके अतिरिक्त उसके पास सीमित समय होता है, अत: सम्पूर्ण कार्य को अनेक भागों में विभाजित किया जाना चाहिए तथा प्रत्येक भाग को विशिष्ट योग्यता वाले को सौंप देना चाहिये ।

(2) **अधिकार एवं दायित्व का सिद्धान्त** (Principle of Authority & Responsibility): संगठन में प्रत्येक प्रबन्धक को दायित्वों के अनुपात में ही अधिकार दिये जाने चाहिये ।

(3) **अनुशासन का सिद्धान्त** (Principle of Dicipline): फेयोल के अनुसार: discipline is what leaders make it"

(4) **आदेश की एकता का सिद्धांत** (Principle of Unity of Command) : एक कर्मचारी को केवल एक ही पर्यवेक्षक से आदेश प्राप्त होने चाहिए । A person cannot serve two boses at the same time.

(5) **समानता का सिद्धान्त** (Principle of Equality) : समान कार्य तथा उद्देश्यों के लिए एक अधिकारी एंव एक ही योजना " (One head one plan) होनी चाहिए ।

(6) **व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामान्य हित को वरीयता का सिद्धान्त** (Subordination of Individual interst to the general interest) : प्रत्येक कर्मचारी को यदि व्यक्तिगत हितों सामान्य हितों में संघर्ष हो तो व्यक्तिगत हितों का समर्पण कर देना चाहिये ।

(7) **कर्मचारियों के पारिश्रमिक का सिद्धांत** (Principle of Remuneration of Personnel): कर्मचारियों को उचित पारिश्रमिक दिया जाना चाहिये । Remuneration should be fair and it should be a source of satisfaction to each employee.

(8) **केन्द्रीकरण का सिद्धांत** (Principle of Centralization) : जब निर्णय का अधिकार उच्च प्रबन्धकों के हाथ होता है तो उस स्थिति को Centralization कहते हैं, इसके विपरीत अधिकार अधीनस्थों के हाथों में होता है तो उस स्थिति को विकेन्द्रीकरण (Decentralistion) कहते है ।

(9) **सोपान श्रृंखला :** (Scalar chain): प्रत्येक संगठन में उच्च प्रबन्धक से लेकर निम्नतम स्तर के प्रबन्ध के बीच अधिकारों की अखण्ड धारा बहती रहती है, अत: आदेशों के देने तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए सामान्यत: इसी धारा या मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ।

(10) **व्यवस्था का सिद्धान्त** (Principle of Order) : प्रत्येक व्यक्ति तथा वस्तु की उपयुक्त व्यवस्था की जानी चाहिए ।

(11) **निष्पक्षता का सिद्धान्त** (Ptinciple of equity) : प्रबन्धकी को अपने कर्मचारियों के साथ उचित निष्पक्ष, समता एवं दयालुता का व्यवहार करना चाहिये ।

(12) **उद्देश्य का सिद्धान्त** (Principle of objective) : कूंट्ज तथा ओ'डोनेल इस सिद्धान्त का सार प्रकट करते हुए लिखते है कि " संम्पूर्ण संगठन तथा उसके प्रत्येक विभाग को संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में योगदान देना चाहिए ।" वास्तव में यह सिद्धान्त यह कहता है कि प्रभावकारी प्रबन्धक के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण संगठन तथा उसके प्रत्येक विभाग के उद्देश्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किये जाने चाहिए । इसके अतिरिक्त, संगठन के प्रत्येक सदस्य को इन उद्देश्यों की जानकारी दी जानी चाहिए तथा प्रत्येक सदस्य के प्रयास संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान देने वाले होने चाहिए ।

(13) **नियोजन का सिद्धान्त :** (Principle of Planning): प्रबन्ध का यह सिद्धान्त यह बताता है कि भविष्य में किये जाने वाले कार्यों को पहले से ही निर्धारित कर लेना चाहिए । इससे संस्था के लक्ष्यों को अधिक निश्चितता एवं निश्चिन्तता से पूरा किया जा सकता है ।

(14) **अपवाद का सिद्धान्त** (Principle of exception) : टेलर के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था । यह सिद्धान्त यह कहता है कि किसी भी उच्च अधिकारी या प्रबन्धक को अपने अधीन अधिकारी या प्रबन्धक के दैनिक कार्यो तथा निर्णयों में सामान्यत: हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । उन्हे स्वतन्त्र रूप से अपने आप अपने कार्य तथा निर्णय करने देना चाहिए । केवल असामान्य एवं अपवाद जनक परिस्थितियों में ही उनके दैनिक कार्यो में हस्तक्षेप करना चाहिए । उच्च अधिकारियों को उन परिस्थितियों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए जबकि वे कार्य या निर्णय अधीनस्थों के अधिकार क्षेत्र से बाहर हों । वे तब भी हस्तक्षेप कर सकते है जबकि कार्य या निर्णय इतने महत्वपूर्ण हो कि यदि हस्तक्षेप न किया गया तो संस्था को असामान्य हानि हो सकती हों ।

(15) **नियन्त्रण के विस्तार का सिद्धान्त** (Principle of 'span of control') : नियन्त्रण के विस्तार से तात्पर्य कर्मचारियों की उस संख्या से है जो एक अधिकारी के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में कार्य करती है । नियन्त्रण के विस्तार का सिद्धान्त यह कहता है कि कोई भी अधिकारी असीमित संख्या में अधीनस्थों का नियन्त्रण या निरीक्षण नहीं कर सकता है । अत: उसके निरीक्षण एवं नियन्त्रण में कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या सीमित होनी चाहिए ।

(16) **संतुलन का सिद्धान्त** (Principle of balance): प्रबन्ध का यह सिद्धान्त यह कहता है कि संगठन के प्रत्येक विभाग में संतुलन बनाये रखना चाहिए ताकि संगठन की कार्यकुशलता बनी रह सके । प्रत्येक विभाग को उतना ही बड़ा बनना चाहिए जिससे उसकी क्षमता एवं साधनों का अनुकूलतम उपयोग हो सके । इसके अतिरिक्त सभी विभाग लगभग समान अकार एवं कार्यक्षेत्र के ही बनाये जाने चाहिए । सभी विभागों तथा अधिकारियों के बीच अधिकारी के केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, अधिकार प्रत्यायोजन आदि में भी संतुलन रखना चाहिए । पर्याप्त संतुलन से संस्था का पर्याप्त विकास होगा और संस्था की लागतों में भी कमी लायी जा सकेगी ।

(17) **प्रमापीकरण का सिद्धान्त** (Principle of standardisation) : टेलर,गेण्ट आदि वैज्ञानिक प्रबन्ध के समर्थकों ने इस सिद्धान्त को विकसित किया गया था । यह सिद्धान्त यह बताता है कि प्रत्येक कार्य के लिए कुछ निश्चित प्रमाप (Standards) तय कर लेने चाहिए । ये प्रमाप कार्य-प्रणाली, सामग्री, उपकरण, उत्पादन की मात्रा आदि से सम्बन्धित हो सकते हैं । प्रमापीकरण करने से प्रमाणित कार्य या उत्पादन होता है । इससे न केवल वस्तुओं की लागत में ही कमी आती है बल्कि वस्तुओं की किस्म में भी सुधार होता है, फलतः संस्था की प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति में सुधार होता है ।

(18) **मानवीय सम्बन्धों का सिद्धान्त** (Principle of human relation): मेककोर्मिक ने ठीक ही कहा है कि 'उद्योगों का अस्तित्व मानवीय सम्बन्धों पर निर्भर करता है । यह सिद्धांत इसी विश्वास एवं मान्यता पर आधारित है । यह सिद्धान्त कहता है कि प्रबन्धकों को कर्मचारियों के साथ मानवीय सम्बन्धों का विकास करना चाहिए । उन्हें उत्पादन का एक भौतिक साधन न समझकर सृजनशील शक्ति के रूप में समझना चाहिए । इस हेतु प्रबन्धकों को कर्मचारियों की भौतिक आवश्यकताओं रोटी, कपड़ा, मकान आदि) की सन्तुष्टि के साथ-साथ सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की संतुष्टि पर भी ध्यान देना चाहिए । यद्यपि फेयोल ने न्याय या समता के सिद्धान्त में यही बात कहीं है किन्तु यह सिद्धान्त अधिक व्यापक है ।

(19) **समन्वय का सिद्धान्त** (Principle of coordination): मूनी एवं रीले (Money & Reiley) ने प्रबन्ध में समन्वय के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण माना है । कूंट्ज तथा बीहरिच (Koontz and Weihrihc) ने तो समन्वय को 'प्रबन्ध की आत्मा या प्रबन्धक का सार' (Essence of management) ही कह दिया है ।

यह सिद्धान्त यह कहता है कि संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठन सभी विभागों तथा कर्मचारियों के कार्यों में समरूपता तथा क्रमबद्धता (Orderly syncronisation of effort) होनी चाहिए । दूसरे शब्दों में, उनके सभी कार्यकलापों में समन्वय होना चाहिए । यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि संस्था में समन्वय होना चाहिए । यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि संस्था के सामान्य उद्देश्यों की सफलतापूर्वक प्राप्ति तभी सम्भव होती है जब कर्मचारियों में आपसी सहयोग एवं समन्वय हो ।

(20) **अभिप्रेरणा का सिद्धान्त** (Principle of Motivation): अभिप्रेरण का सिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है । यह सिद्धान्त यह कहता है कि प्रबन्धक कर्मचारियों को अभिप्रेरित करके ही उनके कार्य करवा सकता है । वह उन्हे हांक कर कार्य नहीं करवा सकता है, अत: उसे कर्मचारियों को विभिन्न विधियों से अभिप्रेरित करना चाहिए ।

(21) **नियन्त्रण का सिद्धान्त** (Principle of control): यह सिद्धान्त यह कहता है कि प्रत्येक प्रबन्धक को यह देखते रहना चाहिए कि कार्य पूर्व निर्धारित प्रमापों, नियमों, निर्देशों आदि के अनुरूप हो रहे है और यदि नहीं तो उनके लिए आवश्यक सुधारात्मक प्रयास करने चाहिए ।

(22) **सहभागिता का सिद्धान्त** (Principle of participation) : सहभागिता का सिद्धान्त यह कहता है कि प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों को सहभागिता देनी चाहिए । सहभागिता अनेक रूपों में दी जा सकती है । सुझाव आमंत्रित करके, कर्मचारियों के साथ परामर्श करके, निर्णय करने वाली समितियों तथा संचालक मण्डल में प्रतिनिधित्व देकर या पूँजी में हिस्सेदारी देकर सहभागिता दी जा सकती है ।

(23) **सामाजिक दायित्व का सिद्धान्त** (Principle of social responsibility) : यह सिद्धान्त यह कहता है कि प्रत्येक प्रबन्धक को अपना प्रत्येक कार्य या निर्णय सामाजिक हितों एवं मूल्यों का ध्यान में रखकर ही करना चाहिए । उन्हें कोई भी ऐसा

कार्य या निर्णय नहीं करना चाहिए जिससे समाज की मान्यताओं, स्थिरता एकता आदि पर विपरीत प्रभाव पड़े ।

(24) **सरलता का सिद्धान्त** (Principle of simplicity): सरलता का सिद्धान्त यह कहता है कि संस्था की संगठन संरचना, कार्यविधियां, नीतियाँ, नियम, योजनाएं आदि सभी सरल हों । इनमें किसी प्रकार की जटिलता एवं अनावश्यक औपचारिकता न हो । विलियम बी. कारनेल **(William B. Cornell)** ने लिखा है कि 'उन सभी तत्वों को समाप्त कर देना चाहिए जो कार्यों को करने के लिए अनावश्यक हैं तथा जो तत्व रखे जाते हैं उन्हें सरलतम रूप में प्रस्तुत करना चाहिए''

उपर्युक्त प्रबन्ध के सभी सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण है । ये सभी सार्वभौमिक सिद्धान्त है । इनका किसी संगठन तथा संस्था के प्रबन्ध में सामान्यत: उपयोग किया जा सकता है ।

9.9 प्रबन्ध के कार्य

(1) **नियोजन** (Planning): नियोजन में प्रबन्धक यह निर्धारित करता है कि भविष्य में किन उद्धेश्यों की प्राप्ति हेतु कौन-कौन से कार्य किये जायेंगे, व कार्य किस प्रकार, किन साधनों से, किनके द्वारा कब तथा किन नियमों, नीतियों, कार्य विधियों, पद्धतियों के अनुसार किये जायेंगे ।

(2) संगठन (Organising)

संगठन कार्य में निम्न क्रियाएं करनी पडती हैं:-

1. क्रियाओं का निर्धारण करना।
2. क्रियाओं का समूहीकरण करना ।
3. समूह के विभागों में इन क्रियाओं को सौंपना ।
4. क्रियाओं को करने के लिए अधिकारों का प्रत्यायोजन करना, एवं
5. आपसी कार्यात्मक संबंधों की स्थापना करना ।

(3) **नियुक्ति करना (Staffing)**

यह कर्मचारियों को नियुक्ति से सम्बन्धित होता है । इस कार्य में ये सभी कार्य अर्थात चुनाव करना, प्रशिक्षण देना, पदोन्नति करना, निवृति देना, मूल्यांकन करना परिश्रमिक देना आदि सम्मिलित हो जाते है ।

(4) निर्देशन (Directing)

निर्देशन में निम्न बातों का सम्मिलित किया जाता है:-

1. शिक्षा देना
2. निर्देश देना
3. आदेश देना
4. निरीक्षण करना

(5) समन्वय (Co- ordination)

समन्वय के द्वारा किसी कार्य में लगे विभिन्न व्यक्तियों के प्रयासों को एक सूत्र में बांधकर क्रमानुसार संयोजन किया जाता है, ताकि उस कार्य को पूर्ण कुशलता तथा प्रभावशीलता के साथ भी पूरा किया जा सके ।

(6) अभिप्रेरणा (Motivation)

प्रबन्धक अपने कर्मचारियों की आंतरिक इच्छाएं, आकांक्षाएँ, भावनाएं पूरी करता है और उनमें कार्य के प्रति रूचि उत्पन्न करता है ।

(7) नियन्त्रण करना (Controlling)

इसके तीन तत्व है-

- प्रमाण निर्धारित करना
- कार्यों का मूल्यांकन करना
- क्रियाओं में सुधार करना

9.10 सारांश (Summary)

आज विश्व के सभी देशों की अर्थव्यवस्था तथा उद्योग-धन्धों के कुशल एवं सफल संचालन में प्रबन्धक सर्वप्रमुख आवश्यकता बन गया है । यह राष्ट्रों के अस्तित्व के आधार स्तम्भ आज शक्तिशाली है वे कुशल एवं प्रभावकारी प्रबन्ध के कारण ही उत्तरोत्तर शक्तिशाली बनते जा रहे हैं । इसके विपरीत, अकुशल प्रबन्ध के कारण ही कई देशों की अर्थव्यवस्था ही नहीं अपितु उनका अस्तित्व भी अस्थिर दिखायी पड़ता है, अत: अब सभी राष्ट्रों द्वारा स्वीकार किया जाता है कि देश के व्यावसायिक विकास के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के उत्थान के लिए कुशल प्रबन्ध अपरिहार्य है । यह देश की सभी गम्भीर आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की एकमात्र कुंजी है । यह वह मंत्र है जो देश की अर्थव्यवस्था को विश्व की अर्थव्यवस्था से महाशक्ति के रूप में स्थापित करवा सकता है । संक्षेप में, यह देश की गम्भीर समस्याओं की मुक्ति का साथ नहीं आर्थिक समृद्धि एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान का भी कारक है ।

9.11 शब्दावली

प्रबन्ध एक प्रक्रिया है : यह कार्यो की प्रक्रिया है, जो समन्वित एवं सतत् प्रक्रिया है, सामाजिक प्रक्रिया है एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है ।

प्रबन्धक दूसरों से कार्य करवाने हेतु अपने कुछ अधिकारों को अपने अधीनस्थों को सौंपते है । वे अधीनस्थ पुन: अपने कुछ अधिकारों को अपने अधीनस्थों को सौंपते है, फलतः प्रत्येक अधीनस्थ अपने अधिकारी के प्रति उत्तरदायी भी बन जाता है । इस प्रकार संस्था के प्रत्येक स्तर पर अधिकार एवं दायित्व की श्रृंखला अर्थात आदेशों की श्रृंखला (Chain of Command) का निर्माण हो जाता है । इस श्रृंखला में विभिन्न प्रबन्धकीय पदों का निर्माण हो जाता है । इसे ही पदानुक्रम व्यवस्था कहते है ।

9.12 अभ्यासात्मक प्रश्न

अति लघु उत्तर प्रश्न

प्र.1 प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं?

What do your understand by management?

प्र.2 वर्तमान में प्रबन्ध का महत्व बताईये ।

In the content of present scenario tell the importance of management.

प्र.3 प्रबंध की क्या कोई सीमाएं हैं?

What are the limitations of management.

लघु उत्तर प्रश्न

प्र.1 प्रबन्ध की प्रकृति बताईये ।

Discribe the nature of management.

प्र.2 प्रबन्ध प्रक्रिया की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिये ।

Discuss the main characteristics of management process.

प्र.3 प्रबन्ध के प्रमुख कार्यो को बताईये ।

State the main function of management.

दीर्घ उत्तर प्रश्न

प्र.1 प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं? प्रबन्ध के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये ।

What do you understand by management? Discuss the principles of management.

प्र.2 प्रबन्ध के इतिहास का वर्णन करें ।

Describe the History of management.

प्र.3 प्रबन्धकों द्वारा संस्था में निर्वाह की जाने वाली भूमिकाओं की विवेचना कीजिये ।

Discuss the role that managers play in an organization.

प्र.4 प्रभावशाली प्रबन्ध का महत्व बताईये । ऐसे प्रबन्ध की आवश्यकता क्यों है?

Show the importance of Efficient management.' Why is such management needed in India?

9.13 उपयोगी पुस्तके / संदर्भ ग्रंथ

- प्रबन्ध चिन्तन का इतिहास (लेखक सी.एस सुधा, प्रकाशक : आर.बी.एस.ए., एस.एम.एस. हाईवे, जयपुर)
- प्रबन्ध के तत्व (लेखक बी.एस. माथुर, आर.एल. नौलखा, प्रकाशक : मलिक एण्ड कम्पनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर)

इकाई - 10 : प्रबन्ध के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषाएँ

10.3 आवश्यकता एवं महत्व

10.4 फेयोल द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध के प्राथमिक सिद्धान्त

- 10.4.1 विशिष्टीकरण या श्रम विभाजन का सिद्धान्त
- 10.4.2 आदेश की एकात्मकता या एकता का सिद्धान्त
- 10.4.3 अधिकार एवं दायित्व का सिद्धान्त
- 10.4.4 सोपान श्रृंखला या पदानुक्रमता या स्केलर सिद्धान्त
- 10.4.5 निर्देशन की एकता का सिद्धान्त
- 10.4.6 केन्द्रीकरण का सिद्धान्त
- 10.4.7 अनुशासन का सिद्धान्त
- 10.4.8 व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामान्य हित को प्राथमिकता का सिद्धान्त
- 10.4.9 समता या समानता का सिद्धान्त
- 10.4.10 पहलपन का सिद्धान्त
- 10.4.11 कार्यकाल में स्थायित्व का सिद्धान्त
- 10.4.12 व्यवस्था का सिद्धान्त
- 10.4.13 पारिश्रमिक का सिद्धान्त
- 10.4.14 समूह भावना का सिद्धान्त
- 10.4.15 कुछ अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त

10.5 सारांश

10.6 पारिभाषिक शब्द

10.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.8 उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य

वैज्ञानिकों ने भौतिक विज्ञान में आविष्कार आदि करके लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया । वैज्ञानिक खोजों ने मानव जीवन को प्रसन्न, आसान और अधिक सुरक्षित बना दिया । सब लोग इन वैज्ञानिक खोजों से आश्चर्यचकित होकर भूरी-भूरी प्रशंसा करने लगे । बीसवीं शताब्दी में ज्ञान की एक ऐसी शाखा का प्रादुर्भाव हुआ जो वैज्ञानिक खोजों में भी आधारभूत कार्य करती है । इतना ही नहीं विश्व में अनेकानेक संगठन हैं जो उन सबको सुव्यवस्थित रूप से चलाने में सहयोग करती है । ज्ञान की उस शाखा का नाम प्रारम्भ में वैज्ञानिक प्रबंध रखा गया, क्योंकि

वह प्रत्येक कार्य को सुव्यवस्थित रूप से करना सिखलाती है । इसको लागू करने का परिणाम यह हुआ कि भौतिक एवं मानवीय संसाधनों की उत्पादिता में आश्र्यजनक वृद्धि हुई । लोग कहने लगे प्रबन्ध तो दो और दो चार नहीं, दो और दो पाँच कर देता है ।

प्रबन्ध के अग्रलिखित सिद्धान्तों का ज्ञान आप सब विद्यार्थियों को इस उद्देश्य से करवाया जा रहा है कि आप इसे अपने जीवन में उतारें और राष्ट्र के एक महत्वपूर्ण नागरिक बनकर उसके चहुंमुखी विकास में योगदान करें ।

10.1 प्रस्तावना

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान का सुव्यवस्थित अध्ययन करने तथा उस ज्ञान को व्यावहारिक रूप में अपनाने हेतु कुछ मार्गदर्शक बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है । ये मार्गदर्शक बातें अनुभव एवं शोध के आधार पर निर्धारित की जाती हैं । जब ये बातें अनुभव, समय एवं निरीक्षण की कसौटी पर खरी उतरती हैं तो उन्हें सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

यद्यपि प्रबन्ध शास्त्र में ऐसी विचारधारा का विकास नहीं हुआ है जिसे विश्वव्यापी समर्थन एवं मान्यता मिली हो, किन्तु प्रबन्ध के कुछ सिद्धान्तों के प्रतिपादन में सफलता अवश्य मिली है, जिन्हें किसी भी समय, स्थान तथा संगठन में समान रूप में लागू किया जा सकता है । प्रो. मैगीन्सन के अनुसार, 'प्रबन्ध के सिद्धान्तों का एक क्रमबद्ध अध्ययन उपलब्ध है जो सभी प्रबन्धकीय स्थितियों में सत्य सिद्ध होता है । ये सिद्धान्त व्यावसायिक, सरकारी, धार्मिक, सामाजिक या अन्य किसी प्रकार संगठन में प्रबन्ध के सभी स्तरों पर फोरमैन से लेकर उच्च प्रबन्धक तक समान रूप से लागू किए जा सकते है।

प्रबन्ध में सैद्धान्तीकरण का श्रेय मुख्यत: हेनरी फेयोल को दिया जाता है । इसलिए उन्हें 'आधुनिक प्रबन्ध विचारधारा का जनक ही माना जाता है । उन्होंने प्रबन्ध के चौदह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे । फेयोल के पश्चात् वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता एफ. डब्बू. टेलर ने भी कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त विकसित किये हैं । इन दोनों के अतिरिक्त अनेक प्रबन्ध वैज्ञानिकों ने भी प्रबन्ध के सिद्धान्तों का वर्णन किया है, जिनमें एल. एफ. अर्विक, ऑलिवर शैल्डन. मूनी तथा रीले कूंटज एवं ओ डोनेल टैरी आदि प्रमुख हैं । यहाँ हम सभी विद्वानों द्वारा बताये गये सिद्धान्तों में से कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे, लेकिन सर्वप्रथम हम फ्रांसिसी लेखक जिन्हें सामान्य एवं औद्योगिक प्रबन्ध का वास्तविक जनक माना जाता है, द्वारा बताये गये प्रबन्ध के चौदह प्राथमिक सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे ।

10.2 सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषाएं

सामान्य शब्दों में सिद्धान्त से आशय उस आधारभूत सत्य से है, जो किसी विचार या प्रयास का मार्गदर्शन करता है एवं उसके कारण व परिणाम के सम्बंध को प्रकट करता है अन्य शब्दों में शोध अनुसंधान तथा अभ्यास के विश्लेषण से जो मार्गदर्शक आधारभूत सत्य सामने आते हैं, सिद्धान्त कहलाते हैं । विलियम बी. कोरनेल के अनुसार 'सिद्धान्त आधारभूत विवरण या सर्वमान्य सत्य हैं जो किसी कार्य या विचार का मार्गदर्शन देता है । ' परिभाषा के इसी क्रम में

थियोहेमन ने सिद्धान्त को इस प्रकार परिभाषित किया है । 'सिद्धान्त एक बुनियादी सत्य है, जो किसी निश्चित घटना को स्पष्ट करता है । ' इसी प्रकार एडविन बी. फिलिप्पो के अनुसार 'सिद्धान्त एक आधारभूत सत्य है जो सामान्यत: कारण एवं प्रभाव सम्बन्ध के रूप में उल्लेखित किया जाता है ।

इस प्रकार सिद्धान्त वे आधारभूत विवरण या सर्वमान्य सत्य है, जिनका उपयोग किसी किया के सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए मार्गदर्शक नियमों के रूप में किया जाता है । प्रबन्धकीय क्रियाओं जैसे नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए जिन आधारभूत नियमों का उपयोग किया जाता है, उन्हें प्रबन्ध के सिद्धान्त कहते हैं ।

10.3 आवश्यकता एवं महत्व

वैज्ञानिक प्रबन्ध के जनक एफ.डब्ल्यू टेलर' ने इंजीनियर के रूप में श्रमिकों से कार्य करवाया। उन्हें वर्कशॉप में काम करने का पर्याप्त अनुभव था, लेकिन वे उन अनुभवों को अच्छी प्रकार लेखनीबद्ध नहीं कर पाये । उनका दृष्टिकोण कार्मिकों तक सीमित था । हेनरी फेयोल ने सैनिक अफसर के रूप में युद्ध प्रबन्धन देखा और अनुभव प्राप्त किया । उसके आधार पर उन्होंने टेलर के निम्न स्तरीय कर्मचारियों के प्रबन्धन को पूरक करते हुए प्रबन्धकों के व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर कुछ प्रबन्धकों के प्रकार्य बतलाये (नियोजन, संगठन, निर्देशन और नियंत्रण) । इन प्रकार्यों का निष्पादन करते समय प्रबन्धकों को कुछ सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिये, इसका उल्लेख हेनरी फेयोल ने किया ।

उपरोक्त सिद्धान्तों के प्रतिपादन से स्कूल, कॉलेज एवं विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों के लिए प्रबन्ध के ज्ञान को सीखने की पृष्ठभूमि मिल गई । फेयोल द्वारा बतलाये गये सिद्धान्तों के आधार पर प्रबन्ध एक व्यवस्थित ज्ञान की शाखा के रूप में उजागर हुआ । इनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि ये सिद्धान्त प्रबन्ध की आधारशिला है । उपरोक्त सिद्धान्त हर प्रकार के जैसे व्यावसायिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, रक्षात्मक, धार्मिक, मनोरंजक, चिकित्सा आदि संगठनों में लागू होते हैं । यही कारण है कि प्रबन्ध को सार्वभौमिक प्रक्रिया कहा जाता है ।

10.4 फेयोल द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध के प्राथमिक सिद्धान्त :

10..4.1 विशिष्टीकरण या श्रम विभाजन का सिद्धान्त

इसके मूल लेखक अर्थशास्त्र के जनक, एडम स्मिथ माने जाते हैं । प्रबन्ध का यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त विशिष्टीकरण या श्रम विभाजन का सिद्धान्त है । फेयोल ने प्रबन्ध के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए इसे प्रबन्ध के प्रथम सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है तथा 'श्रम विभाजन' शब्द का प्रयोग किया है । इस सिद्धान्त के बारे में टेलर का मत है कि जहाँ तक संभव हो, उपक्रम में एक व्यक्ति को एक ही कार्य सौंपा जाना चाहिए । ' फेयोल ने इस कथन को और स्पष्ट करते हुए बताया है कि यदि न्यूनतम प्रयासों से अधिकतम सफलता प्राप्त करनी है तो कार्यो का सम्पादन श्रम विभाजन के सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए । श्रम

विभाजन का सिद्धान्त एक विशिष्ट व्यक्ति को कार्य सौंपने की तरफ मार्गदर्शन प्रदान करता है। विशिष्टीकरण नई खोजों को संभव बनाता है और इससे कर्मचारियों के चातुर्य एवं ज्ञान में अभिवृद्धि होती है, अत: इस सिद्धान्त का उद्देश्य अधिक और विस्तृत परिणामों को प्राप्त करना है ।

10.4.2 आदेश की एकात्मकता या एकता का सिद्धान्त

अनेक विद्वानों ने आदेशों की एकता के सिद्धान्त को प्रबन्ध का एक महत्त्वपूर्ण व आधारभूत सिद्धान्त माना है । फेयोल के अनुसार 'एक कर्मचारी को एक ही अधिकारी द्वारा आदेश प्राप्त होने चाहिए ।' अर्नेस्ट डेल के अनुसार 'प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही अधिकारी द्वारा आदेश दिए जाने चाहिए तथा कर्मचारी को उसी के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए । अत: इस सिद्धान्त की मान्यता है कि कोई भी कर्मचारी एक ही समय में दो अधिकारियों की सेवा नहीं कर सकता है । एक से अधिक अधिकारियों द्वारा एक कर्मचारी को एक ही समय आदेश दिये जाने पर कर्मचारी सौंपे गये कार्य को उचित रूप से पूरा नहीं कर सकेगा, उसे असुविधा होगी, अधिकार क्षतिग्रस्त होंगे, अनुशासन भंग होगा, व्यवस्था एवं सुदृढ़ता कमजोर पड़ जायेगी व सम्बन्धों में कटुता बढ़ेगी ।

10.4.3 अधिकार एवं दायित्व का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि अधिकार एवं दायित्व साथ-साथ होने चाहिये । फेयोल के अनुसार 'अधिकारों का परिणाम ही दायित्व है । यह अधिकार का स्वाभाविक परिणाम और आवश्यक रूप से अधिकार का दूसरा भाग है तथा जब भी अधिकारों का प्रयोग किया जाता है, उत्तरदायित्वों का जन्म अपने आप ही हो जाता है ।' टेरी के अनुसार सुदृढ़ संगठनात्मक सम्बन्धों के लिए एक प्रबन्धक के अधिकार उसके दायित्वों के अनुरूप ही होने चाहिए तथा इसके विपरीत दायित्वों के अनुरूप ही उसके अधिकार होने चाहिए । इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकार एवं दायित्व साथ-साथ होने चाहिए । एक व्यक्ति को किसी कार्य के परिणामों के प्रति तभी उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए, जबकि उसको उसके परिणामों की प्राप्ति के अधिकार प्रदान किये गये हों ।

10.4.4 सौपान श्रृंखला या पदानुक्रमता या स्केलर सिद्धान्त

संगठन के उच्च पदों से निम्न पदों तक फैली हुई अधिकारियों की श्रृंखला को फेयोल ने सौपान श्रृंखला कहा है । फेयोल ने स्पष्ट किया है कि संवहन की सुविधा हेतु अधिकार एवं दायित्व उच्चाधिकारियों से अधीनस्थों तक सीधी रेखा में चलने चाहिए । फेयोल कहते हैं कि प्रत्येक संस्था में किसी न किसी प्रकार से कुछ अधिकारी एव कुछ अधीनस्थ होते हैं और इन अधिकारियों एवं अधीनस्थों के बीच अधिकार एवं दायित्व का प्रत्यक्ष बहाव होना चाहिए ।

इस प्रकार सामान्य परिस्थितियों में विभिन्न व्यक्तियों के बीच संदेशों का आदान-प्रदान औपचारिक मार्गों से ही किया जाना चाहिए, किन्तु अधिकारियों को कुछ विशेष परिस्थितियों में अधीनस्थों के बीच संदेशों के प्रत्यक्ष आदान-प्रदान की छूट दे देनी चाहिए । ऐसी दशा में, जबकि अधीनस्थ प्रत्यक्ष रूप से संदेशों का आदान-प्रदान करें, अधिकारियों को अवश्य सूचित कर

देना चाहिए ताकि अधीनस्थों की स्थिति एवं गरिमा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पडे । इसे निम्न चार्ट द्वारा भी स्पष्ट किया गया है ।

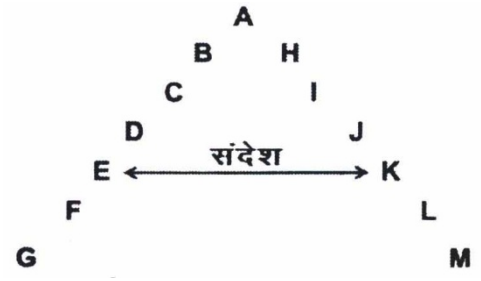

चित्र : सोपान श्रृंखला

उपरोक्त चार्ट में A सर्वोच्च अधिकारी है, जिसके नीचे B से M तक के अनेक अधीनस्थ हैं । यदि A कोई संदेश देना चाहता है तो क्रमश: A से G या M तक पहुँचेगा । इसी प्रकार यदि E अपना संदेश K तक पहुंचाना चाहेगा तो वह संदेश पहले E से क्रमश: D,C,B तथा A के पास पहुँचेगा । तत्पश्चात् A 'उस संदेश को H,I,J के माध्यम से K तक पहुँचा देगा, किन्तु यदि A ने कुछ विशेष परिस्थितियों में अधीनस्थों के बीच प्रत्यक्ष संदेशवाहक की व्यवस्था कर रखी है तो वे आपस में प्रत्यक्ष रूप से भी संदेशों का आदान-प्रदान कर सकते है । इस उदाहरण मे ऐसी व्यवस्था होने पर E तत्काल प्रत्यक्ष रूप से अपना संदेश पहुंचा देगा और A को केवल इसकी सूचना दे देगा ।

10.4.5 निर्देशन की एकता का सिद्धान्त

फेयोल के अनुसार निर्देशन की एकता से आशय - 'व्यक्तियों के किसी एक समूह (जिसका एक ही सामान्य उद्देश्य है) के लिए एक ही मस्तिष्क से एक ही योजना का निर्माण करने से है। संगठन के सभी सदस्यों की क्रियाएं उसके उद्देश्य की प्राप्ति की ओर अभिमुख होनी चाहिए। **टेरी** के अनुसार 'अधिकाधिक प्रभावशीलता की दृष्टि से किसी एक कार्य के लिए एक ही व्यक्ति से आदेश प्राप्त होने चाहिए ।' इस सिद्धान्त को और स्पष्ट करते हुए **फेयोल** ने कहा है, क्रियाओं के एक समूह जिनका उद्देश्य एक ही होता है का संचालन केवल एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए और उसकी एक ही योजना होनी चाहिए । इस प्रकार एक ही योजना के सम्बन्ध में एक ही व्यक्ति का प्रबन्ध, निर्णय व निर्देशन होना चाहिए ताकि कार्य की एकता, समन्वय व प्रयासों का केन्द्रीकरण हो सके । एक ही योजना को कई प्रबन्धकों को सौंप देने से इसके क्रियान्वयन में भी अनावश्यक बाधा उत्पन्न हो सकती है । इस स्थिति का फेयोल ने सजीव वर्णन किया है कि **'दो सिर वाला शरीर सामाजिक एवं पशु जगत में राक्षस माना जाता है तथा जीवित रहने में वह कठिनाई महसूस करता है,** अत: निर्देश की एकता का सिद्धान्त संस्था की संरचना से सम्बन्ध रखता है, जबकि आदेश की एकता कर्मचारियों के कार्य से सम्बन्धित है जो निर्देश की एकता के बिना संभव नहीं है ।

10.4.6 केन्द्रीकरण का सिद्धान्त

जब संस्था में निर्णय लेने के सभी अधिकार उच्च प्रबन्धकों के हाथों में केन्द्रित रहते हैं तब संस्था में केन्द्रीकरण की स्थिति होती है । इसके विपरीत जब निर्णय लेने के अधिकार अधीनस्थों को सौंप दिये जाते हैं तो वह विकेन्द्रीकरण की स्थिति कहलाती है । **फेयोल** ने इस

सिद्धान्त के अन्तर्गत यह कहा है कि संस्था में न तो अधिकारों का केन्द्रीकरण होना चाहिए और न ही अधिक विकेन्द्रीकरण । प्रत्येक प्रबन्धक को अधिकारों के केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण में संतुलन स्थापित करना चाहिए और इस प्रकार का संतुलन संस्था की परिस्थितियों तथा कार्य की प्रकृति को ध्यान में रखकर ही स्थापित किया जा सकता है । उपरोक्त सिद्धान्त में यह भी गर्भित है कि संगठन के सर्वोच्च अधिकारी का ही अंतिम दायित्व है ।

10.4.7 अनुशासन का सिद्धान्त

अनुशासन से तात्पर्य है कि संगठन के सभी सदस्यों का व्यवहार में क्रमबद्धता होना । **फेयोल** ने इस सिद्धान्त को प्रबन्ध का सामान्य सिद्धान्त माना है । उनका कहना है कि अनुशासन मूल रूप से आज्ञापालन प्रयोग, शक्ति व्यवहार तथा आदर का बाह्य सूचक है, जिसका पालन संस्था एवं कर्मचारियों के बीच अस्थायी ठहरावों के अनुरूप होता है । **फेयोल** के अनुसार 'अच्छे नेतृत्व, स्पष्ट एवं सही समझौते तथा अच्छे दण्ड विधान द्वारा ही अनुशासन को कायम रखा जा सकता है । इस सिद्धान्त के निष्कर्ष में फेयोल ने कहा है कि अनुशासन बनाए रखने के लिए (i) प्रत्येक स्तर पर अच्छे अधिकारी होने चाहिए, (ii) आपसी समझ होनी चाहिए तथा (iii) पालन न करने वाले को दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए ।

10.4.8 व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामान्य हित को प्राथमिकता का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त संगठन ही शक्ति है' की मान्यता पर बल देता है तथा कर्मचारियों में आपसी सहयोग की भावना का विस्तार करता है । इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में फेयोल की यह स्पष्ट मान्यता थी कि उपक्रम के कर्मचारियों या कर्मचारियों के समूहों का हित उपक्रम के हितों के बाद होना चाहिए । कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों को सामूहिक हितों के लिए अपने वैयक्तिक हितों का त्याग कर देना चाहिए । इसके अतिरिक्त **फेयोल** ने इस सम्बन्ध में एक और तर्क देते हुए कहा है कि प्रबन्धकों को अपने विचारों पर दृढ़ रहना चाहिए जिससे वे श्रमिकों के सामने आदर्श प्रस्तुत कर सकें, उनमें आपसी ठहराव स्पष्ट होने चाहिए तथा निरीक्षण प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए ।

10.4.9 समता या समानता का सिद्धान्त

फेयोल का विचार था कि प्रबन्ध को संगठन के सभी सदस्यों के साथ समानता की भावना रखनी चाहिए तथा न्याय व मैत्रीभाव से अपनत्व की भावना को उत्पन्न किया जा सकता है, अत: प्रबन्धकों को कर्मचारियों के साथ न्यायपूर्ण, सद भावपूर्ण तथा समानता का व्यवहार करना चाहिए ।

10.4.10 पहलपन का सिद्धान्त

फेयोल के इस सिद्धान्त को **जार्ज आर. टैरी** आदि विद्वानों का भी समर्थन प्राप्त हुआ है । **फेयोल** की मान्यता थी कि मनुष्य स्वतंत्रता पूर्वक कार्य निष्पादन करने की आवश्यकता महसूस करता है । यदि उसे यह स्वतंत्रता प्रदान की जाये तो उसमें पहल करने की शक्ति जागृत होगी। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य का व्यक्तित्व भारी ज्ञान से भरा हुआ है ओर यदि उसे स्वतंत्र रूप से किसी योजना को प्रस्तावित करने तथा उसे क्रियान्वित करने का अवसर प्रदान किया जाये तो निःसंदेह उसकी कार्यक्षमता बढ़ेगी । यह सिद्धान्त इस भावना से

ओत-प्रोत है कि प्रबन्धकों को अपने झूठे सम्मान की परवाह किये बिना कर्मचारियों के लिए स्वतंत्रता पूर्वक कार्य निष्पादित करने का वातावरण पैदा करना चाहिए । यह सिद्धान्त मानता है कि मानव एक विवेकशील प्राणी है, और इस विवेक के आधार पर ही वह 2+2+=5 कर सकता है ।

10.4.11 कार्यकाल में स्थायित्व का सिद्धान्त

फेयोल के अनुसार कर्मचारियों का कार्यकाल स्थायी होना चाहिए । इस सिद्धान्त के पीछे मान्यता यह है कि कोई भी कर्मचारी या श्रमिक जब किसी नये कार्य पर लगाया जाता है तो उसे उस नये कार्य को सीखने में कुछ समय लगता है, अत: बार-बार उसका स्थानान्तरण किया जाए तो उसे बार-बार नया कार्य सीखना पड़ेगा, परिणामस्वरूप वह किसी भी कार्य में कुशलता प्राप्त नहीं कर सकेगा । कार्यकुशलता तथा वातावरण में समन्वय करने की दृष्टि से कर्मचारियों के कार्यकाल में पर्याप्त स्थायित्वता होनी चाहिए, उसका बार-बार स्थानान्तरण नहीं करना चाहिए । **फेयोल** का कहना है एक साधारण प्रबन्धक जो दीर्घकाल तक संस्था में रुका रहता है, उन प्रतिभा सम्पन्न प्रबन्धकों से श्रेष्ठ है जो संस्था में केवल आते-जाते रहते हैं । यह उल्लेखनीय है कि आजकल प्रबन्धक वर्ग इस बात को ठीक समझता है कि कर्मचारी ने विगत में कई पदोन्नतियां ली हैं तो वह अधिक गत्यात्मक है ।

10.4.12 व्यवस्था का सिद्धान्त

व्यवस्था के सिद्धान्त को **फेयोल** ने इस प्रकार परिभाषित करते हुए कहा है कि 'प्रत्येक वस्तु के लिए एक स्थान होना चाहिए और प्रत्येक वस्तु को अपने स्थान पर होना चाहिए और सही व्यक्ति सही स्थान पर होना चाहिए । **फेयाल** ने अपने सिद्धान्त में दो प्रकार की व्यवस्थाओं पर जोर दिया । इसमें प्रथम भौतिक व्यवस्था और द्वितीय सामाजिक व्यवस्था थी । **फेयोल** की मान्यता थी कि व्यवस्था का सिद्धान्त वस्तुओं व मनुष्यों पर समान रूप से लागू होता है और प्रबन्ध द्वारा सही प्रकार की व्यवस्था द्वारा प्रत्येक प्रकार की बर्बादी को कम किया जा सकता है । इस सिद्धान्त से आवर्तन के काल में होने वाली असुविधा से बचा जा सकता है और समय व श्रम की बर्बादी भी रोकी जा सकती है ।

10.4.13 पारिश्रमिक का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त बताता है कि कर्मचारियों को दिया जाने वाला पारिश्रमिक उचित एवं न्यायसंगत होना चाहिए । **फेयोल** के अनुसार पारिश्रमिक के भुगतान की पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि उससे नियोक्ता एवं कर्मचारी दोनों को ही संतोष प्राप्त हो सके और कर्मचारियों को पारिश्रमिक के साथ ही साथ अमौद्रिक प्रोत्साहन भी समय-समय पर दिया जाना चाहिए । प्रबन्ध विद्वानों द्वारा सुझाई गई मजदूरी एवं वेतन की पद्धतियाँ इसी बात को ध्यान में रखकर बनाई गई हैं ।

10.4.14 समूह भावना का सिद्धान्त

फेयोल का यह सिद्धान्त यह कहता है कि प्रबन्ध की सफलता के लिए प्रबन्धकों को अपने कर्मचारियों में समूह एकता की भावना का विकास करना चाहिए । इस संदर्भ में फेयोल ने कहा है, कि प्रबन्धकों को कर्मचारियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क बनाये रखना चाहिए । प्रबन्धकों को जब भी समय मिले कर्मचारियों के साथ सन्देशों का औपचारिक आदान-प्रदान करना चाहिए । आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए प्रबन्धकों को कर्मचारियों की समस्याओं का तत्काल समाधान करना

चाहिए तथा आपसी भ्रमों को भी यथाशीघ्र दूर करने का प्रयास करना चाहिए । जार्ज एल्टन मेयो द्वारा जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी के हार्थोन नाम के स्थान पर स्थापित संयंत्र में किये गये प्रयोगों में हेनरी फेयोल के इस सिद्धान्त की अभिपुष्टि हुई और अनौपचारिक संबन्धो को प्रबन्धक वर्ग औपचारिक संबन्धों की तुलना में अधिक महत्ता प्रदान करने लगा ।

फेयोल द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त सिद्धान्त समय की सीमा पर खरे उतरे हैं और वे आज भी लागू होते हैं । फेयोल के अनुसार 'प्रबन्ध के सिद्धान्तों की संख्या की कोई सीमा नहीं है । चौदह सिद्धान्तों की यह सूची तो एक उदाहरण मात्र है । इसमें और सिद्धान्त भी जोड़े जा सकते हैं ।

10.4.15 कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त:

संतुलन का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त बताता है कि संस्था के विभिन्न भागों में पर्याप्त संतुलन होना चाहिए तथा संस्था के किसी एक कार्य को दूसरे कार्य की तुलना में अनावश्यक रूप से विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए । **अर्विक** के अनुसार 'यह आवश्यक है कि संगठन के विभिन्न भागों में संतुलन हो। **कोमरेल** के अनुसार 'किसी व्यवसाय का उचित विकास करने तथा कार्यो में कुशलता प्राप्त करने के लिए संस्था को आंतरिक रूप से पूर्ण संतुलित होना चाहिए । अत: प्रबन्धक को अपनी संस्था में केन्द्रीकरण, अधिकार, प्रत्यायोजन तथा विकेन्द्रीकरण में पूर्ण रूप से संतुलन बनाए रखना चाहिए । यह सिद्धान्त रेखीय अथवा लम्बवत् एवं क्षैतिज संगठन दोनों की ओर इंगित करता है। इसका विस्तृत विवरण हम लोग संगठन संरचना के अध्याय में करेंगे ।

नियंत्रण के विस्तार का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक **एल. ए. ग्रेकुनाज** हैं। उनके अनुसार नियंत्रण के विस्तार से आशय कर्मचारियों की संख्या से है जो एक प्रबन्धक के अधीन कार्य करते हैं । यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि कोई भी व्यक्ति असीमित संख्या में कर्मचारियों के कार्यो का प्रभावी पर्यवेक्षण नहीं कर सकता है । **ग्रेकुनाज** के अनुसार 'कोई भी अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से पाँच और अधिक से अधिक छ: अधीनस्थों का निरीक्षण कर सकता है । **एल. एफ. अर्विक** ने भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'उच्चाधिकारियों की आदर्श संख्या चार है तथा संगठन के निम्न स्तर पर जहां कि कार्यो का निष्पादन किया जाता है यह संख्या आठ के बाहर हो सकती है । उपरोक्त सिद्धान्त कार्य की प्रकृति के अनुसार लागू किया जाना चाहिए, उदाहरणार्थ एक खाई खोदने में लगे हुए पच्चीस-तीस मजदूरों का भी एक पर्यवेक्षक आसानी से पर्यवेक्षण कर सकता है, लेकिन एक ऑफिस में कार्य करने वाले अधिकारी के लिए इतनी बड़ी संख्या उपयुक्त नहीं हो सकती ।

उद्देश्य का सिद्धान्त

अर्विक के अनुसार 'प्रत्येक संगठन का प्रत्येक भाग सम्बन्धित उपक्रम के उद्देश्य का प्रतिबिम्ब होना चाहिए, **कून्टज तथा ओ डोनेल** के शब्दों में समस्त संगठन तथा संगठन के प्रत्येक भाग को उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति में योगदान देना चाहिए । इस प्रकार यह सिद्धान्त बताता है कि संगठन के प्रत्येक सदस्य को संगठन के उद्देश्यों से परिचित होना चाहिए तथा संगठन की प्रत्येक क्रिया उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु की जानी चाहिए । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इस बात पर आधारित है कि संगठन का प्रत्येक सदस्य उसका संघटक अंग है ।

अपवाद का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन **फ्रेडरिक विन्सलो टेलर** ने किया था, इसके अनुसार सामान्यत: प्रबन्धक को अपने अधीनस्थ कर्मचारी के दैनिक औपचारिक कार्यो तथा निर्णयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । उसे (प्रबन्धक) को केवल असामान्य तथा अपवाद जनक दशाओं में ही उनके दैनिक कार्यो में हस्तक्षेप करना चाहिए । अनावश्यक रूप से दखलबाजी करने से अधिनस्थ के मनोभाव को ठेस पहुँचती है और उच्च व अधिनस्थ में अनावश्यक रूप से नोंक-झोंक उत्पन्न हो सकती है ।

मानवीय सम्बन्ध का सिद्धान्त

विलियम बी. कोरनेल के अनुसार 'प्रबन्ध सफल रहता है या असफल, यह इस बात पर निर्भर करता है कि मानवीय सम्बन्ध विवेकपूर्ण बनाए गए हैं या अविवेकपूर्ण । यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करता है कि एक उपक्रम की सफलता एवं असफलता बहुत सीमा तक इसमें स्थापित मानवीय सम्बन्धों पर निर्भर करती है । यदि एक प्रबन्धक की श्रम नीतियां हैं, वह श्रमिकों को अच्छा वेतन एवं कार्य दशाएं प्रदान करता है, उत्पादक उन्हें भौतिक साधन न समझ सृजनशील शक्ति के रूप में स्वीकारता है, संस्था में सहयोगपूर्ण वातावरण बनाए रखता है तथा उन्हें सुलता का साधन समझता है तो उस प्रबन्ध की सफलता का मार्ग भी आसान होगा । प्रबन्धक का यह प्रमुख कार्य है कि वह संगठन के वातावरण को मात्र स्वास्थयप्रद ही नहीं अपितु सुखद भी बनाए रखें ।

समन्वय का सिद्धान्त

मूने तथा रीले ने प्रबन्ध में समन्वय के सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण माना है । **कूंज तथा व्हीरिच** ने तो समन्वय को 'प्रबन्ध की आत्मा या प्रबन्ध का सार' ही कह दिया है । इस सिद्धान्त के अनुसार संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठन के सभी विभागों तथा कर्मचारियों के कार्यो में एकरूपता तथा क्रमबद्धता होनी चाहिए और उनके सभी कार्यकलापों में समन्वय होना चाहिए। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि संस्था के सामान्य उद्देश्यों की सफलता तभी संभव होती है जबकि कर्मचारियों में आपसी सहयोग एवं तालमेल हो ।

नियोजन का सिद्धान्त

वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता **फ्रेडरिक विन्सलो टेलर** ने प्रबंध के नियोजन के सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया है । **कूंज एवं टैरी** ने भी इस सिद्धान्त को महत्वपूर्ण माना है । कूंज ने तो यहां तक लिखा है कि 'अच्छे प्रबन्ध के लिए नियोजन प्राथमिक आवश्यकता है । सार रूप में यह सिद्धान्त बताता है कि भविष्य में किये जाने वाले कार्यो को पहले से ही निर्धारित कर लेना चाहिए इससे संस्था के लक्ष्यों को अधिक निश्चितता एवं निश्चिन्तता से पूरा किया जा सकता है । नियोजन को हम सरलतम रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि नियोजन क्यों? क्या? कब? कैसे? कहाँ? कौन? (Why, What, How, Where,) का उचित उत्तर है ।

प्रमापीकरण का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को **एफ. डब्ल्यू टेलर, हैनरी लारेन्स गैन्ट, फ्रेडरिक इमर्सन** आदि वैज्ञानिक प्रबन्ध के समर्थकों ने विकसित किया था । इनके अनुसार प्रत्येक कार्य के कुछ निश्चित् प्रमाप निर्धारित कर लेने चाहिए । ये प्रमाप सामग्री, उपकरण, कार्य प्रणाली कार्य के घण्टे आदि के

सम्बन्ध में हो सकते हैं । प्रमापीकरण से न केवल प्रमाणित उत्पादन संभव होता है वरन् वस्तुओं की लागत में भी कमी आती है तथा गुणवत्ता में सुधार होता है, परिणामस्वरूप संस्था की प्रतियोगी शक्ति सुदृढ़ होती है और फिजूल खर्ची में कमी आती है ।

10.4.23 सरलता का सिद्धान्त

प्रबन्धक का कार्य निर्णयन ही नहीं, निर्णयों का सभी सम्बन्धित सदस्यों को संवहन भी है। संगठन के सभी सदस्यों को सब संवहन अच्छी तरह से समझने योग्य भाषा में किया जाना चाहिए । संगठन के सभी उद्देश्य, नीतियां, कार्यक्रम, कार्यविधियां आदि भी सरलतम होनी चाहिए क्योंकि यदि सदस्य इन्हें अच्छी तरह से समझ नहीं पायेगा तो क्रियान्वयन भी प्रभावपूर्ण विधि से नहीं हो पायेगी ।

प्रत्यायोजन का सिद्धान्त

आज के युग में प्रबन्ध का प्रयोग बड़े संगठनों के संदर्भ में किया जाता है कुछ प्रबन्ध विशेषज्ञ तो मानते हैं, कि प्रबन्ध एक सामूहिक प्रक्रिया है । बडे संगठनों की संरचना में प्राधिकारिता के तीन स्तर - उच्च, मध्य एवं निम्न माने जाते हैं । कहावत है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता । प्रत्येक स्तर के अधिकारी को अपने अधिनस्थ अधिकारी को कुछ काम सौंपने पड़ते हैं, उनकी क्रियान्विति के लिए उसकी जिम्मेदारी डाली जाती है और क्रियान्वयन कराने के लिए उसे कुछ अधिकारी भी सौंपे जाते हैं । एक उच्च स्तरीय प्रबन्धक द्वारा अपने अधिनस्थ प्रबन्धक को सौंपे जाने वाले आधिकारों को प्रत्यायोजन कहा जाता है । यह प्रत्यायोजन अत्याधिक विवेकपूर्ण विधि से किया जाना चाहिए, तभी संगठन का प्रत्येक सदस्य संगठन के सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति में एक जुट होकर कार्य कर सकता है ।

मानसिक क्रांति का सिद्धान्त

एफ. डब्ल्यू टेलर ने प्रबन्धक को मानसिक क्रांति का सिद्धान्त बताया था । उल्लेखनीय है कि टेलर की पृष्ठभूमि एक इंजीनियर के रूप में थी । वे पेशेवर लेखक नहीं थे । उन्होंने कहा था कि संगठन के प्रबन्धकों एवं प्रबन्धितों की मानसिकता में बदलाव की आवश्यकता है । प्रबन्धक समझे कि कर्मचारी ही संगठन की समृद्धि में मूल योगदान करता है । इसी प्रकार प्रत्येक कर्मचारी समझे कि उसका अधिकतम एवं अच्छा कार्य निष्पादन संगठन की समृद्धि में तो सहायक है ही साथ ही संगठन की समृद्धि से उसके स्वयं के हितों पर भी अधिक वेतन, अन्य कल्याणकारी कार्य के रूप में प्रतिफल मिलेगा । निष्कर्ष रूप में टेलर ने कहा है कि, 'प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक नियोक्ता एवं प्रत्येक कर्मचारी की अधिकतम समृद्धि प्राप्त करना होना चाहिए । '

ध्यान देने की बात है कि प्रबन्ध के प्रकार्यो में उत्प्रेरण, मानवीय व्यवहार, संगठनात्मक व्यवहार आदि का समावेश मनोवैज्ञानिकों ने किया । इस सबके मूल में **टेलर** की मानसिक क्रांति ही है ।

वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त भी प्रमुख रूप से वैज्ञानिक प्रबन्ध के जनक **एफ.डब्ल्यू. टेलर** द्वारा प्रतिपादित किया गया था । उनका कहना है कि प्रत्येक कर्मचारी का चयन व्यवस्थित विधि से (टेलर के शब्दों में वैज्ञानिक) जैसे विज्ञापन, आवेदन मांगना, अभ्यर्थियों की सूची, उपयुक्त लोगों को साक्षात्कार हेतु बुलाना, सही लोगों द्वारा उनका चयन करना आदि के द्वारा होनी चाहिये ।

इससे संगठन में कार्य के लिए उपयुक्त कर्मचारी का चुनाव हो सकता है ओर ऐसा कर्मचारी ही अच्छी तरह से कार्य निष्पादन भी कर सकता

टेलर ने इस बात पर भी जोर दिया कि यदि चयनित कर्मचारी में कुछ जानकारी की कमी है तो उसे योजनाबद्ध प्रशिक्षण नियोजन करके प्रशिक्षित किया जावे । प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद कर्मचारी अधिकतम कार्य निष्पादन कर सकता है और एक वर्कशाप से दूसरे वर्कशाप में भी सफलता से कार्य सकता है । टेलर द्वारा प्रतिपादित चयन व प्रशिक्षण का सिद्धान्त आज भी पूर्ण रूप से लागू होता है ।

यहाँ प्रबन्ध के सभी सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा ये सभी सार्वभौमिक सिद्धान्त हैं । इनका किसी भी संगठन तथा संस्था के प्रबन्ध संचालन में सामान्यत: उपयोग किया जा सकता है । प्रबन्ध के सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता पर कुछ प्रश्नचिन्ह अवश्य लगे हैं, फिर भी इनका महत्व सर्वव्यापी है ।

10.5 सारांश

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि **हेनरी फेयोल** द्वारा प्रतिपादित आधारभूत 14 सिद्धान्त, टेलर द्वारा सुझाए गए कुछ सिद्धान्त अलग-अलग विशेषज्ञों द्वारा सुझाए गए एक या दो सिद्धान्तों का वर्णन प्रबन्ध की पुस्तकों में मिलता है । प्रबन्ध एक गत्यात्मक प्रक्रिया है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि सिद्धान्तों की इतिश्री हो चुकी है । मानव में सृजनात्मक शक्ति है । मौलिक विचारक उपरोक्त सिद्धान्तों में कमियां निकालेंगे और साथ ही साथ नवीन सिद्धान्त भी प्रतिपादित करेंगे, फिर भी प्रबन्ध की पृष्ठभूमि की अवधारणा के लिए उपरोक्त सिद्धान्त अपने आप में पर्याप्त हैं ।

10.6 पारिभाषिक शब्द

10.6.1 **प्रत्यायोजन:** एक उच्च अधिकारी द्वारा अपने अधीनस्थ एक अधिकारी को कार्य सौंपना एवं उसके सम्बन्ध में अधिकार प्रदान करना, प्रत्यायोजन कहलाता है ।

10.6.2 **रेखा अथवा लम्बवत् संगठन:** उच्च अधिकारी से निम्न अधिकारी तक अधिकारों, दायित्वों एवं सहवन का प्रवाह रेखा संगठन कहलाता है ।

10.6.3 **क्षैतिज संगठन:** समान स्तर के अधिकारियों में अधिकार एवं दायित्वों का निर्धारण क्षैतिज संगठन कहलाता है ।

10.6.4 **प्रबन्ध:** प्रबन्ध एक निर्णय लेने तथा सम्प्रेषण की प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य, सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करना होता है, तथा प्रबन्धक उसे अनुकूल वातावरण (स्वस्थ एवं सुखद) बनाकर और नियोजन, संगठन, सम्प्रेषण, अभिप्रेरणा एवं नियंत्रण में युक्तियुक्त मिश्रण स्थापित करके प्राप्त करता है ।

10.6.5 **सिद्धान्त:** ऐसे आधारभूत विवरण या सर्वमान्य सत्य है जिनका उपयोग किसी क्रिया के सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए मार्गदर्शक नियमों के रूप में उपयोग किया जाता है ।

10.6.6 **श्रम-विभाजन:** सम्पूर्ण कार्य को छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके कर्मचारी को सौंपना श्रम विभाजन कहलाता है ।

10.6.7 **आदेश की एकता:** एक कर्मचारी को केवल एक ही अधिकारी या पर्यवेक्षक से आदेश प्राप्त होना ही आदेश की एकता कहलाता है ।

10.6.8 **नियंत्रण का विस्तार:** नियंत्रण के विस्तार से आशय अधीनस्थों की उस संख्या से है, जिनका एक प्रबन्धक कुशलतापूर्वक पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण कर सकता है ।

10.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "हेनरी फेयोल द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध के सिद्धान्त समय की जांच के अनुसार खरे उतरे हैं सिद्धान्तों को समझाते हुए उपरोक्त कथन की समीक्षा कीजिए ।
2. प्रबन्ध के सिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए ।
3. हेनरी फेयोल के सिद्धान्तों के अतिरिक्त भी अन्य प्रबन्धकों ने प्रबन्ध के अन्य सिद्धान्त बताये हैं । फेयोल को सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि देते हुए अन्य सिद्धान्तों का भी वर्णन कीजिए ।

10.8 उपयोगी पुस्तकें

1. सक्सैना, डी. एस.सी., **प्रबन्ध के सिद्धान्त** (साहित्य भवन, आगरा)
2. सुधा, जी.एस., **व्यावसायिक प्रबन्ध** (शीलसन्स जयपुर) ।
3. उपाध्याय, आर.बी एवं अन्य, **व्यावसायिक प्रबन्ध** (रमेश बुक डिपो, जयपुर) ।
4. नौलखा, डॉ. आर.एल. **प्रबन्ध के सिद्धान्त** (रमेश बुक डिपो, जयपुर) ।
5. सिंघल, जे.पी. **प्रबन्ध** (अजमेर बुक कम्पनी, जयपुर) ।
6. माथुर, डी. बी.एस. एवं माथुर, डॉ. नवीन, Management (नेशनल पब्लिकेशन्स, जयपुर) ।
7. टेरी, जॉर्ज. आर. Principles of Management (रिचार्ड. डी. इरिवन) ।
8. कूंज एवं ओ. डोनेल Principles of Management (मैक ग्रा हिल) ।
9. ड्रकर, पीटर. एफ. The Essence of Management
10. **ब्रैच,** ई.एफ.एल. The Principles and Practice of Management (लौंगमैन पब्लिकेशन, न्यूयार्क) ।
11. सिंह, बी.पी एवं अन्य, **व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध का परिचय** (किताब महल, इलाहाबाद) ।

इकाई - 11 : प्रबन्ध की प्रकृति एवं क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 प्रबन्ध का इतिहास

11.2.1 प्रबन्ध का विकास

11.3 प्रबन्ध-अर्थ एवं परिभाषाएँ

11.4 प्रबन्ध का महत्व

11.5 प्रबन्ध की प्रकृति

11.6 प्रबन्ध का क्षेत्र

11.7 सारांश

11.8 पारिभाषिक शब्द

11.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.10 उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य

विद्यार्थियों, आपको प्रबन्ध के सिद्धान्तों का परिचय के रूप में ज्ञान करवाने के उपरान्त इस पाठ में उस ज्ञान के क्षेत्र की आधारभूत बातें स्पष्ट करवाने का प्रयास है । ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में समझाने और संवहन की सुविधा के लिए कुछ अवधारणाएं बनाई जाती है । प्रबन्ध के क्षेत्र में भी ऐसी अवधारणाएं बनाई गई हैं । इस पाठ का उद्देश्य आपको उनसे अवगत कराना है ।

11.1 प्रस्तावना

मानव की स्वरक्षा, वंश रक्षा एवं स्वलाभ जन्मजात प्रवृत्ति है । वह एक सामाजिक प्राणी है, इसी कारण मानव ने सदैव समूहों में रहकर ही जन्मजात प्रवृत्तियों को पूरा करने का प्रयास किया है । आधुनिक युग में यह अवधारणा, समूह से अलग रहकर एकाकी रूप में वह अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा सकता है, अस्तित्व खो चुकी है । उपरोक्त आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए यह आवश्यक है कि वह सदैव समूहों में रहकर ही कार्य करे भले ही जीवन का कोई भी क्षेत्र हो । सभी जगह मानव समूह के रूप में कार्यरत दृष्टिगोचर होता है । जब किसी व्यक्ति या समूह के सम्मुख लक्ष्य या उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रश्न पैदा होता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि सामूहिक प्रयासों को यथाविधि नियोजित, संगठित, निर्देशित, समन्वित व नियंत्रित रूप से किया जाये । इस प्रक्रिया को ही प्रबन्ध कहते हैं । चाहे मनुष्य को स्वयं कार्य करना हो या अन्य व्यक्तियों से करवाना हो अथवा अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर कार्य करना हो, प्रबन्ध ही लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रमुख माध्यम होता है ।

11.2 प्रबन्ध का इतिहास

प्रबन्ध का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना पुराना मानव इतिहास । इसकी उत्पत्ति मानव की आधारभूत प्रवृत्तियों को पूरा करने के साथ-साथ ही हुई है । प्राचीन विकसित संस्कृतियों जैसे मिश्र, सुमेरियन, रोम, यूनान, ग्रीस, चीन एवं भारत आदि देशों के इतिहास में उस समय की प्रचलित प्रबन्ध व्यवस्था द्वारा प्राप्त की गई अनेक उपलब्धियों की झलक मिलती है । मिश्र के विश्व प्रसिद्ध पिरामिड तत्कालीन मिस्रवासियों की यांत्रिक दक्षता, प्रबंध कुशलता एवं तकनीकी ज्ञान की कहानी प्रस्तुत करते हैं । **सुमेरियन** सभ्यता में मंदिरों के पुजारी प्रबन्ध के जानकार थे । वैज्ञानिक प्रबंध से सम्बन्धित अनेक मौलिक विचार यूनान की सभ्यता में भी मिलते हैं । **सुकरात, प्लेटो और अरस्तु** जैसे यूनानी दार्शनिकों के चिंतन में प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक तत्व समामेलित हैं । **चीन** के शाही अभिलेखाकार का रक्षक एवं महान् दार्शनिक **लाओत्स्यू** द्वारा मानवीय संस्थाओं के प्रबन्ध के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये विचार एवं दी गई सलाह आधुनिक प्रबन्ध विचारों से काफी समानता रखते हैं । **गीस** में स्थीनियन राष्ट्र मण्डल की विद्यमानता भी यह स्पष्ट करती है कि वहां काफी समय पहले ही प्रबन्ध कार्यो के वर्गीकरण के महत्त्व को समझ लिया गया था । **रोम** की कुशल प्रशासकीय व्यवस्था के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहां किसी न किसी रूप में प्रबन्ध ज्ञान का प्रयोग किया जाता था । बाइबिल में वर्णन है कि **इजराइल में मूसा** ने प्रबन्ध कार्यो के लिए योग्य एवं कुशल व्यक्तियों का चयन किया जो स्वयं निर्णय करते थे ओर अपवाद सिद्धान्त को मानकर कुछ निर्णय मूसा से करवाते थे । भारत में वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, गीता आदि में सटीक बातें प्रबन्ध के सिद्धान्तों एवं प्रकार्यो से मेल खाते हैं । **कौटिल्य के अर्थशास्त्र** में भी प्रबन्ध के लागू होने का सांगोपाग वर्णन मिलता है । यही नहीं **मोहन जोदड़ो** एवं **हडप्पा** की सभ्यताएं, **अजन्ता एवं एलोरा, खजुराहो की कला-कृत्तियाँ,** भारत में प्रबन्ध के विकास का सूचकांक हैं ।

11.2.1 प्रबन्ध का विकास

आधुनिक प्रबन्ध का विकास आर्थिक विकास से जुड़ा हुआ है । इन अवस्थाओं में श्रमिकों का समूहीकरण एवं श्रम विभाजन, उत्पादन क्रियाओं का मशीनीकरण तथा बडे पैमाने के उद्योग आते हैं ।

आधुनिक प्रबन्ध के विकास में प्रबन्ध की विचारधाराओं का विकास निम्न प्रकार से माना गया है -

वैज्ञानिक प्रबन्ध, प्रक्रिया प्रबन्धन, अनुभव आश्रित, मानव व्यवहार, सामाजिक प्रणाली, तकनीकी, निर्णयन, गणितीय (प्रबन्ध विज्ञान), प्रणालीगत परिस्थितिजन्य एवं प्रबन्धकीय भूमिका । कालानुसार प्रबन्ध के विकास के तीन चरण हैं ।

क **प्राचीन काल :** प्रबन्ध का अव्यवस्थित विकास 16वीं शताब्दी के मध्य में औद्योगिक विकास के साथ हुआ था । इसके प्रमुख लक्षण थे - एकाकी स्वामित्व, हस्तकला, दस्तकारी, स्थानीय बाजार, विक्रेता विपणि, उत्पादक व उपभोक्ता में सीधा सम्बन्ध, पैतृक स्वामित्व आदि । इस काल में **इंग्लैण्ड, फ्रांस** तथा **इटली** में **गिल्ड प्रणाली** थी ।

इस अवस्था के अंतिम काल में गिल्ड प्रणाली कमजोर पड़ने लगी थी तथा कुटीर उद्योगों का विकास होने लगा था । व्यवसायी कच्चा माल तथा अन्य उपकरण एकत्रित करके कारीगरों के घरों पर भेज देते थे । कारीगर उत्पादित माल को व्यवसायी को सौंप देते थे जो उसको बाजार में आसानी से बेच देते थे । इसके अंतिम चरण में व्यापार के क्षेत्र में बहुआयामी विस्तार होने लगा था ।

ख **मध्य काल :** यह प्रबन्धकीय क्रांति का काल कहलाता है । इसमें **कारखाना प्रणाली** का प्रार्दुभाव हुआ । 18वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में औद्योगिक-क्रांति हुई, जिसके कारण उत्पादन श्रमिकों की अपेक्षा मशीनों की सहायता से किया जाने लगा । इससे समय एवं श्रम की बचत हुई। इस काल में कुटीर उद्योगों का स्थान विशालकाय उद्योग लेने लगे । इस समय पूँजीपतियों के विकास के साथ-साथ आर्थिक विषमता में वृद्धि हुई । कानूनों के अभाव में श्रमिकों और उपभोक्ताओं का शोषण होने लगा ।
प्रबन्धकीय विकास की इस अवस्था में एकाकी व्यवसायी के स्थान पर संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों की स्थापना होने लगी । कारखानों का आकार बड़ा होने लगा । औद्योगिक क्रांति तथा कारखाना प्रणाली के अनेक दोष सामने आने लगे, श्रम संघों का विकास हुआ तथा व्यवसाय में माल बेचने की समस्या उत्पन्न होने लगी और बाजार का आकार बढ़कर स्थानीय से राष्ट्रीय तथा अर्न्तराष्ट्रीय हो गया । ऐसी परिस्थितियों में प्रबन्ध का महत्त्व बढ़ गया । पूँजीपति तथा श्रमिक दो वर्ग बन जाने के कारण औद्योगिक संघर्ष भी बढ़ने लगे । इन सब परिस्थितियों का सामना करने के लिए प्रबन्धकीय तकनीकों का विकास हुआ । व्यवसायी स्वयं भी सभी प्रकार का प्रबन्ध करने में अपने आपको असमर्थ पाने लगा, अत: पेशेवर प्रबन्धक वर्ग का जन्म तो हुआ फिर भी तीर-तुक्का विधि से ही निर्णय लिये जाते थे तथा विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन की तकनीकों का प्रयोग नहीं के बराबर होता था । धीरे-धीरे प्रबन्ध में बाजार अभिमुखता ने प्रवेश किया ।

ग **आधुनिक काल:** यह बीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ । इस काल में कुछ प्रबन्ध विशेषज्ञों तथा विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के अनुसंधान करके नयी प्रबन्धकीय तकनीकों का विकास किया । **टेलर** ने **वैज्ञानिक प्रबन्ध** का प्रतिपादन किया, जिसके विकास में **इमरसन गैण्ट, गिलब्रेथ** आदि अनुभवी प्रबन्धकों ने योगदान दिया । वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रादुर्भाव के कारण परम्परागत प्रबन्ध का अंत होने लगा । इसी काल में **हेनरी फेयोल** ने प्रबन्ध के विभिन्न सिद्धान्तों एवं प्रक्रिया का प्रतिपादन किया । श्रमिकों के साथ मानवीय व्यवहार का प्रादुर्भाव हुआ । वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों तथा विधियों के प्रयोग से समय एवं श्रम में बचत होने लगी और व्यावसायिक उपक्रमों में हानि के स्थान पर लाभ होने लगा । धीरे-धीरे तकनीकी विकास के साथ-साथ प्रबन्धकीय तकनीकों का भी विकास होने लगा । बाजार अनुसंधान पर जोर दिया जाने लगा । उपभोक्ता को केन्द्र बिन्दु मानकर उत्पादन किया जाने लगा ताकि उपभोक्ता संतुष्टि के साथ लाभों में वृद्धि करना संभव हो सके । पेशेवर प्रबन्धकों का विकास हुआ जिसके कारण प्रबन्ध के क्षेत्र में भी विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिला । किस्म नियंत्रण,

आय-व्यय नियंत्रण आदि तकनीकों का विकास हुआ तथा उद्योग के प्रबन्ध में श्रमिकों को भागीदार बनाया जाने लगा । अब प्रबन्ध को एक विज्ञान माना जाता है और इसका निरन्तर विकास होता जा रहा है ।

11.3 प्रबन्ध-अर्थ एवं परिभाषाएं

वर्तमान युग में 'प्रबन्ध' दूसरों से कार्य करवाने की कला मात्र ही नहीं है । यह एक व्यापक शब्द है जिसे आधुनिक औद्योगिक जगत में कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है । **संकुचित अर्थ** में इससे आशय '**अन्य व्यक्तियों से काम कराने की युक्ति**' से है । इस दृष्टि से जो व्यक्ति अन्य लोगों से काम कराने की क्षमता रखते हैं, उन्हें 'प्रबन्धक' कहते हैं । व्यापक अर्थ में प्रबन्ध एक प्रक्रिया है जो पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उत्पादन के विभिन्न घटकों में समन्वय स्थापित करती है । इस दृष्टि से यह स्वयं उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण घटक है । उत्पादन के विभिन्न साधनों में भूमि पूँजी व मशीन भौतिक साधन हैं जबकि श्रम, साहस व प्रबन्ध मानवीय साधन हैं । प्रबन्ध इसमें सबसे सार्थक साधन है इसमें उत्पादन के साधनों का एकत्रीकरण, नियोजन संगठन समन्वय, संचालन व नियंत्रण किया जाता है ।

प्रबन्ध की परिभाषाएँ :

प्रबन्ध की अवधारणा को अनेक प्रबन्धकों ने अपने दृष्टिकोण से व्यक्त किया है । जिनमें अधिक लोकप्रिय निम्नांकित हैं -

1. **हेनरी फेयोल -** 'प्रबन्ध करने से आशय पूर्वानुमान लगाने एवं योजना बनाने संगठन की व्यवस्था करने, निर्देश देने, समन्वय करने तथा नियंत्रण करने से है ।"
2. **पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार -** 'प्रबन्ध एक उद्देश्य अभिमुखी प्रक्रिया है ।
3. **चेस्टर आई. बर्नाड के अनुसार -** 'प्रबन्ध संवहन की प्रक्रिया है' ।
4. **हरबर्ट साइमन के अनुसार -** 'प्रबन्ध निर्णयन की प्रक्रिया है' ।
5. **जार्ज आर. टेरी के अनुसार -** 'प्रबन्ध एक पृथक प्रक्रिया है जिसमें नियोजन, संगठन, क्रियान्वयन तथा नियंत्रण का समावेश किया जाता है तथा इनका निष्पादन व्यक्तियों एवं साधनों के उपयोग द्वारा उद्देश्यों को निर्धारित एवं प्राप्त करने के लिए किया जाता है' ।
6. **एफ. डब्ल्यू टेलर के अनुसार -** 'प्रबन्ध यह जानने की कला है कि क्या करना है तथा उसे करने का सर्वोत्तम एवं सबसे रास्ता तरीका क्या है' ।
7. **क्रीटनर के अनुसार -** प्रबन्ध परिवर्तनशील वातावरण में दूसरों के साथ तथा दूसरों से कार्य करवाने की प्रक्रिया है । सीमित संसाधनों का प्रभावी तथा कुशलतापूर्वक उपयोग करना इस प्रक्रिया का आधार है ।
8. **ई. एफ.एल. ब्रेच के अनुसार -** प्रबध एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो किसी उपक्रम के निर्धारित उद्देश्यों अथवा कार्य को पूरा करने के लिए इसकी क्रियाओं के प्रभावपूर्ण नियोजन एवं नियमन करने के लिए उत्तरदायित्व को स्पष्ट करती है ।

एक कहानी के अनुसार राजा के हाथी को अन्धे आदमियों ने छुआ और उसका आंशिक वर्णन किया । आंशिक वर्णन करने वाली उपरोक्त परिभाषाओं को समामेलित करके प्रबन्ध की निम्नांकित व्यापक परिभाषा दी जा सकती है ।

प्रबन्ध एक निर्णय लेने तथा सम्प्रेषण की प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करना होता है, तथा प्रबन्धक उसे अनुकूल वातावरण बनाकर और नियोजन, संगठन, सम्प्रेषण, अभिप्रेरण एवं नियंत्रण में युक्तियुक्ता मिश्रण स्थापित करके प्राप्त करता है ।

11.4 प्रबन्ध का महत्व

किसी भी देश से गरीबी दूर करना, जीवन स्तर में सुधार लाना, सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति आदि मानव के समूहिक प्रयासों पर निर्भर करता है । इस सम्बन्ध में **पीटर. एफ. ड्रकर** ने लिखा है कि 'आज का विकसित समाज अपने मुख्य संस्थानों के नेतृत्व के लिए पूँजीपति व उद्योगपति पर नहीं वरन् प्रबन्धकों पर निर्भर है । यह उनके ज्ञान, दृष्टि एवं उत्तरदायित्व पर निर्भर करता है । एक कुशल प्रबन्धक प्रत्येक राष्ट्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण धरोहर होता है । ये ही एक देश में रोजगार, आय व धन-सम्पदा का सृजन करके सामाजिक कल्याण में वृद्धि करता है । **जॉन एफ. मी** ने लिखा है कि 'प्रबन्ध किसी भी देश के आर्थिक विकास की कुंजी है । अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति **रूजवेल्ट** ने ठीक ही कहा है कि एक सरकार बिना श्रेष्ठ प्रबन्ध के रेत पर बने हुए मकान के समान है । अत: केवल व्यवसाय या सरकार ही नहीं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रबन्ध का अद्वितीय स्थान है । प्रबन्ध किसी भी देश के आर्थिक विकास की कुंजी है । **डॉल्टन इ मैक्रफारलैंड** का कथन है कि प्रबन्ध समस्त व्यावसायिक क्रियाओं का मुख्य आधार है । प्रबन्ध के महत्त्व को स्वीकार करते हुए **पीटर एफ. ड्रकर** ने लिखा है कि प्रबन्ध के बिना कोई संस्था नहीं होती है ।

इस प्रकार वर्तमान काल में प्रबन्ध का महत्व बढ़ता ही जा रहा है । इसके बिना किसी भी संस्था एवं राष्ट्र का उत्तम विकास संभव नहीं है यही वह माध्यम है जिसके द्वारा समाज के सभी वर्गो के हितों में वृद्धि की जा सकती है । इसके सम्बन्ध में प्रबन्ध शास्त्री **किलियन** ने लिखा है कि प्रबन्ध साधनों के स्वामी की भूमिका स्वीकार करते हुए उपक्रम कर्मचारियों, स्वामियों तथा समाज के हित के लिए मानवता का सेवक बन जाता है।

वर्तमान काल में प्रबन्ध के बढ़ते हुए महत्व के निम्नलिखित कारण हैं :-

1. **साधनों का सर्वातम उपयोग:** किसी भी राष्ट्र की समृद्धि सीमित साधनों के विवेकपूर्ण उपयोग तथा विदोहन पर निर्भर करती है । यदि किसी राष्ट्र में श्रम, पूँजी, भूमि, साहस तथा संगठन का समुचित संयोग हो तथा उनका अधिकतम विदोहन न्यूनतम अपव्यय के साथ हो तो समाज की असीमित आवश्यकताओं को इन साधनों के द्वारा संतुष्ट किया जा सकता है । इस सम्बन्ध में **ब्रैच** ने स्पष्ट लिखा है कि मानवीय एवं भौतिक साधनों में न्यूनतम प्रयत्नों द्वारा अधिकतम उत्पादन की प्राप्ति केवल कुशल प्रबन्ध द्वारा ही संभव है ।
2. **पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति:** प्रत्येक उपक्रम की स्थापना कुछ लक्ष्यों जैसे- आर्थिक सामाजिक आदि की प्राप्ति के लिए की जाती है और लक्ष्यों की प्राप्ति के आधार पर

व्यवसाय की क्षमता का निर्धारण होता है । उपक्रम का प्रबन्धक यदि कुशल तथा योग्य है तो अपनी विशिष्ट योग्यता, दूरदर्शिता तथा कल्पना के आधार पर इस प्रकार के नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण, समन्वय तथा नियंत्रण की विधियों का निर्माण कर सकेगा, जिससे कि सौहार्दपूर्ण वातावरण में लक्ष्यों की प्राप्ति सरलता से हो सके ।

3. **सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति: ब्रैच, न्यूमैन तथा वारन** आदि विद्वानों ने 'प्रबन्ध को **'सामाजिक प्रक्रिया'** कहा है । प्रबन्ध के समाज का एक अंग होने की बात इस विचार से पुष्ट होती है । सामाजिक व्यवस्था का एक भिन्न अंग होने के कारण प्रबन्ध के कुछ सामाजिक उत्तरदायित्व भी हैं । भारत जैसे प्रजातंत्रीय देश में तो प्रबन्ध की यह भूमिका ओर भी अधिक महत्वपूर्ण बन जाती है । देश के उपभोक्ता, विनियोजक, सरकार एवं कर्मचारी, प्रबन्धक ही एक ऐसी प्रक्रिया का निर्धारण करने में सक्षम हैं, जिससे प्रबन्धकीय कार्यो का सम्पादन इस भांति किया जाये जिससे कि समाज के किसी भी वर्ग की महत्वाकांक्षाओं को ठेस न लगे ।
4. **सामाजिक उत्थान में योगदान:** समाज अनेक प्रकार की समस्याओं, जैसे - गरीबी, बेरोजगार, अशिक्षा, छूआछूत आदि से ग्रस्त रहता है । कुशल प्रबन्ध इन सामाजिक समस्याओं के निवारण में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है । प्रबन्ध को आधुनिक युग में समाज का एक अभिन्न अंग माना जाता है और उनमें मनोविज्ञान, समाजशास्त्र एवं व्यवहार विज्ञान का प्रयोग बढा हैं । ये सभी तत्व प्रबन्ध को सामाजिक उत्थान में योगदान के लिए प्रेरित करते हैं ।
5. **उत्पादकता में वृद्धि: रु तथा बिआर्स** के अनुसार, उत्पादकता पर सर्वाधिक प्रभाव डालने वाला एक तत्व दक्ष या कुशल' प्रबन्ध ही है । दक्ष एवं कुशल प्रबन्ध संस्था के संसाधनों की उत्पादकता में वृद्धि करता है तथा अनुत्पादक संसाधनों को उत्पादक बनाता है व किसी भी साधन को बेकार नहीं होने देता है । संक्षेप में, कुशल प्रबन्ध संस्था के संसाधनों की उत्पादकता में वृद्धि कर सकता है ।
6. **आर्थिक समृद्धि का महत्वपूर्ण तत्व: कूण्ट्ज ओ डोनेल तथा व्हीरिच** के मतानुसार किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि कुशल प्रबन्ध पर निर्भर करती है । किसी भी देश का दूसरे देश की तुलना में तीव्रगति से विकास करना अच्छे प्रबन्ध का ही परिणाम है, क्योंकि प्रबन्ध के माध्यम से ही तमाम आर्थिक क्रियाओं को इस प्रकार निर्देशित किया जा सकता है, जिससे तीव्र गति से विकास संभव हो सके ।
7. **व्यावसायिक जटिलताओं से मुक्ति:** औद्योगिक विकास एवं वृहद् पैमाने पर उत्पादन ने व्यावसायिक क्षेत्र में कई प्रकार की जटिलताएं उत्पन्न कर दी हैं । आज श्रमिक तथा उद्योगपति के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव है, नियंत्रण का क्षेत्र विस्तृत है, प्रतिस्पर्धा का बाहुल्य है तथा विशिष्टीकरण आवश्यक है । इन तमाम जटिलताओं का समाधान प्रबन्ध में ही निहित है, क्योंकि वही अपने विशिष्ट ज्ञान एवं कौशल से इन जटिलताओं को दूर कर उद्योगों का मितव्ययितापूर्ण संचालन कर सकता है ।

8. **सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षक:** एक कुशल प्रबन्धक उन नीतियों को अपनाता है जो मूल्य आधारित है और उस शैली से कार्य करता है जो सम्बन्ध केन्द्रित है, इसलिए वह येन-केन प्रकारेण लाभ कमाने के स्थान पर अच्छे मानवीय सम्बन्धों के निर्माण में विश्वास करता है, फलस्वरूप प्रबन्धक समाज की स्थापना मान्यताओं, विश्वासों, परम्पराओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करता है एवं उन्हें प्रोत्साहित भी करता है ।
9. **संकटों का समाधान:** वर्तमान काल में व्यावसायिक संस्थाओं को अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है । जैसे - पेट्रोल संकट, कच्चे माल का संकट, विद्युत संकट, कर्मचारी संकट, विदेशी मुद्रा संकट, आर्थिक संकट आदि । एक कुशल प्रबन्धक ही इन सभी संकटों का उचित समाधान खोजकर संस्था को बिना किसी बाधा के संचालित करता है ।
10. **व्यक्तियों का विकास:** प्रबन्ध वस्तुओं का निर्देशन ही नहीं है, बल्कि व्यक्तियों का विकास भी है । उपर्युक्त प्रशिक्षण व अन्य प्रबन्धकीय तकनीकों के माध्यम से प्रबन्ध संस्था के कर्मचारियों को उच्च से उच्चतर कार्य निष्पादन योग्य बनाये रखने का प्रयास करता है ।

11.5 प्रबन्ध की प्रकृति

आधुनिक गलाकाट स्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में प्रबन्ध न केवल अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गया है बल्कि व्यापक और जटिल भी बनता जा रहा है । अत: इसकी प्रकृति को स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है । बोलचाल की भाषा में प्रकृति किसी विषय वस्तु के स्वभाव के दृष्टिकोण को व्यक्त करती है । प्रत्येक प्रबन्धशास्त्री ने प्रबन्ध की प्रकृति को अपने-अपने दृष्टिकोण से समझाने का प्रयास किया है, परिणामस्वरूप प्रबन्ध की प्रकृति के बारे में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत पाये जाते हैं । उदाहरण के लिए, प्रबन्ध के जनक **एफ.डब्ल्यू टेलर** ने प्रबन्ध को विज्ञान एवं कला तथा **तकनीकी निश्चय बाद लारेन्स ए. एप्पले** ने **'सेविवर्गीय प्रशासन', ई.एफ.एल ब्रेच** ने **'सामाजिक प्रक्रिया', पीटरसन एवं प्लोमैन** ने **'एक तकनीक, हेनरी फेयोल** ने **'सार्वभौमिकता', ओलीवर शैल्डन** ने **समझौते की भावना,' आर.सी.डेविस** ने **'एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया, मेरी कुशिंग नाइल्स** ने **'एक सामाजिक दायित्व, किम्बाल एवं किम्बाल** ने **'एक कला', पीटर एफ. ड्रकर** ने **'आर्थिक पहलू'** आदि की संज्ञा दी ।

इस प्रकार विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर हम प्रबन्ध की प्रकृति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं -

1. प्रबन्ध कला अथवा विज्ञान ।
2. प्रबन्ध एक पेशा ।
3. प्रबन्ध जन्मजात प्रतिभा अथवा अर्जित ज्ञान है ।
4. प्रबन्ध एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है ।
5. प्रबन्ध एक प्रणाली है ।

6. प्रबन्ध सामाजिक उत्तरदायित्व है ।
7. प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है ।
8. प्रबन्ध: एक न्यासिता है ।
9. प्रबन्ध एक बहु विषयक दृष्टिकोण है ।
10. प्रबन्ध में संस्कृतिबद्धता है ।

1. (अ) प्रबन्ध एक कला है

प्रबन्ध कला है या नहीं, इस तथ्य की जांच करने से पूर्व हमें यह जानना होगा कि - कला क्या है? इसके क्या लक्षण होते है? तथा क्या ये लक्षण प्रबन्ध शास्त्र में पाए जाते हैं? कला, किसी भी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करने की क्रिया है, इसके द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यों को सरलता से प्राप्त किया जाता है । **जार्ज आर. टैरी** के अनुसार, 'चातुर्य के प्रयोग से इच्छित परिणाम प्राप्त करना ही कला है' **थियो हैमन** ने कला की परिभाषा को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'कला का आशय पहले यह जानना है कि किसी कार्य को किस प्रकार किया जा सकता है ओर उसे वास्तव में उसी प्रकार करना है' ।

विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि कला में निम्न लक्षण हैं -

(i) कला हमें इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ज्ञान एवं चातुर्य का प्रयोग करना बताती है। यह कार्य के क्रियान्वयन पक्ष से सम्बन्ध रखती है । प्रबन्ध कार्य में प्रबन्धकीय ज्ञान, अध्ययन, अनुभव एवं चातुर्य का उपयोग किया जाता है ।

(ii) कला व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करती है, जिसे अभ्यास, लगन परिश्रम व अनुभव द्वारा निखारा जा सकता है । ठीक इसी प्रकार संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रबन्ध के व्यक्तिगत गुण जैसे रचनात्मक चिन्तन, आत्मविश्वास, दूरदर्शिता, गतिशीलता' नेतृत्व एवं निर्णय क्षमता, संवहन योग्यता आशावादिता अत्यन्त सहायक होते हैं ।

(iii) कला का हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता, किन्तु इसे सीखा जा सकता है । प्रबन्ध योग्यता का भी हस्तान्तरण संभव नहीं है क्योंकि यह व्यक्तिपरक होती है । प्रत्येक प्रबन्धक इसे अपने प्रयासों से ही विकसित करता है ।

(iv) कला में अभ्यास पक्ष महत्वपूर्ण होता है । केवल मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान से व्यक्ति कुशल कलाकार नहीं बन सकता है । सफलता के लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है जैसा कि आपने एक सफल विक्रयकर्ता में देखा होगा । प्रबन्ध कला काफी सीमा तक अभ्यास एवं अनुभव पर निर्भर करती है । **पीटर ड्रकर** लिखते हैं कि 'प्रबन्ध एक व्यवहार है । इसका सारतत्व जानना नहीं वरन् करना है । इसका विकास व्यवहार से ही हुआ है और यह व्यवहार पर ही केन्द्रित है ।

कला का हस्तांतरण नहीं किया जा सकता है, बल्कि यह सिखायी जाती है, ठीक इसी प्रकार प्रबन्धकीय ज्ञान का शिक्षण एवं प्रशिक्षण संभव है, किन्तु इसका भी हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता है । कला के सिद्धान्त शत-प्रतिशत सत्य नहीं होते हैं, देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप इन्हें विकसित किया जाता है । ठीक यही बात प्रबन्ध के सिद्धान्त पर लागू होती है ।

उपरोक्त सभी लक्षणों के आधार पर प्रबन्ध को एक कला कहा जा सकता है । **पीटर एफ. ड्रकर** ने लिखा भी है कि **'प्रबन्ध व्यवहार (कला) है न कि विज्ञान, टैरी तथा फ्रेंकलिन ने भी लिखा है कि 'प्रबंध कलाओं की कला है, क्योंकि यह मानवीय कौशल का संगठन एवं उपयोग करती है ।"**

(ब) प्रबन्ध एक विज्ञान है

विज्ञान के रूप में प्रबन्ध की प्रकृति को समझने के लिए पहले विज्ञान का अर्थ लक्षण एवं इनको किस सीमा तक प्रबन्ध में लागू किया जा सकता है का अध्ययन आवश्यक है ।

किसी भी प्रकार का व्यवस्थित ज्ञान जो किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित हो विज्ञान' कहलाता है । यह ज्ञान का वह स्वरूप है जिसमें अवलोकन व प्रयोग द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं तथा कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है । **जार्ज आर. टेरी** के शब्दों में, विज्ञान किसी भी विषय, उद्देश्य अथवा अध्ययन का सामान्य सत्यों के संदर्भ में संग्रहित तथा स्वीकृत व्यवस्थित ज्ञान है । एक अन्य परिभाषा के अनुसार जो संगठित एवं व्यवस्थित ज्ञान कारण-परिणाम सम्बन्धों पर आधारित है जिसके निष्कर्ष आगमन (विशिष्ट से सामान्य के लक्षण) व निगमन (सामान्य से विशिष्ट के लक्षण बताना) प्रणालियों के उत्पाद हैं और जिनके निष्कर्षो में सार्वभौमिकता (देश, काल और परिस्थिति के अनुसार समान रूप से लागू होना) होती है उसे हम विज्ञान' कहते हैं । विज्ञान को पुन: दो वर्गो में विभक्त किया जा सकता है - (i) वास्तविक विज्ञान अर्थात् 'क्या है? का ज्ञान और (ii) नीति प्रधान विज्ञान अर्थात् क्या होना चाहिए'? का ज्ञान । वास्तविक विज्ञान के अन्तर्गत हम केवल वास्तविक अथवा वर्तमान अवस्था का ही अध्ययन करते हैं, जबकि नीति-प्रधान विज्ञान के अन्तर्गत हम आदर्श भी निर्धारित करते हैं । विज्ञान के प्रमुख लक्षण निम्न हैं - (i) विज्ञान, ज्ञान का क्रमबद्ध अध्ययन है (ii) यह अवलोकन, अनुसंधान एवं परीक्षण का उत्पाद है तथा सत्य तथ्य एवं निष्कर्षो पर आधारित है । (iii) इसके कारण हम परिणाम में सम्बन्ध पाया जाता है, (iv) विज्ञान रूपी ज्ञान अर्जित किया जा सकता है, (v) विज्ञान सार्वभौमिक होता है । प्रबन्ध एक विकासशील विज्ञान है । यह अपने नियमों, सिद्धान्तों, विधियों, तकनीकों आदि के साथ दिन-प्रतिदिन आयामों के साथ विकसित हो रहा है ।

क्या प्रबन्ध 'विज्ञान' है? - प्रबन्ध की तुलना यदि विज्ञान के उपर्युक्त लक्षणों के साथ की जाये तो निश्चयपूर्वक इसे विज्ञान की श्रेणी में रख सकते हैं क्योंकि (i) प्रबन्धशास्त्र भी ज्ञान का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन है, (ii) प्रबन्ध के सिद्धान्त अवलोकन, अनुसंधान एवं परीक्षण के उत्पाद हैं । सभी सिद्धान्त सत्य, तथ्य एवं निष्कर्षो पर आधारित हैं (iii) प्रबन्ध के सिद्धान्त कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध भी रखते हैं, प्रबन्ध-ज्ञान को शिक्षण एवं प्रशिक्षण द्वारा अर्जित भी किया जा सकता है ।

जैसा कि बी.बी.ए एवं बी.ए. के विद्यार्थी कर रहे है । (iv) प्रबन्ध के निम्नलिखित सिद्धान्त सार्वभौमिक उपयोगिता के सिद्धान्त है - संयंत्र विन्यास, विपरीत अनुसंधान, लागत, विश्लेषण, निर्णयन, संचार-प्रणाली, रहतिया नियंत्रण आदि और (v) आज का प्रबन्धक अपने निर्णयों में नई-नई वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग कर रहा है ।

प्रबन्ध वास्तविक विज्ञान नहीं, वरन् नीति प्रधान विज्ञान है - यह आधारभूत अथवा **शुद्ध विज्ञान** की श्रेणी में न आकर **व्यावहारिक विज्ञान** की श्रेणी में आता है । इसलिए इसे कई लेखकों ने विज्ञान न कहकर वैज्ञानिक पद्धति कहा है ।

टेलर का कहना था कि 'प्रबंध 75% विश्लेषण (विज्ञान) एवं 25% सामान्य ज्ञान (कला) है । उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रबन्ध विज्ञान एवं कला दोनों हैं । **स्टेनली टीली** के अनुसार वर्तमान में प्रबंध 10% विज्ञान एवं 90% कला है तथा आधुनिक युग में विज्ञान दिन-प्रतिदिन विकास कर रहा है । प्रबंध में अगली पीढ़ी तक विज्ञान 20% तथा कला 80% ही रह जायेगी । **रॉबर्ट एन. हिलकर्ट** ने ठीक कहा है कि 'प्रबंध तंत्र में कला एवं विज्ञान दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं' । **प्रो. पीगू** ने लिखा है कि प्रबंध सहित प्रत्येक विषय में विज्ञान तथा कला पक्ष दोनों ही होते हैं । इस प्रकार उपरोक्त

विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध कला एवं विज्ञान का सम्मिश्रण है, क्योंकि इसमें वैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं मानवीय व्यवहार का सम्मिश्रण होता है ।

2. **प्रबन्ध : एक पेशा :** पेशे को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है । **हॉज एवं** जानसन के अनुसार, 'पेशा एक कपसाय है जिसके लिए एक विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा जिसे एकरूपता की एक मान्य डिग्री द्वारा समाज के एक सम्बन्धित वर्ग हेतु प्रयोग किया जाता है ।" **'लुईस ए ऐलन** के अनुसार, 'पेशा एक विशेष प्रकार का कार्य है जिसका निष्पादन क्रमबद्ध ज्ञान और सामान्य शब्दावली के प्रयोग से किया जाता है तथा इसके लिए कुछ निश्चित प्रमापों एवं मान्यता प्राप्त संस्था द्वारा प्रतिपादित एक आचार-संहिता की आवश्यकता होती है ।.

इस प्रकार पेशा वह व्यवसाय है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करके दूसरे व्यक्तियों को निर्देशन, परामर्श व मार्गदर्शन करता है तथा इसे अपनाने वाला व्यक्ति एक निश्चित आचार संहिता का पालन करते हुए सेवा भावना से प्रेरित होकर अपना कार्य करता है । पेशे की प्रकृति को समुचित रूप से समझने के लिए इसकी विशेषताओं का अध्ययन करना भी आवश्यक है । यदि ये विशेषताएँ एवं लक्षण प्रबन्ध से मेल खाती हैं. तो हम कह सकते हैं, कि प्रबन्ध एक पेशा है ।

पेशे के निम्न लक्षण होते हैं -

1. पेशे जैसे- **डॉक्टर. एडवोकेट. सी.ए** आदि के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण संस्थान का होना आवश्यक है, प्रबन्ध में भी बी.बी.ए. एवं एम.बीए. की उपाधियां ग्रहण करने के लिए विशिष्ट प्रशिक्षित संस्थाओं में अध्ययन करना जरूरी है, इसमें भी केस विधि से

प्रशिक्षण दिया जाता है एवं विद्यार्थियों का व्यावसायिक संगठनों में अवलोकन कर सूक्ष्म प्रतिवेदन लिखकर देना पड़ता है ।

2. पेशे के लिए विशिष्ट संचित ज्ञान का होना आवश्यक है, प्रबन्ध के अध्ययन के लिए भी इसके प्रकार्य, सिद्धान्त. कार्य आदि विकसित किये जा चुके हैं ।
3. पेशे के उन्नयन के लिए विशिष्ट संगठन होते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रबन्ध के प्रचार एवं प्रसार के लिए भी प्रबंध संघ बने हुए हैं । भारत में ऑल इण्डिया मैनेजमेंट एसोसिएशन (नई दिल्ली) बना हुआ है, यह मैनेजमेंट नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करता है ।
4. पेशेवेर की एक आचार-संहिता होती है, उसी प्रकार प्रबन्धक की भी आचार संहिता है कि वह संगठन का काम ईमानदारी से और समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझकर करें ।
5. पेशेवर को अपनी सेवा के लिए प्रतिफल के रूप में फीस आदि मिलती है । प्रबन्धक को भी सेवा के प्रतिफल में वेतन मिलता है । यदि वह प्रबन्ध सलाहकार का काम करता है तो फीस आदि के रूप में उसे प्रतिफल प्राप्त होता है ।
6. पेशा एक सृजनात्मक प्रक्रिया है । पेशेवर लगातार शोध और अनुसंधान आदि के माध्यम से उसके विकास में योगदान करता है । जैसा कि आपको अब तक के अध्ययन से स्पष्ट होगा, प्रबन्ध के क्षेत्र में भी विभिन्न ज्ञानों के क्षेत्रों का समावेश किया गया है और उसमें विकास किया गया है ।
7. पेशा, व्यक्तिगत कुशलता होने के कारण बुद्धिपरक है और इसे अभ्यास एवं अनुभव के द्वारा विकसित किया जाता है । प्रबन्ध के विकास के इतिहास से भी स्पष्ट है कि विवेकशील लोगों ने अनुभव एवं अभ्यास द्वारा विकास किया है।

उपरोक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि प्रबन्ध भी पेशे की श्रेणी में बहुत आसानी से शामिल किया जा सकता है ।

3. **प्रबन्ध: जन्मजात प्रतिभा अथवा अर्जित ज्ञान :** प्राचीन काल में मान्यता थी कि प्रबन्ध एक जन्मजात गुण है । यदि पिता कुशल प्रबन्धक है तो पुत्र व पौत्र आदि भी कुशल प्रबन्धक होंगे. लेकिन यह मान्यता समय की परिस्थिति के अनुसार खरी नहीं उतरी । तत्पश्चात् यह माना जाने लगा कि प्रबन्ध एक ऐसी विधि है जिसे शिक्षण एवं प्रशिक्षण के माध्यम से सीखा जा सकता है और विद्यार्थी उसमें कुशाग्रता प्राप्त कर सकता है । कई प्रबन्धशास्त्रियों ने तो इसको इस प्रकार समझाया कि व्यक्ति परिस्थिति में ढलकर प्रबन्ध की कुशलता हासिल कर सकता है । स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक जन्मजात प्रतिभा न होकर एक अर्जित ज्ञान की योग्यता है ।
4. **प्रबन्ध: एक सार्वभौमिक प्रक्रिया** : प्रबन्ध, सामाजिक ज्ञान की एक शाखा है । समाज में अनेकानेक प्रकार के संगठन पाये जाते हैं, जैसे सुरक्षात्मक (सेना एवं पुलिस), आर्थिक, व्यावसायिक (वाणिज्य एवं उसके सहायक उपक्रम, उद्योग) राजनैतिक, धार्मिक, मनोरंजन सम्बन्धित, संस्कृति विकास से सम्बन्धित आदि । प्रबन्ध एक ऐसी प्रक्रिया है, जो इन सभी प्रकार के संगठनों में देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप

थोड़ा बहुत परिवर्तन करके लागू होती है । यही कारण है कि इसे एक सार्वभौमिक प्रक्रिया कहा जाता है ।

5. **प्रबन्ध:** प्रणाली अथवा तंत्र में एक इकाई के विभिन्न संघटक अंग एक दूसरे से अन्तर सम्बन्ध रखते हैं, एक दूसरे पर अन्तर आश्रित होते हैं एवं एक दूसरे पर अन्तःक्रिया करते हैं । एक संगठक का आदान दूसरे के लिए प्रक्रियाकरण करता है और प्रदाय बन जाता है । समाज के विभिन्न प्रकार के संगठन एक दूसरे के लिए प्रणाली के स्वरूप में होते हैं । यदि बिजली उत्पादक संगठन बिजली की आपूर्ति नहीं करता तो परीक्षा कक्ष में बैठे हुए विद्यार्थी का काम बाधित हो जाता है । साथ ही साथ बिजली की आपूर्ति जितने समय तक बंद रही उतने समय तक का बिजली की आपूर्ति करने वाले को प्रतिफल नहीं मिला । इन्हीं कारणों से प्रबन्धवेत्ताओ का कथन है कि प्रबन्ध एक कुल सामाजिक व्यवस्था है और सब संगठन उसके संघटक अंग हैं ।
6. **प्रबन्ध: सामाजिक उत्तरदायित्व -** किसी भी प्रकार का संगठन लें, उनमें आपस में आंतरिक व्यवस्था होती है । प्रत्येक संगठन अपने बाहरी वातावरण से प्रभावित होता है । इसलिए प्रबन्धक वर्ग की एक आचार-संहिता मानी गई है । जैसे प्रत्येक संगठन का आधारभूत उद्देश्य अस्तित्व में रहना और निरन्तर विकास करना है । संगठन के प्रबन्धकों का उत्तरदायित्व है कि वे इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हो । सभी संगठन समाज के लिए हैं, अत: संगठन के प्रबन्धक को समाज के हित में सभी काम करने चाहिये । समाज के हित को ध्यान में रखकर सरकार ने नियंत्रण, नियमन आदि के कानून बनाये हैं, लेकिन प्रबन्ध का सामाजिक उत्तरदायित्व है कि वह स्व-नियंत्रण एवं स्व-नियमन करें, ताकि समाज का अधिकतम कल्याण हो सके ।
7. **प्रबन्ध : व्यक्तियों का विकास : अमेरिकन मैनेजमेन्ट एसोसिएशन** के सभापति **लॉरेन्स एप्पले** मानते हैं कि प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है । प्रत्येक संगठन में दो प्रकार के साधन- भौतिक एवं मानवीय लगे रहते हैं । भौतिक साधन निष्क्रिय (जड़) हैं जबकि मानवीय साधन सक्रिय (चेतन) हैं । निष्क्रिय होने के कारण तकनीकी विकास की उच्च सीमा छूने के बाद भी उन्हें गत्यात्मकता की आवश्यकता पड़ती है । कम्प्यूटर, लैपटॉप, रोबोट, मोबाइल आदि यन्त्रों में चेतना शक्ति तो छिपी हुई है, लेकिन उन्हें संचालित करने के लिए मानव साधन की आवश्यकता होती है । प्रबन्ध के मूल में अधिकतम उत्पादकता का दर्शन है । इस उत्पादकता का माप मानव संसाधन की सक्रियता के योगदान से ही सम्भव है । भौतिक साधन अपनी क्षमता तक ही काम कर सकता है, उससे अधिक नहीं । मानवीय साधन में भी थकान और नीरसता का समावेश तो है, लेकिन यदि उसका मनोबल बढ़ा दिया जावे और उसे कार्य के लिए अभिप्रेरित कर दिया जावे तब परिणाम 2+2=5 हो जाता है, प्रबन्ध अर्थशास्त्री इसे synergy कहते हैं । इस प्रकार प्रबन्ध शास्त्रियों की मान्यता खरी उतरती है कि प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है ।
8. **प्रबन्ध: एक न्यासिता -** भारतीय दर्शनशास्त्रियों ने अर्द्वतदर्शन की खोज की है । ईशावाशोपनिषद् में एक मंत्र में उल्लेख है कि आत्म तत्त्व ने इस ब्रह्माण्ड को परिपूर्ण

कर रखा है । इसमें जड़ और चेतन दोनों प्रकार के साधन देखने को मिलते हैं । मानव को यह मानसिकता बनानी चाहिये कि सम्पूर्ण भौतिक साधन परमात्मा के दिए हुए हैं । परमात्मा प्रन्यासी है मानव उसके लाभ उठाने वाले हैं, अत: मानव को धन-दौलत (भौतिक साधन) में लालच नहीं रखना चाहिये और उनका त्याग भाव से उपभोग करना चाहिए । इसके अनुसार प्रबन्धकों को अपने आप को परमात्मा द्वारा नियुक्त प्रन्यासी मानकर भौतिक साधनों का विदोहन सर्वजन सुखाय और सर्वजन हिताय करना चाहिये।

9. **प्रबन्ध: एक बहु-विषयक दृष्टिकोण :** मानव इस ब्रह्माण्ड में एक अनुपम वस्तु है । उसे शरीर के साथ ही साथ मस्तिष्क भी प्रदान किया गया है । इसमें अनेकों सृजनात्मक शक्तियाँ छिपी हुई हैं । इन्हीं शक्तियों के आधार पर ज्ञान के क्षेत्र में अनेकों विषयों का विकास हुआ है । बीसवीं शताब्दी में विकसित प्रबन्धक का विषय अपने आप में अनेक विषयों को समामेलित किए हुए है । हमें पता है क एम.बीए. करने वाला विद्यार्थी लेखाशास्त्र, सांख्यिकी, परिमाणात्मक विधियाँ, गणितशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, कानून आदि अनेकों विषयों को पढ़ता है । ज्ञान की इस शाखा की यह विशेषता है कि वह बहु विषयक आयामी है ।
10. **प्रबन्ध में संस्कृतिबद्धता :** प्रबन्ध को सार्वभौमिक प्रक्रिया कहा जाता है, क्योंकि इसके प्रकार्य एवं सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व में लागू होते हैं फिर भी प्रबन्ध कों को एक सार्वभौमिक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका मूल रूप से सम्बन्ध मानव से है । अंग्रेजी के मैनेजमेंट का प्रथम उच्चरित वाक्यांश मैन है । मानव संस्कृतिबद्ध है, संगठनात्मक व्यवहार अत्यधिक स्थितिबद्ध है, जबकि उसके सदस्य का (मानव) व्यवहार भावुक है । भावना, संस्कृति से अटूट सम्बन्ध रखती है । संस्कृति से आशय है, किसी समय, स्थान और परिस्थिति में लोगों की आदतें, भावनाएँ और रुचि आदि । प्रबन्धक को संगठन के भावना प्रधान सदस्यों से युक्तिपूर्ण विधि से काम निकलवाना पड़ता है । हिन्दू सहायक मुसलमान उच्च अधिकारी के घर से गैर शाकाहरी टिफन लाने में हिचकिचाता । ईसाई, रविवार की छुट्टी चाहेगा, मुसलमान शुक्रवार की और हिन्दू मंगलवार की, क्योंकि उन्हें इस दिन पूजा-अर्चना करनी है । होली, दीपावली, रक्षाबंधन, ईद, बड़ा दिन, नववर्ष आदि पर विभिन्न धर्मानुसरण करने वाला संगठन का औपचारिक कार्य करना पसंद नहीं करेगा ।यह कारण है कि सम्पूर्ण विश्व के प्रबंधकों को इस संस्कृतिबद्धता को ध्यान में रखकर काम करना पड़ता है ।

11.6 प्रबन्ध का क्षेत्र

प्रबन्ध के क्षेत्र को मोटे रूप में दो भागों में बांटा जा सकता है -

(I) **प्रबन्ध: सार्वभौमिक प्रक्रिया की दृष्टि से :** हम पढ़ चुके हैं कि प्रबन्ध एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, इस रूप में प्रबन्ध का क्षेत्र स्वत: ही सार्वभोमिक हो जाता है, यह विश्व में पाए जाने वाले सभी प्रकार के सभी आकार के संगठनों में लागू होता है । समान्य उद्देश्य की प्राप्ति में लगे हुए संगठनों में प्रबन्ध के प्रकाश्य एव सिद्धान्त लागू? होते हैं । प्रबन्ध आर्थिक क्रियाओं के संगठन जैसे उद्योग (प्राथमिक एव निर्माण) और व्यापार

(स्थानीय, राज्यीय, अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय) में सहायक संगठन जैसे, बैंकिंग, बीमा, भण्डारण, यातायात (वायु जल व थल) लागू होते हैं । इसके अतिरिक्त गैर आर्थिक संगठन जैसे सुरक्षात्मक (सेना पुलिस), राजनैतिक, धार्मिक (मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर, गुरुद्वारा आदि) मनोरंजन (क्लब, सिनेमा आदि) शिक्षात्मक (विश्वविद्यालय, कॉलेज, स्कूल), स्वास्थ्यरक्षक (अस्पताल, डिस्पेन्सरी, क्लिनिक), सरकारी व गैर सरकारी विभाग श्रम एवं नियोक्ता के संगठन आदि में लागू होते हैं ।

(II) **प्रबन्ध क्रियात्मक / प्रक्रियात्मक दृष्टि-** व्यावसायिक दृष्टिकोण से संगठन में प्रमुखत: कुछ प्रकार्य अथवा प्रक्रियात्मक कार्य किये जाते हैं जो निम्नानुसार है -

(i) **विपणन प्रबन्ध:** इस प्रक्रिया में अनुसंधान, उपभोक्ता व्यवहार, वस्तु एवं सेवाओं का मूला निर्धारण, बिक्री का पूर्वानुमान, बिक्री का क्षेत्र, विज्ञापन, विक्रय कार्मिक, विपणन के सम्पूर्ण क्रियाओं का नियंत्रण, भण्डारण, विपणन वाहिकाएं आदि सम्मिलित हैं ।

(ii) **उत्पादन प्रबन्ध -** सामग्री (कच्चा, अर्धनिर्मित माल) उत्पादन नियोजन नियंत्रण, कार्य विश्लेषण, समय एवं गति अध्ययन, मार्ग निर्धारण, अनुसूचीबद्धता, स्वचालन, उत्पादन में प्रयक्त इमारत, संयंत्र आदि के कार्यशील दशा में रखने के लिए रख-रखाव का प्रबन्ध आदि को शामिल किया जाता है ।

(iii) **क्रय प्रबन्ध -** कच्चे माल व मशीनों की खरीद के लिए टेण्डर, आदेश अनुबन्ध, क्रय सामग्री का भण्डारन व सामग्री नियंत्रण, कच्चे माल व औजार आदि को उत्पादन की निरन्तरता हेतु आपूर्ति करना आदि प्रबन्ध कार्य इसमें समामेलित हैं ।

(iv) **वित्तीय प्रबन्ध -** इसके अन्तर्गत वित्त का आयोजन व 'पूर्वानुमान, आय - व्ययक नियंत्रण, पूंजी के साधनों के स्त्रोत व उन्हें जुटाना, पूँजी की संरचना, लागत लेखा, अंकेक्षण, प्रबन्धकीय लेखांकन, सांख्यिकी नियंत्रण, अर्जित आय का प्रबन्धन आदि को शामिल किया जाता है ।

(v) **मानव साधनों का प्रबन्धन:** मानव साधनों का पूर्वानुमान, किस्म निर्धारण, चयन, पदोन्नति, प्रशिक्षण, पद अवनति, उतप्रेरण, सेवा निवृत्ति, स्थानान्तरण छंटनी, सेवा समाप्ति, श्रम कल्याण व औद्योगिक सुरक्षा एवं सम्बन्ध, श्रमिक वार्तालाप, परिवेदना निवारण आदि को शामिल किया जाता है ।

(vi) **कार्यालय प्रबन्ध:** इसके अन्तर्गत कार्यालय की व्यवस्था तथा उसकी सजावट, कार्मिक - बजट के साधन, संदेशवाहन के साधन, अभिलेख व्यवस्था कार्यालय नियोजन व नियंत्रण आदि को शामिल किया जाता है ।

11.7 सारांश

प्रबन्ध युक्तिपूर्ण विधि से की जाने वाली क्रिया है, जिसके प्रकार्यो को विज्ञान की व्यवस्थित विधि की भाँति किया जाता है ।प्रबन्ध में पेशे के लगभग सभी लक्षण - यथा - शिक्षा एवं प्रशिक्षण की विशिष्ट विधि, संवर्धन के लिए संगठन, आचार-संहिता का होना आदि पाये जाते हैं

। प्रबन्ध जन्म-जात प्रतिभा न होकर अर्जित ज्ञान से सीखा जाता है । प्रबन्ध सभी स्थानों पर सभी परिस्थिति में एवं सभी समय, समाज में पाये जाने वाले, सभी आकार एवं प्रकार के संगठनों में लागू होने के कारण सार्वभौमिक भी है । प्रबन्ध सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का अंग होने के कारण सामाजिक प्रणाली है, जिसमें अन्तर्क्रिया, अन्तर सम्बन्ध एवं अन्तर-आश्रय के लक्षण पाये जाते हैं । पेशेवर लोगों के उत्तरदायित्व की भाँति प्रबन्धक का भी समाज के एक संगठन को संचालित करने के कारण, समाज के प्रति उत्तरदायित्व होता है । यह उसकी आचार-संहिता है । प्रबन्ध, भौतिक साधनों का सर्वोतम विदोहन तो करता है, किन्तु मानवीय साधन सक्रिय होने के कारण प्रबन्ध मूलत: मानव साधन का विकास है । दार्शनिक दृष्टिकोण से परमात्मा प्रदत्त साधनों का उसके अमृत पुत्रों के उपभोग के लिए विदोहन करवाने वाला प्रबन्धक परमात्मा का प्रन्यासी है । प्रबन्ध शिक्षा में बहुत से विषयों का समावेश होने के कारण यह बहुआयामी विषयों का अध्ययन है । मानव से सम्बन्धित होने के कारण प्रबन्ध संस्कृति अभिमुखी भी है ।

सार्वभौमिक प्रक्रिया की दृष्टि से प्रबन्ध समाज में पाये जाने वाले सभी प्रकार एवं आकार के संगठनों के लागू होता है भले ही वे आर्थिक हों । जैसे कम्पनी, साझेदारी, सहकारी, सरकारी व गैर-सरकारी विभाग अथवा गैर-आर्थिक जैसे मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, सिनेमाघर, क्लब आदि ।

प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण से भी प्रबंध सभी प्रकार की प्रक्रियाओं में लागू होता है जैसे - व्यवसाय की विपणन, उत्पादन, क्रय, वित्तीय, मानव साधन सम्बन्धी कार्यालय संबंधी प्रक्रियाएं ।

इस प्रकार प्रबन्ध एक सार्वभौमिक एवं सभी प्रकार की क्रियाओं पर लागू होने वाला ज्ञान का क्षेत्र है ।

11.8 पारिभाषिक शब्द

1. **अवधारणा -** संवहन की सुविधा के लिए परिभाषा रूप में प्रयुक्त शब्द अवधारणा कहलाता है ।
2. **सभ्यता -** किसी देश के निवासियों का रहन-सहन किस प्रकार का था, सभ्यता कहलाता है ।
3. **संस्कृति -** किसी समय स्थान एवं परिस्थिति में लोगों की आदतें, अभिरुचिया, पसंद-नापंसद संस्कृति है ।
4. **विक्रेता विपणि -** बाजार में विक्रेताओं का बोलबाला । क्रेताओं के पास वस्तु चुनाव की अधिक सुविधा का न होना ।
5. **बाजार आभंमुखता -** क्रय-विक्रय की क्रियाओं पर अधिक जोर दिया जाना ।
6. **हस्तान्तरण -** एक व्यक्ति से किसी दूसरे व्यक्ति को कोई चीज प्रदान करना।
7. **हस्तांकन -** एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को कोई अधिकार, दायित्व अथवा कर्त्तव्य सौंपा जाना ।

11.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रबन्ध की प्रकृति का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
2. प्रबन्ध के महत्व को समझाइये ।
3. टिप्पणी लिखिये
   (i) प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान है ।
   (ii) प्रबन्ध एक पेशा ।
4. प्रबन्ध के क्षेत्र का विस्तृत वर्णन कीजिए ।

11.10 उपयोगी पुस्तकें

1. ब्रैंच, ई.एफ.एल The Principal and Practice of Management (लौगमैन पब्लिकेशन, न्यूयॉर्क:) ।
2. ड्रकर, पीटर. एफ., The Essences of Management
3. ड्रकर, पीटर एफ. The Practice of Management
4. फेयोल हेनरी, General and Industrial Administration (सर आइजेक पिटमैन एण्ड सन्स लिमिटेड, लन्दन) ।
5. गिबसन, जी.एल एवं अन्य, Perspective on Management (बिजनिस पब्लिकेशन्स, प्लैनोटैक्स) ।
6. हिक्स, हरबर्ट जी., Management.
7. कूंज एवं ओ डोनेल Principal of Management (मैक ग्रा हिल) ।
8. माथुर, नवीन, Management Gurus: Ideas & Insights (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर)
9. माथुर, डी. बी.एस. एवं माथुर, डी. नवीन, Management Gurus :Ideas&Insights (नेशनल पब्लिकेशन्स, जयपुर)
10. नौलखा, डी. आर.एल., प्रबन्ध के सिद्धान्त (रमेश बुक डिपो, जयपुर) ।
11. रेड्डी, पी.एन. एवं अन्य, Principal of Business Organisation & Management , (यूरेशिया पब्लिशिंग हाच्छ, नई दिल्ली) '
12. सिंह, बीपी, एवं अन्य, व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध का परिचय, (किताब महल, इलाहाबाद)
13. सक्सैना, डी. एस.सी., प्रबन्ध के सिद्धान्त (साहित्य भवन, आगरा) ।
14. सुधा, जी.एस. व्यावसायिक प्रबन्ध (शीलसन्स जयपुर) ।
15. सिंघल, जेपी., प्रबन्ध (अजमेर बुक कम्पनी, जयपुर)
16. टेरी, जॉर्जे. आर., Principal of Management (रिचार्ड डी. इरिवन)
17. टेलर, एफ. डब्लू, Scientific Management (हारपर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयॉर्क) ।
18. उपाध्याय, आरबी, एवं अन्य, व्यावसायिक प्रबन्ध (रमेश बुक डिपो, जयपुर) ।

इकाई 12 : नियोजन (Planing)

इकाई की रूपरेखा

12.0 नियोजन के उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 नियोजन का अर्थ एवं परिभाषा
12.3 नियोजन की आवश्यकता, महत्व एवं लाभ
12.4 नियोजन की कठिनाइयाँ, सीमाएँ एवं आलोचनाएँ
12.5 नियोजन के प्रकार
12.6 नियोजन की तकनीक या प्रक्रिया
12.7 नियोजन के सिद्धान्त
12.8 सारांश
12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.10 संदर्भ ग्रंथ

12.0 नियोजन के उद्देश्य

1. **जानकारी प्रदान करना :** नियोजन का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य संस्था में कार्यरत कर्मचारियों एवं बाहरी व्यक्तियों को उपक्रम के लक्ष्यों एवं उप-लक्ष्यों की जानकारी प्रदान करना तथा इन्हें प्राप्त करने की विधियों के सम्बन्ध में भी सूचना प्रदान करना है ।
2. **विशिष्ट दिशा प्रदान करना :** नियोजन द्वारा किसी कार्य-विशेष की भावी रूपरेखा बनाकर उसे एक ऐसी विशेष दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है जो कि इसके अभाव में लगभग असम्भव प्रतीत होती है ।
3. **कुशलता में वृद्धि करना :** नियोजन का एक मूलभूत उद्देश्य उपक्रम की कुशलता में वृद्धि करना है । सर्वोत्तम विकल्प के चयन और व्यवस्थित ढंग से कार्य किए जाने के कारण उपक्रम की कार्य-कुशलता में वृद्धि स्वाभाविक ही है।
4. **प्रबन्ध में मितव्ययिता :** उपक्रम की भावी गतिविधियों की योजना के बन जाने से प्रबन्ध का ध्यान उसे कार्यान्वित करने की ओर केन्द्रित हो जाता है जिसके फलस्वरूप क्रियाओं में अपव्यय के स्थान पर मितव्ययिता आती है ।
5. **स्वस्थ मोर्चाबन्दी :** नियोजन का उद्देश्य स्वस्थ मोर्चाबन्दी को विकसित करना भी है । पूर्वानुमानों व सर्वोत्तम विकल्प के चयन द्वारा सही मोर्चाबन्दी या व्यूह-रचना तैयार की जा सकती है ।
6. **भावी कार्यो में निश्चितता :** नियोजन के माध्यम से संस्था की भावी गतिविधियों में अनिश्चितता के स्थान पर निश्चितता लाने का प्रयास किया जाता है ।

7. **जोखिम एवं सम्भावनाओं को परखना** : नियोजन का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य संस्था की भावी जोखिम एवं सम्भावनाओं की परख करना है । इसके अनेक भावी जोखिमों से बचने के लिए आवश्यक उपाय किये जा सकते हैं ।
8. **निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करना**: नियोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना है ।
9. **साम्य एवं समन्वय की स्थापना** : नियोजन द्वारा उपक्रम की विभिन्न गतिविधियों में साम्य एवं समन्वय स्थापित किया जाता है ।
10. **प्रतिस्पर्द्धा पर विजय पाना:** दॉव पेचपूर्ण नियोजन प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में विजय पाने में सहायक सिद्ध होता है । कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता से किये जाने के कारण प्रतिस्पर्द्धा का सामना किया जा सकता है ।

12.1 प्रस्तावना

आज जिस प्रकार के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक माहौल में हम हैं, उसमें नियोजन उपक्रम का एक अभीष्ट जीवन-साथी बन चुका है । यदि समूहिक प्रयासों को प्रभावशाली बनाना है तो कार्यरत व्यक्तियों को यह जानना आवश्यक है कि उनसे क्या अपेक्षित है और इसे केवल नियोजन की मदद से ही जाना जा सकता है । इसीलिए तो कहा जाता है कि प्रभावशाली प्रबन्ध के लिए नियोजन उपक्रम की समस्त क्रियाओं में आवश्यक है । लक्ष्य निर्धारण तथा उस तक पहुँचने तक का मार्ग निश्चित किये बिना संगठन, अभिप्रेरण, समन्वय तथा नियन्त्रण का कोई भी महत्व नहीं रह पायेगा । जब नियोजन के अभाव में क्रियाओं का पूर्वनिर्धारण नहीं होगा तो न तो कुछ कार्य संगठन को करने को ही होगा, न समन्वय को और न ही अभिप्रेरणा और नियन्त्रण को । इसीलिए ही विद्वानों ने नियोजन को प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य माना है । नियोजन की प्रक्रिया मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही मौजूद है, क्योंकि यह मानव का स्वभाव रहा है कि उसे आगे क्या करना है? इसकी वह पूर्व में कल्पना करता है । आज इसका सुधरा हुआ स्वरूप हमारे सामने है ।

12.2 नियोजन का अर्थ एवं परिभाषा

नियोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा भावी उद्देश्यों तथा उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कार्यो को निर्धारित किया जाता है । इसके अतिरिक्त, इस प्रक्रिया में किये जाने वाले कार्यो के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर भी निर्धारित किये जाते हैं ये कार्य कब, कहीं, किस प्रकार, किनके द्वारा, किन संसाधनों से, किस नियम एवं प्रक्रिया के अनुसार पूरे किये जायेंगे । नियोजन को अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से परिभाषित किया है । कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नानुसार हैं-

परिभाषाएं

नियोजन की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं:

मोन्डे एवं फ्लिपो (mondy and flippo) के अनुसार " लक्ष्यों तथा इनकी प्राप्ति के लिए कार्य-पथ के निर्धारण की प्रक्रिया को नियोजन कहा जाता है । "

क्लॉड एस. जार्ज (claude S. Georgh) के अनुसार " नियोजन आगे देखना है, भावी घटनाओं की संकल्पना करना है तथा वर्तमान में भविष्य को प्रभावित करने वाले निर्णय लेना है।"

कूट्ज एवं ओ' डोनेल (koontz and O'Donnell) अनुसार, " नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है, कार्यविधि का सचेत निर्धारण है, निर्णयों को उद्देश्यों, तथा पूर्व-विचारित अनुमानों पर आधारित करना है । "

एम. ई. हले (M.E.Hurley) के शब्दों में, ' 'क्या करना है, इसका पूर्व निर्धारण नियोजन है । इसमें विभिन्न वैकल्पिक उद्देश्यों, नीतियों, पद्धतियों एवं कार्यक्रमों में से चयन करना निहित है।"

हार्ट (Hart) के शब्दों में, " नियोजन कार्यों की श्रृंखला का अग्रिम निर्धारण है जिसके द्वारा निश्चित परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं । "

मेरी कुशिंग नाइल्स (Marry cushing Niles) के शब्दों में, " नियोजन किसी उद्देश्य को पूरा करने हेतु क्रिया-विधि या कार्य-पथ का चयन एवं विकास करने की प्रक्रिया है । यह वह आधार है जिसमें भावी प्रबन्धकीय कार्यो का उद्गम होता है । "

क्रीटनर (Kreitner) के शब्दों में, " नियोजन विनिर्दिष्ट परिणाम प्राप्त करने हेतु भावी कार्य-पथों का निर्धारण करके अनिश्चितता का सामना करने की प्रक्रिया है । "

हैमन (Haiman) के शब्दों में, " क्या किया जाना है इसका पूर्व-निर्धारण ही नियोजन है । "

जार्ज आर. टेरी (George R.Terry) के शब्दों में, " नियोजन भविष्य में देखने की विधि अथवा कला है । इसमें भविष्य की आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाया जाता है ताकि निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए जाने नाले वर्तमान प्रयासों को उनके अनुरूप डाला जा सके । "

12.3 नियोजन की आवश्यकता. महत्व एवं लाभ (Need Importance and Advantage of planning)

व्यावसायिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन आते रहते है जो उपक्रम के लिए विकास एवं प्रगति का मार्ग ही नहीं खोलते हैं, वरन् अनेक जोखिमों एवं अनिश्चितताओं को भी उत्पन्न कर देते हैं । प्रतिस्पर्द्धा, प्रौद्योगिकी, सरकारी नीति, आर्थिक क्रियाओं, श्रम पूर्ति, कच्चा माल तथा सामाजिक मूल्यों एवं मान्यताओं में होने वाले परिवर्तनों के कारण आधुनिक व्यवसाय का स्वरूप अत्यन्त जटिल हो गया है । ऐसे परिवर्तनशील वातावरण में नियोजन के आधार पर ही व्यावसायिक सफलता की आशा की जा सकती हैं । आज के युग में नियोजन का विकास प्रत्येक उपक्रम की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है । व्यावसायिक बर्बादी, दुरूपयोग व, जोखिमों को नियोजन के द्वारा ही कम किया जा सकता है । नियोजन की आवश्यकता एवं महत्व को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है:

1. **अनिश्चितताओं में कमी :** भविष्य अनिश्चितताओं तथा परिवर्तनों से भरा होने के कारण नियोजन अधिक आवश्यक हो जाता है । नियोजन के माध्यम से अनिश्चितताओं को बिल्कुल समाप्त तो नहीं अपितु कम अवश्य किया जा सकता है । पूर्वानुमान जो नियोजन का आधार है, की सहायता से एक प्रबन्धक भविष्य का बहुत कुछ सीमा तक

ज्ञान प्राप्त करने तथा भावी परिस्थितियों को अपने अनुसार मोड़ने में समर्थ हो सकता है । तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष बहुत कुछ सीमा तक एक व्यवसायी को अनिश्चितताओं से निपटने का आधार तैयार कर देते हैं ।

2. **नियन्त्रण में सुगमता :** कार्य पूर्व-निर्धारित कार्य-विधि के अनुसार हो रहा हे या नहीं, यह जानना ही नियन्त्रण का कार्य है । नियोजन के माध्यम से कार्य प्रारम्भ करने की विधि तय की जाती है ताकि प्रमाप निर्धारित किये जाते है । ऐसी कई तकनीकों का विकास हो चुका है, जिनसे नियोजन एवं नियन्त्रण में गहरा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है । जो तकनीक नियोजन में काम में ली जाती हैं वे ही आगे चलकर नियन्त्रण का आधार बनती हैं । इसीलिए यदि नियोजन को नियन्त्रण की आत्मा कह दिया जाये तो कोई गलती नहीं होगी ।
3. **समन्वय में सहायता :** समन्वय सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न क्रियाओं की एक व्यवस्थित प्रथा है । इसके माध्यम से उपक्रम के उद्देश्यों को प्राप्त करना सरल हो जाता है, क्योंकि योजनाएं चुने हुए मार्ग हैं, इसलिए इनकी सहायता से प्रबन्धक संघर्ष के स्थान पर सहयोग जागृत कर सकता है जो कि विभिन्न क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने में मदद देता है । इसके अतिरिक्त यह विभिन्न क्रियाओं का इस प्रकार निर्धारण करता है, जिससे समन्वय लाना आवश्यक बन जाता है ।
4. **उतावले निर्णयों पर रोक** : नियोजन के अन्तर्गत सभी कार्य काफी सोच-विचार के पश्चात् ही हाथ में लिये जाते हैं, इसलिए उतावले निर्णयों से होने वाली हानि से बचा जा सकेगा ।
5. **पूर्णता का ज्ञान :** उपक्रम को पूर्णता में देखने के कारण एक प्रबन्धक प्रत्येक क्रिया के बारे में सम्पूर्ण ज्ञान कर पाता है ताकि जिस आधार पर उसके कार्य का निर्धारण किया गया है उसे जानने का अवसर भी उसे नियोजन के माध्यम से मिल पाता है ।
6. **अपवाद द्वारा प्रबन्ध :** अपवाद द्वारा प्रबन्ध से अर्थ यह है, कि प्रबन्धक को प्रत्येक क्रिया में सम्मिलित नहीं होना चाहिए । यदि सब काम ठीक-ठाक चल रहा हो तो प्रबन्धक को निश्चिन्त रहना चाहिए और केवल उसी समय बीच में आना चाहिए जब कार्य नियोजन के अनुसार न चल रहा हो । नियोजन द्वारा संस्था के उद्देश्य निर्धारित कर दिए जाते हैं, और सभी प्रयास उनको प्राप्त करने के लिए ही किए जाते हैं । इस प्रकार प्रबन्ध को दैनिक कार्यो में उलझने की आवश्यकता नहीं हैं, अत: कहा जा सकता है, कि नियोजन से अपवाद द्वारा प्रबन्ध सम्भव हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्रबन्धकों के पास इतना समय बच जाता है, कि वे और आर्थिक सोच-विचार करके श्रेष्ठ योजनाएँ तैयार करें ।
7. **कर्मचारियों के सहयोग एवं संतोष में वृद्धि :** नियोजन द्वारा विभिन्न कर्मचारियों को इस बात की जानकारी हो जाती है कि विभिन्न कर्मचारियों को कब, क्या और कैसे करना है? अपनी भावी क्रियाओं की पूर्व जानकारी हो जाने पर व मानसिक रूप से तैयार हो जाते है और जैसे ही कार्य का समय आता है, वे उसे अधिक लगन व मेहनत के साथ करते है । मेहनत से किये कार्यो से साख बढती है और संस्थान को लाभ

प्राप्त होता है । इससे कर्मचारियों को संतुष्टि प्राप्त होती है तथा आपसी सहयोग को बढावा मिलता है ।

8. **निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करना :** नियोजन का अन्तिम एवं सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना है ।
9. **विशिष्ट दिशा प्रदान करना :** नियोजन द्वारा किसी कार्य विशेष की भावी रूपरेखा बनाकर उसे एक विशेष दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है, जो कि इसके अभाव में लगभग असम्भव प्रतीत होती है ।
10. **कार्यकुशलता मापदण्ड :** नियोजन का उद्देश्य प्रबन्धकीय कुशलता एवं व्यक्तिगत व सामूहिक कार्यकुशलता के मूल्यांकन हेतु मापदण्ड निर्धारित करना ।

12.4 नियोजन की कठिनाइयाँ. सीमाएँ एवं आलोचनाएँ

नियोजन का उपर्युक्त महत्व होते हुए भी कुछ विद्वान इसे ' समय एवं धन की बर्बादी अथवा 'बरसाती ओले' कहकर इसका विरोध करते हैं । उनका कहना हैं कि व्यावसायिक योजनाएँ अनिश्चित एवं अस्थिर परिस्थितियों की पृष्ठभूमि मे तैयार की जाती हैं । जब इनका आधार ही अनिश्चित है तो फिर यह कैसे माना जा सकता है कि नियोजन द्वारा निर्धारित बातें सदैव शत्-प्रतिशत सत्य ही होंगी । इस विरोध का मूल कारण नियोजन में उत्पन्न विभिन्न कठिनाइयों एवं सीमाओं का होना है जिनके कारण इसकी कटु शब्दों में आलोचनाएँ की जाती है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. **सर्वोत्तम विकल्प के चुनाव में कठिनाई :** नियोजन में विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ का चुनाव किया जाता है परन्तु कौनसा विकल्प श्रेष्ठ है । इसका निर्णय कौन करेगा? एक व्यक्ति के अनुसार एक विकल्प हो सकता है और दूसरे व्यक्ति के अनुसार दूसरा विकल्प । यही नही वर्तमान में कोई एक विकल्प श्रेष्ठ होता है और भविष्य में बदली हुई परिस्थितियों में दूसरा विकल्प श्रेष्ठ प्रतीत होता है ।
2. **लोचशीलता का अभाव :** नियोजन के कार्य में एक अन्य कठिनाई पर्याप्त लोच का अभाव है । विलियम न्यूमेन के अनुसार नियोजन जितना अधिक विस्तृत होगा उसमें उतनी ही ज्यादा लोचहीनता होगी । लोच के अभाव में प्रबन्धक उत्साह-विहीन हो जाते हैं जिससे वे उपक्रम के कार्यो में पूर्ण रूचि नहीं ले पाते । प्रबन्धक पूर्व निर्धारित नीतियों, पद्धतियों तथा कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य होते हैं और परिस्थितियों के अनुरूप उनमें संशोधन की आवश्यकता होने पर भी वे ऐसा नहीं कर सकते । इस प्रकार लोचहीनता के कारण नियोजन के संचालन में कठिनाइयों उत्पन्न हो जाती हैं ।
3. **पर्याप्त मानसिक योग्यता का अभाव : उर्विक** के अनुसार, ' नियोजन मूल रूप से एक मानिसिक अवस्था है, एक बौद्धिक प्रक्रिया है । " केवल वह तकनीकी रूप से प्रशिक्षित व अनुभवी व्यक्ति ही नियोजन का कार्य कर सकते हैं, परन्तु संस्थाओं में प्राय: ऐसे व्यक्तियों की कमी पाई जाती है जिससे त्रुटिपूर्ण योजनाएँ ही बन पाती हैं ।

4. **मनोवैज्ञानिक बाधाऐं :** मनोवैज्ञानिक बाधाएँ भी योजनाओं के निर्माण एवं उनके क्रियान्वयन में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं । इसमें से प्रमुख बाधा यह है कि अधिकांश व्यक्तियों की तरह अधिशासी भी भविष्य की तुलना में वर्तमान को अधिक महत्व देते हैं । इसका कारण यह है कि भविष्य की तुलना में वर्तमान न केवल अधिक निश्चित है अपितु वांछित भी है । नियोजन में अनेक ऐसी बातों को संम्मिलित किया जाता है जिनकी अधिशासी इस आधार पर उपेक्षा एवं विरोध करते हैं कि उन्हें अभी कार्यान्वित नहीं किया जा सकता है ।
5. **अरूचिकर कार्य :** यदि देखा जाये तो योजना बनाना ही एक अरूचिकर कार्य है । कभी-कभी अरूचिकर कार्य होने के कारण भी नियोजन असफल रहता है । ऐलन के.के अनुसार, " कभी-कभी कठिन एवं अरूचिकर कार्यो के कारण नियोजन असफल होता है।"
6. **हिस्सेदारी का अभाव :** विद्वानों का मत है कि नियोजन के निर्माण में संबन्धको, प्रशासकों, विशेषज्ञों एवं मनोवैज्ञानिकों को समुचित हिस्सेदारी मिलनी चाहिए, जिसका इस प्रक्रिया में अभाव पाया जाता है । यही कारण है जिसके अभाव में नियोजन अपनी सर्वव्यापकता सिद्ध नहीं कर पाता ।
7. **सीमित व्यावहारिक मूल्य :** कुछ आलोचकों का यह मत है कि नियोजन को सभी परिस्थितियों में व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता । तथ्यों के ऊपर आधारित होने के बावजूद भी नियोजन में अवसरवादिता को पूरा स्थान मिलता हैं नियोजक तथ्यों को इस प्रकार तोड-मरोड कर प्रस्तुत करते हैं जो कि नियोजन की समस्त उपादेयता को समाप्त कर देता है ।

12.5 नियोजन के प्रकार

नियोजन कई प्रकार के हो सकते हैं । सामान्यतया नियोजन को निम्नलिखित वर्गो में विभक्त किया जा सकता है:

1. **अवधि के आधार पर :** अवधि के आधार पर नियोजन तीन प्रकार का हो सकता है:
   I. **अल्पकालीन नियोजन :** यह सामान्यतया एक वर्ष और इससे कम की अवधि के लिए तैयार किया जाता है । इसके अन्तर्गत अल्पकालीन क्रियाओं का निर्धारण इस प्रकार से किया जाता हे, ताकि दीर्घकालीन नियोजन के उद्देश्यों को आसानी से प्राप्त किया जा सके । इसमें क्रियाओं का विस्तृत विश्लेषण किया जाता है । यह विशिष्ट उद्देश्य तथा उत्पादन के ऐच्छिक स्तर को प्राप्त करने से प्रारम्भ होता है। अल्पकालीन नियोजन का सम्बन्ध, चूंकि अल्पकाल से होता है, इसलिए इसका पूर्वानुमान लगाया जाना आसान है, इनका सफलतापूर्वक क्रियान्वयन किया जा सकता है तथा आवश्यक परिवर्तन एवं संशोधन सम्भव है । अल्पकालीन नियोजन की कुछ सीमाएँ भी हैं । इसमें उपक्रम के विकास एवं स्थायित्व को पर्याप्त महत्व नहीं मिल पाता और कर्मचारियों को निर्णयन में हिस्सेदारी देना कठिन है । इसके अलावा उतावले निर्णयों का नुकसान भी इस प्रकार के नियोजन में होता है ।

II. **मध्यकालीन नियोजन :** सामान्यतया यह योजना 1 वर्ष से अधिक लेकिन 5 वर्ष से कम की अवधि की होती है तथा इनमें उन तमाम क्रियाओं को निर्धारित किया जाता है जिनसे आधारभूत समस्या का समाधान करने में मदद मिल सके ।

III. **दीर्घकालीन नियोजन :** साधारणतया ये योजनाएँ 5 वर्ष या उससे अधिक की अवधि के लिए तैयार की जाती है । इनके द्वारा उपक्रम के दीर्घकालीन उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए विशिष्ट योजनाओं का निर्माण किया जाता है । आधारभूत समस्याओं को पूर्व में ही पहचानने तथा उनके बारे में निर्णय लेने की बात इन योजनाओं में निहित होती है।

दीर्धकालीन नियोजन संस्थान के इरादों एवं अपेक्षाओं का वास्तविक प्रतिनिधि कहा जा सकता है । इसमें वातावरण में आये परिवर्तनों का समायोजन किया जाना आसान है और यह उपक्रम के विकास में तीव्रता लाता है । इसके अलावा यह शोध एवं अनुसंधान को प्रोत्साहन देगा । इसके दोष है - लम्बी अवधि का पूर्वानुमान करना कठिन, खर्चीली व्यवस्था तथा सभी तत्वों के प्रभावों का विश्लेषण करना कठिन ।

2. **प्रकृति के आधार पर :** प्रकृति के आधार पर नियोजन को दो भागों में बाँटा जा सकता है.

I. **स्थायी नियोजन:** यह नियोजन स्थायी प्रकृति का होता है जिसे बार-बार उपयोग में लाया जाता है । इसमें उपक्रम की नीतियाँ, संगठन का ढाँचा, प्रमाणित प्रक्रिया एवं विधियॉ सम्मिलित की जाती हैं ।

ये दीर्घकाल तक उपयोगी बने रहते हैं । इनका निर्धारण पूर्व में कर लिया जाता है, ताकि संगठन के क्रियाकलापों को व्यवस्था प्रदान करने के आधार के रूप मे काम लिया जा सके । इनसे फर्म की विश्वसनीयता बढती हैं ।

II. **अस्थायी नियोजन :** यह वह नियोजन है जो किसी विशेष स्थिति के लिए बनाया जाता है और उस उद्देश्य के पूरा हो जाने के साथ ही समाप्त होता है । इन्हें एकल प्रयोग नियोजन के नाम से भी जाना जाता है । इनकी प्रकृति अस्थायी एवं नवीनता की होती है । बजट इसका अच्छा उदाहरण है ।

3. **स्तर के आधार पर** : स्तर के आधार पर नियोजन को तीन भागों में बॉटा जा सकता है:

I. **उच्चस्तरीय नियोजन -** यह उच्च स्तर पर कार्य करने वाले प्रबन्धकों द्वारा बनाई गई योजनाएँ. जो कि सम्पूर्ण उपक्रम के क्रियाकलापों को प्रभावित करती हैं । इसमें संस्था-की सामान्य नीतियाँ स्पष्ट की जाती हैं ।

II. **मध्यस्तरीय नियोजन :** इन योजनाओं का निर्माण मध्यस्त्तरीय प्रबन्धकों द्वारा किया जाता हे जो कि निम्नस्तरीय नियोजन के लिए आधार का कार्य करती ।

III. **निम्नस्तरीय नियोजन :** निम्न स्तर पर कार्य करने वाले प्रबन्धकों द्वारा बनाई गई ये योजनाएँ मध्स्तरीय योजनाओं को कार्य-रूप देने का कार्य करती हैं । महत्व के आधार पर :

4. **महत्व के आधार पर:** महत्व के आधार पर नियोजन को तीन भागों में बॉटा जा सकता है:

I. **समष्टि नियोजन :** भारत के आर्थिक परिदृश्य में 1990 के पश्चात् आये परिवर्तन, यथा- उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण तथा पारदर्शिता ने समष्टि नियोजन को महत्वपूर्ण बना दिया है । उपक्रम के सफल संचालन के लिए इसकी विद्यमानता आवश्यक समझी जाने लगी है । सामान्य अर्थों में समष्टि नियोजन एक व्यापक योजना है जो संस्था को पूर्णता में विचार करती है । इसे नियोजन का समय दृष्टिकोण कहा जा सकता है ।

II. **व्यूहरचनात्मक नियोजन:** व्यूहरचनात्मक नियोजन न तो चालों का पिटारा है और न ही तकनीकों का समूह, बल्कि यह एक विश्लेषणात्मक विचार एवं कार्य के लिए साधनों की प्रतिबद्धता है । यह उपक्रम की साहसिक क्षमताओं में सुधार लाने की विधि है ।

III. **परिचालन नियोजन:** परिचालन नियोजन को रणनीतिक नियोजन के नाम से भी जाना जाता है । परिचालन नियोजन व्यूह रचनात्मक नियोजन को विशिष्ट कार्य योजनाओं में परिवर्तित करने की एक प्रक्रिया है । यह व्यूहरचनात्मक नियोजन को विषय-वस्तु एवं स्वरूप प्रदान करता है । इसका सम्बन्ध परिचालन से होता है जो कि उपक्रम के विभिन्न क्रियात्मक क्षेत्रों, जैसे-उत्पादन, विपणन, वित्त, मानवीय संसाधन विकास, शोध एवं अनुसंधान आदि के लिए योजनाओं का निर्माण करता है । यह उपलब्ध साधनों के सर्वोत्तम उपयोग को सम्भव बनाता है । इससे फ्रन्टलाइन पर कार्य करने वाले प्रबन्धकों को दिशा मिलती है और इनके आधार पर उनके कार्यो का मूल्यांकन किया जाना आसान होता है ।

12.6 नियोजन की तकनीक या प्रक्रिया

नियोजन प्रक्रिया से आशय ऐसी प्रक्रिया से है जिसके अनुसरण करने से एक प्रभावशाली नियोजन का निर्माण सम्भव है । यद्यपि सभी प्रकार के उपक्रमों के लिए नियोजन की एक सामान्य प्रक्रिया निश्चित नहीं की जा सकती, लेकिन फिर भी एक तर्कसंगत व्यावसायिक नियोजन में निम्न प्रक्रिया का अनुसरण किया जा सकता है:

1. **समस्या को परिभाषित करना -** समस्या को परिभाषित करना नियोजन का वास्तविक बिन्दु है । इसके अन्तर्गत समस्या के संभावित भावी अवसरों पर प्रारम्भिक दृष्टि डालना तथा उपक्रम की शक्तियों एवं सीमाओं का ज्ञान करना शामिल है । इस चरण में प्रबन्धक समस्या के समाधान से होने वाले संभावित लाभों का ज्ञान भी कर लेता है।
2. **उद्देश्यों का निर्धारण -** समस्या को परिभाषित करने के पश्चात् संस्था को अपने उद्देश्यों व लक्ष्यों का स्पष्ट निर्धारण करना चाहिए । सबसे पहले संस्था के सामान्य उद्देश्य निश्चित किये जाने चाहिए । तत्पश्चात् उन्हें विभिन्न विभागों, उप-विभागों व कर्मचारियों हेतु विभक्त कर देना चाहिए ।

उद्देश्य संस्था के साधनों को ध्यान में रखकर निश्चित किये जाने चाहिए तथा वे बोधगम्य एवं वास्तविक होने चाहिए । उद्देश्य किये जाने वाले कार्यो के लक्ष्य बिन्दु होते है तथा इच्छित परिणामों के मार्ग का निर्धारण करते हैं । निर्धारण के बाद इन उद्देश्यों की जानकारी संबंधित विभागों एवं कर्मचारियों को दी जानी चाहिए ताकि वे योजना निर्माण में सहयोग दे सकें ।

3. **नियोजन आधारों एवं मान्यताओं की स्थापना -** नियोजन प्रक्रिया का अगला चरण उसके आधारों की स्थापना करना है । नियोजन आधारों से आशय ऐसी मान्यताओं से है जो योजनाओं के क्रियान्वयन का वातावरण निर्मित करती हैं । इनमें विभिन्न पूर्वानुमानों, आधारभूत नीतियों तथा कम्पनी की विद्यमान योजनाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है । नियोजन के आधारों को पूर्वानुमान भी कहा जा सकता है। ये आधार संस्था के आन्तरिक वातावरण जैसे-विक्रय की मात्रा, उत्पादन वित्त, श्रमिक, योग्यता, प्रबन्धकीय कुशलता आदि से संबंधित हो सकते हैं । ये आधार नियंत्रण-योग्य अथवा अनियंत्रण-योग्य हो सकते हैं, अत: पूर्वानुमान की वैज्ञानिक पद्धतियों व प्रवृत्ति विश्लेषण द्वारा उन्हें ज्ञात करना चाहिए । नियोजन की मान्यताएँ स्पष्ट व व्यापक होना चाहिए तथा इनकी जानकारी नियोजन से सम्बन्धित अधिकारियों को दे देनी चाहिए ।
4. **सूचनाओं का संकलन एवं विश्लेषण -** नियोजन की मान्यताओं का निर्धारण करने के पश्चात् योजना से सम्बन्धित तथ्यों व सूचनाओं का संकलन करना होता है । ये सूचनाएँ विभिन्न आंतरिक स्रोतों जैसे पुराने रिकार्ड, फाइलें, विद्यमान नीतियों, प्रलेखों आदि से एकत्रित की जा सकती हैं । बाह्य स्त्रोतों के रूप में विभिन्न सरकारी विभागों, प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं, ग्राहक आदि से ये सूचनाएं, बाजार अनुसंधान, अवलोकन व साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं । संकलन के बाद सूचनाओं का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करके योजनाओं के निर्माण में इनकी उपयोगिता ज्ञात की जा सकती है ।
5. **वैकल्पिक मार्गो का निर्धारण -** इस चरण में एकत्रित की गई विभिन्न सूचनाओं, तथ्यों व मान्यताओं के आधार पर कार्य के वैकल्पिक मार्गों की खोज की जाती है । इस चरण की यह मान्यता हे कि किसी भी कार्य को करने की अनेक विधियाँ होती हैं, अत: कार्य निष्पादन के संभावित विकल्पों का निर्धारण कर लिया जाना चाहिए ।
6. **विकल्पों का मूल्यांकन -** यह नियोजन प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण चरण है जिसमें वैकल्पिक तरीकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनका मूल्यांकन किया जाता है । उनका मूल्यांकन सापेक्षिक लाभ-दोषों के साथ-साथ संस्था की मान्यताओं एवं लक्ष्यों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए । मूल्यांकन हेतु गणितात्मक विधियों तथा- पर्ट, सी. पी. एम., क्रियात्मक शोध व सांख्यिकीय तकनीकों आदि का प्रयोग किया जा सकता है । प्रत्येक के अपने लाभ दोष होते हैं । कोई विकल्प अधिक लाभदायक किन्तु अधिक खर्चीला व देर से लाभ देने वाला हो सकता है । कोई विकल्प फर्म के दीर्घकालीन लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो सकता है तो कोई विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति

में, अत: अत्यन्त सतर्कता, कल्पना व दूरदृष्टि से विकल्पों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए ।

7. **सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव -** सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव नियोजन के आधारों, लक्ष्यों व संस्था की भावी आवश्यकताओं एवं साधनों के अनुरूप ही हो सकता है । नियोजन का यह चरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हे, क्योंकि इसी में प्रबन्धक निर्णय लेकर योजना का निर्माण करता है । कई बार एक विकल्प के चयन की अपेक्षा दो या अनेक विकल्पों का मिश्रण संस्था के लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है । ऐसी दशा में प्रबन्धक उपयुक्त विकल्पों का समन्वय कर सकता है ।
8. **योजना तैयार करना -** सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव कर लेने के पश्चात् योजना को विस्तार से तैयार किया जाता है । इस चरण में योजना के विभिन्न पहलुओं पर विचार करके योजना की क्रमिक अवस्थाओं का निर्धारण किया जाता है । सम्पूर्ण योजना को उत्पादन विभाग की दृष्टि से भी देखा जाता है । योजना की प्रत्येक अवस्था का निष्पादन समय भी निर्धारित किया जाता है । इसी चरण में योजना अपने अन्तिम रूप में प्रकट होती है ।
9. **सहायक योजनाओं का निर्माण करना -** मूल योजना के सफल क्रियान्वयन के लिए कई सहायक योजनाओं का निर्माण करना आवश्यक होता है । उदाहरण के लिए, यदि किसी संस्था ने किसी नवीन उत्पाद हेतु संयंत्र की स्थापना की योजना बनाई है तो उसे मूल योजना के पश्चात् कर्मचारियों की भर्ती, यंत्रों व मशीन की खरीद, अनुरक्षण सुविधाओं के विकास, उत्पादन अनुसूचियों, विज्ञापन, वित्त, बीमा आदि से सम्बन्धित सहायक योजनाओं का निर्माण भी करना होगा । सहायक योजनाएँ विभागीय योजनाओं के रूप में तैयार की जा सकती हैं ।
10. **क्रियाओं के क्रम व समय का निर्धारण -** इस चरण में योजना को विस्तृत क्रियाओं में विभाजित करके उनका क्रम व समय निर्धारित किया जाता है, ताकि आवश्यक साधनों, सामग्री व औजारों की ठीक समय पर व्यवस्था की जा सके । क्रम निर्धारित हो जाने से यह पता रहता है कि पहले कौन सी क्रिया प्रारम्भ की जानी है और उसके बाद कौन सी । समय निश्चित कर देने से प्रत्येक कार्य का निष्पादन उचित समय पर संभव होता है ।
11. **बजट का निर्माण करना -** कोई भी योजना वित्त व्यवस्था के बिना अधूरी रहती है । योजना में निर्धारित कार्यों को दिल प्रबन्ध द्वारा ही पूरा किया जा सकता है, अत: योजना को अन्तिम रूप देने के साथ ही उसका बजट भी बना लिया जाता है । इसमें योजना की विभिन्न क्रियाओं पर खर्च की जाने वाली वित्तीय राशि का प्रावधान किया जाता है । बजट योजनाओं को नियंत्रित करने तथा योजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन करने का एक महत्वपूर्ण उपकरण भी होता है ।
12. **योजना का क्रियान्वयन-** योजनाओं का महत्व उनके क्रियान्वयन में ही निहित है । जब तक उन्हें कार्य रूप न दे दिया जाये वे ' 'कागजी कार्यवाही ' ही रहती हैं । कर्मचारियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करके ही योजना की प्रभावी क्रियान्विति की जा सकती है,

अत: उन्हें योजना के प्रत्येक पहलू की जानकारी दी जानी चाहिए । योजना के निर्माण में उनके विचारों को प्राप्ति करके तथा उनके हितों का ध्यान रखकर भी योजनाओं के क्रियान्वयन में उनका सहयोग प्राप्त किया जा सकता है ।

12.7 नियोजन के सिद्धान्त

1. **समय का सिद्धान्त :** योजना बनाते समय योजना के पूरी होने का समय अवश्य निश्चित कर देना चाहिए ताकि विभिन्न कार्यक्रमों के पालन में समय का ध्यान रखा जा सके ।
2. **लोचशीलता का सिद्धान्त :** नियोजन लोचशील होना चाहिए क्योंकि यह भविष्य के पूर्वानुमानों पर आधारित होता है । नियोजन इतना लोचशील होना चाहिए कि अनिश्चित घटनाओं के कारण होने वाली हानियों को न्यूनतम किया जा सके । लोचशीलता का अर्थ है कि योजना में आसानी से परिवर्तन किया जा सके व नए मार्गों को अपनाया जा सके ।
3. **कार्यकुशलता का सिद्धान्त :** नियोजन का यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति न्यूनतम प्रयत्नों एवं लागत पर की जानी चाहिए । नियोजन की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि कितनी तत्परता से लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती हे । नियोजन में कार्य को एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया जाता है ।
4. **परिवर्तन का सिद्धान्त :** नियोजन के इस सिद्धान्त के अनुसार प्रबन्धक को नाविक की भाँति सदैव अपने कार्यो की जाँच करते रहना चाहिए और इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु नियोजन में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए अर्थात् निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु पुनर्नियोजन करते रहना चाहिए ।
5. **व्यापकता का सिद्धान्त:** यह सिद्धान्त नियोजन की सर्वव्यापकता को प्रदर्शित करता है । यह नियोजन को प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर अपनाये जाने पर जोर देता है ।
6. **मोर्चाबन्दी का सिद्धान्त :** नियोजन प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से अत्यन्त सुदृढ होना चाहिए । यह सिद्धान्त प्रतियोगी संस्थाओं की नीतियों एवं कार्य प्रणाली को ध्यान में रखकर नियोजन करने पर बल देता है ।
7. **सीमित घटक का सिद्धान्त :** यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि नियोजन करते समय एवं विभिन्न विकल्पों को मूल्यांकन करते समय उन सीमित घटकों को पहचान लेना चाहिए जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण हो तथा जो नियोजन में आगे बाधक बन सकते हों ।
8. **प्राथमिकता का सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार नियोजन प्रबन्ध का एक प्राथमिक कार्य है, अत: अन्य प्रबन्धकीय कार्यो को करने के पूर्व नियोजन किया जाना आवश्यक होता है ।
9. **तथ्यों का सिद्धान्त:** नियोजन तभी प्रभावी होता है जबकि वह समस्त उपलब्ध प्रासंगिक तथ्यों पर आधारित हो, तथ्यों का सामना करता हों तथा तथ्यों द्वारा इंगित कार्यवाही को प्रारम्भ कराता हों ।

10. **नीति संरचना का सिद्धान्त :** यह सिद्धान्त बतलाता है कि नियोजन को सुसंगत एवं प्रभावी बनाने के लिए सुदृढ नीतियों, कार्यक्रमों एवं व्यूहरचनाओं का निर्माण किया जाना चाहिए ।

12.8 सारांश

नियोजन प्रबन्ध का प्राथमिक कार्य है । सामान्य अर्थों में नियोजन का अभिप्राय क्या करना, कैसे करना तथा क्यों करना हूँ? का पूर्व-निर्धारण करना है । इसलिए ही नियोजन को 'आगे देखने' की प्रक्रिया कहा गया है । नियोजन की प्रकृतिगत विशेषताओं को निम्नांकित भागों मे बाटा जा सकता है:

- नियोजन आगे देखने की प्रक्रिया है ।
- नियोजन प्रबन्ध का प्राथमिक कार्य है ।
- नियोजन एक निरन्तर प्रक्रिया है ।
- नियोजन मूलत: चयनात्मक है ।
- नियोजन अनिश्चितताओं में बदलता है ।
- नियोजन उद्देश्य की पूर्ति में मदद करता है ।
- नियोजन सर्वव्यापक है ।
- नियोजन प्रबन्धकीय क्रियाओं का समूह है, तथा
- यह निर्णयन से भिन्न है ।

उपक्रम में मितव्ययिता, कार्यो, मापन, साधनों का सदुपयोग, कुशलता में वृद्धि, निश्चितता, समन्वय, कार्यक्रम तैयार करने तथा विकास की सम्भावनाओं का पता लगाने के उद्देश्य से नियोजन का निर्माण किया जाता है ।

उद्देश्य, नीतियाँ, कार्य-प्रणाली, रीति या विधि, नियम, पूर्वानुमान, बजट, व्यूह रचना तथा कार्यक्रम नियोजन के मुख्य तत्व हैं, जो कि व्यापक एवं विस्तृत क्षेत्र की व्याख्या करते हैं ।

अवधि के आधार पर नियोजन अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन, **प्रकृति के आधार पर** स्थायी एवं अस्थायी, नियोजन स्तर के आधार पर उच्चस्तरीय, मध्यस्तरीय, निम्नस्तरीय, महत्व के आधार पर विस्तृत, व्यूहरचनात्मक एवं संचालनात्मक नियोजन के रूप में माना जा सकता है ।

प्रभावशाली नियोजन के निर्माण के लिए नियोजन-प्रक्रिया में निम्न कदमों पर विचार करना होता है- उद्देश्यों का निर्धारण, तथ्यों का संग्रह, तथ्यों का विश्लेषण, मान्यताओं का निर्धारण, विकल्पों का विकास, विकल्पों का मूल्यांकन, श्रेष्ठ विकल्प का चुनाव, सहायक योजनाओं का निर्माण तथा अनुवर्तन ।

नियोजन का क्षेत्र बाहरी तत्व अर्थात् आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, विधिवत् एवं प्रतिस्पर्धात्मक एवं आन्तरिक क्रियाओं जैसे विक्रय, उत्पादन सामग्री, वित्त एवं मानवीय शक्ति के संयोजन को कहा जा सकता है । वास्तविकता तो यह है कि नियोजन सर्वव्यापक है तथा इसकी सभी प्रबन्धकीय कार्यो में आवश्यकता होती है ।

12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नियोजन प्रक्रिया में निहित आवश्यक कदमों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
   Explain briefly the step involved in planning.
2. 'नियोजन' शब्द की परिभाषा दीजिए और इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
   Definition the term Planning and discuss its chief characteristic.
3. नियोजन से आप क्या समझते हैं? इसकी आवश्यकता और महत्व का विवेचन कीजिए।
   What do you mean by Planning? Discuss its need and important.
4. नियोजन से क्या आशय है? इसकी प्रकृति एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए ।
   What is meant by planning? Discuss its need and importance.
5. नियोजन का क्या अर्थ है? इसके क्या लाभ-दोष व सीमाऐ हैं?
   What is meant by Planning? What are its advantage and disadvantage or limitation?
6. नियोजन की तकनीक का वर्णन कीजिए ।
   Describe the technique of Planning.
7. नियोजन के लक्षण बताइए । क्या नियोजन के मार्ग में कठिनाइयों हैं? नियोजन को किस प्रकार से अधिक प्रभावी बनाया जा सकता हैं?
   Explain the characteristics of Planning Are there difficulty in the path of Planning? How the Planning can made more effective?

12.10 सन्दर्भ ग्रंथ

महत्वपूर्ण पुस्तकें :

प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	आर. सी. अग्रवाल. संजय अग्रवाल प्रकाशक - साहित्य भवन. आगरा
व्यावसायिक प्रबन्ध	–	जी. एस. सुधा प्रकाशक - शील सन्स. जयपुर
प्रबन्ध	–	जे. पी. सिंधल प्रकाशक - अजमेर बुक कम्पनी. जयपुर
व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	डॉ. एम. एस. गुप्ता प्रकाशक - शिवम् बुक हाउस. जयपुर
प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	डी. आर. एल. नौलखा प्रकाशक - रमेश बुक डिपो. जयपुर

इकाई - 13: संगठन (Organisation)

इकाई की रुपेरखा

13.0 संगठन के उद्देश्य
13.1 रूपरेखा
13.2 परिभाषाएँ
13.3 संगठन की आवश्यकता एवं महत्व
13.4 संगठन के प्रारूप या प्रकार
13.5 संगठन प्रक्रिया या संगठन के लिए आवश्यक कदम
13.6 संगठन के सिद्धान्त
13.7 सारांश
13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.9 सन्दर्भ ग्रंथ

13.0 संगठन के उद्देश्य

1. **लक्ष्यों की प्राप्ति मे सहयोग करना -** संगठन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है जिसका उद्देश्य संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति मे सहयोग करना है इसलिए यह कहा भी जाता है कि संगठन उपक्रम के उद्देश्य एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक उपकरण है ।
2. **मानवीय संसाधनों की प्राप्ति, अनुरक्षण एवं विकास करना -** संगठन कार्य का एक प्रमुख उद्देश्य योग्य एवं अनुभवी कर्मचारियों की भर्ती एवं चयन करना, प्रशिक्षित करना कार्य पर लगाना एवं उन्हें संस्था मे बनाये रखना है ।
3. **संगठन की प्रभावशीलता मे वृद्धि करना -** संगठन का एक प्रमुख उद्देश्य बदलती हुई टेक्नोलॉजी तथा वातावरण को ध्यान मे रखते हुए अपनी संगठन-संरचना मे इस प्रकार सुधार करना है, ताकि उसकी प्रभावशाली एवं कुशलता मे अधिकतम वृद्धि हो ।
4. **मितव्ययिता की प्राप्ति करना -** न्यूनतम व्यय पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना ही संगठन का प्राथमिक उद्देश्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए प्रभावशाली संगठन प्रणाली की संरचना की जाती है ।
5. **समय तथा प्रयत्नों मे मितव्ययिता -** उत्पादन में मितव्ययिता के साथ-साथ संगठनकर्ता समय तथा प्रयत्नों में भी मितव्ययिता करने का प्रयास करता है । यह तभी सम्भव है, जबकि श्रेष्ठतम संगठन प्रणाली हो एवं आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग हो ।
6. **श्रम तथा पूंजी के बीच मधुर सम्बन्धों की स्थापना -** संगठन प्रबन्धक श्रम तथा पूँजी के बीच संघर्ष के स्थान पर मधुर सम्बन्धों की स्थापना का भरसक प्रयत्न करता है । इस हेतु कार्य में विविध प्रकार की प्रेरणाएँ प्रदान की जाती है, ताकि श्रमिकों में सन्तोष तथा सहयोग की भावना बनी रहे ।

7. **सेवा की भावना जाग्रत करना -** प्रत्येक व्यावसायिक इकाई का उद्देश्य लाभ कमाना तो होता ही है, किन्तु यदि लाभ की भावना के साथ-साथ सेवा की भावना भी विद्यमान हो तो अधिक श्रेयस्कर रहता है । संगठन का उद्देश्य कर्मचारियों में सेवा की भावना जाग्रत करना है ।

13.1 रूपरेखा

जब कई व्यक्ति मिल जुलकर कोई कार्य करते हैं तो वहाँ कुछ समस्याएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है । इनमें से कुछ समस्याएँ संगठित होती है जैसे कार्य का विभाजन कैसे किया जाए, किस व्यक्ति को कौन-सा कार्य सौंपा जाए, विभिन्न व्यक्तियों के अधिकार व कर्तव्य क्या होंगे, विभिन्न व्यक्तियों के कार्य का समन्वय कैसे किया जाएगा, इत्यादि । यदि इन समस्याओं का उचित रूप से समाधान न किया जाए तो सम्भव है कि कुछ व्यक्ति एक ही कार्य को दो बार कर दे, कोई कार्य बिल्कुल न हो । इस प्रकार कार्य पूरा होने मे अनावश्यक देरी लगेगी और अपव्यय होगा, अत: यह आवश्यक है कि कार्य को विभिन्न व्यक्तियों मे योग्यतानुसार बाँटा जाए, उन्हे अधिकार दिए जाए और उनका उत्तरदायित्व निश्चित किया जाए ताकि कार्य पूरा होने या गलत होने की दशा मे उनके विरूद्ध कुछ कार्यवाही की जा सकें । इन सब कार्यों को करना ही संगठन कहलाता है ।

यदि किसी व्यावसायिक संस्था में उत्पादन के साधनों का सही संगठन किया जाए तो उसके पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में कोई कठिनाई नही होती । सी० कैनेप के अनुसार 'एक कमजोर संगठन अच्छे उत्पाद को मिट्टी में मिला सकता है जबकि एक अच्छा संगठन जिसके पास अपेक्षाकृत कमजोर उत्पाद है, अपने से अच्छे उत्पाद को बाजार से निकाला जा सकता है ।

13.2 परिभाषाएँ

संगठन के एक निश्चित एवं सर्वमान्य अर्थ पर प्रबन्धशास्त्री सहमत नही हैं । विभिन्न विद्वानों ने संगठन शब्द को अलग-अलग अर्थों में प्रस्तुत किया है :-

(अ) कुछ लेखकों ने संगठन का अर्थ व्यापक रूप में लिया है ।

हैनेरी फेयोल के अनुसार 'एक व्यवसाय को संगठित करने का अर्थ है कि ठीक प्रकार से कार्य के लिए प्रत्येक उपयुक्त वस्तु-कच्चा माल, औजार पूँजी और मानवीय साधनों की उचित व्यवस्था करना । '

फेयोल के अनुसार - ''प्रबन्धक का महत्वपूर्ण कार्य है कि उत्पादन के भौतिक साधनों वे मानवीय साधनों को जुटाने व इन्हें संगठित शब्द का प्रयोग विशिष्ट सन्दर्भ मे किया गया है ।'

(ब) संगठन-समूह के रूप

मैकफारलैण्ड के अनुसार संगठन का आशय व्यक्तियों के एक विशेष समूह से है जो एक निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलकर कार्य करता है । '

आ०सी० डेविस के अनुसार- संगठन मूलत: व्यक्तियों का समूह है जो एक नेता के निर्देशन मे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु सहयोग करते हैं ।

चैरटर बरनार्ड के अनुसार - संगठन उस व्यवस्था मे अस्तित्व मे आता है जब कुछ व्यक्ति एक दूसरे के साथ संचार और सम्बन्ध स्थापित करते है और साथ-साथ सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ।.

चैस्टर बरनार्ड के अनुसार - समूह के रूप में संगठन की तीन विशेषताएँ है ।

1. संचार
2. सहयोग से कार्य करना
3. समान उद्देश्य

प्रत्येक संस्था के कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं । ये उद्देश्य साझे होते हैं और इनकी प्राप्ति के लिए संगठन बनाया जाता है । व्यक्ति संगठन के लिये कार्य करते हैं, वे एक दूसरे के साथ विचारों का आदान प्रदान करते हैं तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिलकर कार्य करते है ।

(स) संगठन - कार्य को विभिन्न इकाइयों मे बांटने की प्रक्रिया के रूप मे -

उर्विक के अनुसार 'किसी कार्य को करने के लिए किन-किन क्रियाओं को किया जाए' इसका निर्धारण करना एवं उन क्रियाओं को व्यक्तियों के बीच वितरित करना ही संगठन कहलाता है ।

ब्रेच के अनुसार - "संगठन प्रबन्धक की वह संरचना है जो कि अधिक कुशल कार्य सम्पादन के लिए कुल उत्तरदायित्वों को उचित भागों में विभक्त करता है ।

सी०एच० लार्थ कांट के अनुसार - "संगठन से तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा संस्था के नियत लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए नियुक्त व्यक्तियों में कार्य का आवंटन किया जाता है ।

(द) संगठन - सामंजस्य की प्रक्रिया के रूप में

जी०ई० मिलवर्ड के अनुसार - 'कार्य और कर्मचारी समुदाय का मधुर सम्बन्ध संगठन कहलाता है ।'

विलियम आर स्प्रीगल के अनुसार - 'व्यापक दृष्टि से संगठन उस कला को कहते हैं जिसके द्वारा उद्योग में मानव मशीन तथा माल (तीन 'म') को नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक सिद्धान्त प्रयुक्त किए जाते हैं ।

13.3 संगठन की आवश्यकता एवं महत्व

संगठन सामूहिक प्रयासों द्वारा मानवीय लक्ष्यों की पूर्ति की एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र - उद्योग प्रशासन, सेना, चिकित्सा, खेलकूद युद्ध, राजनीति, घर आदि में संगठन की महत्ता स्पष्ट है । टेरी लिखते है कि संगठन, प्रबन्ध अध्ययन का एक उत्तेजक एवं चुनौतीपूर्ण क्षेत्र है ।. व्यवसाय ही नही वरन् प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का आधार सुदृढ़ संगठन एवं समन्वय व्यवस्था ही है । अमिताई इटजिओनी लिखते हैं कि 'कुशल संगठन के अभाव में हमारा जीवन स्तर हमारी संस्कृति और हमारा प्रजातान्त्रिक जीवन स्थाई नहीं रह सकता । मानव कल्याण एवं संगठनात्मक विवेक दोनों एक सीमा तक साथ-साथ चलते हैं ।

संगठन के महत्व को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है

1. **प्रबन्ध प्रक्रिया का आधार -** संगठन प्रबन्धीय कार्यों के निष्पादन का एक महत्वपूर्ण आधार है । **लैन्सबरी फिश** ने लिखा है कि संगठन वह तन्त्र है जिसकी सहायता से प्रबन्ध व्यवसाय का संचालन, समन्वय एवं नियंत्रण करता है । यह वास्तव मे प्रबन्धक की आधारशिला । यदि संगठन मे कोई दोष रह जाता है तो प्रबन्ध व्यवस्था का कार्य कठिन एवं प्रभावहीन हो जाता है।
2. **सामूहिक प्रयासों की प्रभावशीलता -** संगठन संरचना के द्वारा सामूहिक प्रयासों को उत्पादक एवं प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है । इसके माध्यम से व्यक्तिगत प्रयासों का एकीकरण किया जा सकता है । **क्लाँड् एस0** जार्ज का कथन है कि संगठन प्रयासों के माध्यम से हम अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं संगठन वैयक्तिक सीमाओं पर विजय पाने का एक साधन है ।
3. **व्यावसायिक सफलता की कुंजी -** एक सुदृढ़ संरचना के द्वारा ही व्यावसायिक सफलता को सुनिश्चित किया जा सकता है । **कीनेथ सी० टावे** के शब्दों में 'स्वस्थ संगठन प्रत्येक व्यवसायिक समस्या का समाधान होता है । एक कमजोर संगठन अच्छे को भी निकृष्ट बना देता है और एक अच्छा संगठन कमजोर उत्पाद के माध्यम से अच्छे उत्पादक को बाजार से भगा देता है । "
4. **विशिष्टीकरण में वृद्धि -** संगठन संरचना का मुख्य आधार श्रम विभाजन होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष कार्य ही करता है । इसके अतिरिक्त, तिभागीयकरण के करण भी प्रत्येक विभाग का कार्य क्रियाओं के एक विशिष्ट समूह तक सीमित रहता है । फलस्वरूप विशिष्टीकरण एवं सही व्यक्ति को सही कार्य की नीति को प्रोत्साहन मिलता है ।
5. **समन्वय में सुविधा -** विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन के कारण उपक्रमों में कुछ समस्यायें भी बढ़ी हैं । प्रबन्धक का यह मुख्य कार्य हो गया है कि वह कर्मचारी के पृथक्-पृथक् कार्यो, प्रयासों हितों व दृष्टिकोण में एक उचित संतुलन व समन्वय उत्पन्न करे । संगठन की प्रभावी संरचना, उचित संचार व्यवस्था, पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या के द्वारा समन्वय को सुगम एवं अन्तर्निहित बनाया जा सकता है ।
6. **अधिकार प्रत्यायोजन में सुविधा -** संगठन संरचना के द्वारा अधिकारों का प्रत्यायोजन में सुगम हो जाता है, एक श्रेष्ठ संगठन में प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्यक्षेत्र, उद्देश्य व अधिकारों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । वह अपने अधीनस्थों को आवश्यक कार्य एवं अधिकार सौंप सकता है।
7. **व्यवस्था का निर्माण -** प्रत्येक उपक्रम विभिन्न कार्यों, साधनों कर्मचारियों की एक जटिल एवं विशाल प्रणाली होती है, जिसमें छोटी सी त्रुटि समस्त पूँजी विनियोजन को व्यर्थ बना सकती है, वस्तुत: संगठन के द्वारा ही समस्त संघर्षों, मतभेदों व अनियमितता को उत्पन्न होने से रोका जा सकता है ।
8. **मनोबल में वृद्धि -** एक कुशल संगठन में व्यक्ति को अपनी रूचि, योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्य दिया जाता है उसे अपनी स्थिति, दायित्वों व अधिकारों का स्पष्ट

ज्ञान होता है तथा समस्याओं के दौरान किन अधिकारियों से निर्देशन प्राप्त करना है यह भी उसे मालूम होता है । फलतः उसकी कार्य की इच्छा, सन्तुष्टि एवं मनोबल में वृद्धि होती है।

9. **सृजनशीलता को प्रोत्साहन - ऐलन** ने लिखा है कि 'एक स्वस्थ संगठन में सृजनात्मक विचारों और सक्रियता का जन्म होता है । संगठन से कार्य करने का एक उचित वातावरण बनता है तथा प्रत्येक कर्मचारी को अपने निर्धारित कार्य क्षेत्र मे कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है । फलस्वरूप उनकी पहल शक्ति एवं रचनात्मकता में वृद्धि होती है ।
10. **साधनों का अनुकूलतम प्रयोग -** कुशल संगठन में प्रत्येक कार्य को योग्य व्यक्ति को सौंपा जाता है तथा उचित समन्वय द्वारा कार्यों के दोहराव, टकराव व अपव्यय को समाप्त किया जाता है । फलस्वरूप साधनों का श्रेष्ठ उपयोग होता है तथा साधनों की लागत घटती है ।
11. **संस्था के विकास मे सहायक -** कुशल संगठन कार्यों, कर्मचारियों व साधनों को व्यवस्थित करके उपक्रम को न केवल स्थायित्व प्रदान करता है वरन् इसे विकास एवं विविधीकरण की शक्ति भी प्रदान करता है कुशल संरचना बड़े पैमाने के उत्पादन, बचतों व लाभ वृद्धि करके संस्था को विकास एवं उन्नति के अवसर प्रदान करता है ।
12. **तकनीकी सुधारों का अधिकतम प्रयोग -** संगठन गतिशील प्रक्रिया है । यह नवीनतम यंत्रों प्रविधियों सामग्रियों व तकनीकों को अपनी संरचना में स्थान देती है प्रबन्ध संगठन गतिशीलताओं के द्वारा तकनीकी परिवर्तनों को अपनाकर संस्था को लाभान्वित करते हैं ।
13. **प्रबन्ध-कौशल का विकास -** संगठन प्रणाली मे उचित प्रत्यायोजन की व्यवस्था के द्वारा व्यक्तियों को विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यों-नियोजन, निर्णयन नियन्त्रण अभिप्रेरणा आदि को करने का अवसर मिलता है, फलस्वरूप उनके प्रबन्धकीय ज्ञान एवं कौशल में वृद्धि होती है ।
14. **भ्रष्टाचार की समाप्ति -** एक अच्छा संगठन अपने कर्मचारियों में वैयक्तिक गुणों - परिश्रम, निष्ठा, दायित्व भावना, सद्चरित्र आदि को प्रोत्साहित करके भ्रष्टाचार एवं निष्क्रियता को समाप्त करता है ।
15. **संचार में सुविधा -** संगठन व्यवस्था के द्वारा सम्पूर्ण संस्था में अधिकारी-अधीनस्थ सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं तथा औपचारिक संचार के मार्ग का निर्धारण हो जाता है। फलस्वरूप ऊपर से नीचे की ओर उपदेशों के प्रवाह में तथा नीचे से ऊपर की ओर कर्मचारियों के विचारों, सुझावों व समस्याओं के प्रवाह में सुविधा हो जाती है ।
16. **मानवीय सम्बन्धों में सुधार -** संगठन सरंचना मानवीय सम्बन्धों के सुधार में भी सहायक हो सकता है । अधिकार, दायित्वों की स्पष्ट व्याख्या, कुशल संचार, प्रत्यायोजन, रूचि के अनुसार कार्य वितरण आदेश-निर्देशनो की एकता आदि घटकों से श्रेष्ठ मानवीय सम्बन्धों का विकास होता है ।

13.4 संगठन के प्रारूप या प्रकार

संगठन के प्रारूप की समस्या बहुत पुरानी है । एक उपक्रम मे बहुत से कर्मचारी कार्य करते हैं । संगठन को यथार्थ रूप देने के लिए काम पर लिया जाता है । उपक्रम के उद्देश्य की पूर्ति के लिए इनके मध्य अधिकारों एवं दायित्वों के समुचित रूप में वितरण करने की समस्या आती है । इनके मध्य सम्बन्ध की व्याख्या करना आवश्यक है । इसी समस्या ने संगठन के प्रारूपों को जन्म दिया है । ये प्रारूप कार्यरत कर्मचारियों के सम्बन्धों को स्पष्ट करते हैं । सामान्यतया उपक्रमों में चार प्रकार के संगठन प्रचलन में है और उपक्रम इनमें किसी भी प्रारूप का अपनी आवश्यकतानुसार उपयोग कर सकेगा । ये चार प्रारूप निम्नलिखित है :-

1. रेखा संगठन

रेखा संगठन को सैनिक संगठन, विभागीय संगठन, उदग्र संगठन तथा स्केलर संगठन के नाम से भी पुकारा जाता है । रेखा संगठन का अभिप्राय इस प्रकार के संगठन से है जिसमें अधिकारों का प्रवाह उच्च स्तर से निम्न स्तर की तरफ होता है । ऐसा संगठन जिसमें प्रबन्धक प्रत्यक्ष: उपक्रम के समस्त कार्यों की देखभाल करते हों उसे रेखा संगठन कह सकेंगे । **मेकेफारलेण्ड** ने तो रेखा संगठन को प्रत्यक्ष रेखा शीर्ष सम्बन्ध कहा है । **लुईस ए एलन** ने रेखा संगठन को आदेश, सम्प्रेषण एवं उत्तरदेयता की श्रृंखला कहा है । यह संगठन का अति प्राचीन एवं सरल प्रारूप है रेखा संगठन दो प्रकार का हो सकता है । **प्रथम** - विशुद्ध रेखीय संगठन तथा **द्वितीय-** विभागीय रेखीय संगठन ।

(i) **विशुद्ध रेखीय संगठन -** इस संगठन के अन्तर्गत एक स्तर पर कार्य करने वाले व्यक्तियों की क्रियाएँ एक समान होती है तथा प्रत्येक क्रिया-समूह अपने आप मे एक सम्पूर्ण इकाई होती है ।

(ii) **विभागीय रेखीय संगठन -** संगठन के इस प्रारूप के अन्तर्गत सम्पूर्ण उपक्रम के कार्यों को कुछ विभागों मे बाँट दिया जाता है प्रत्येक विभाग का प्रबन्धक उसकी देखरेख करता है तथा उस विभाग में कार्य करने वाले समस्त कर्मचारी उसके अधीन ही कार्य करते हैं । विभागीय प्रबन्धक ही अपने विभाग मे कार्य करने वाले कर्मचारियों को आदेश एवं निर्देश देता है । यह विशुद्ध रेखीय संगठन का ही एक सुधरा हुआ रूप है समस्त उपक्रम को उत्पादन, विक्रय वित्त तथा सेविवर्गीय विभागों मे विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक विभाग के अलग-अलग प्रबन्धक है । प्रत्येक विभाग में अधीनस्थों के रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति विभागीय प्रबन्धक से आदेश प्राप्त करते हैं ।

लाभ

रेखा संगठन की मुख्य **विशेषताएँ** निम्नलिखित है

1. **सरल एवं समझने में आसान :-** संगठन का यह प्रारूप अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य है। प्रत्येक कार्यरत व्यक्ति संगठन की प्रकिया को आसानी से समझ सकता है । इसके अन्तर्गत उच्च एवं निम्न अधिकारियों के मध्य सम्बन्ध बहुत ही सरल होते हैं ।
2. **शीर्ष निर्णयन -** लालफीताशाही की कमी इस प्रारूप का महत्वपूर्ण लाभ है । अधिकारियों कर्तव्यों एवं अधिकारों के निश्चित होने के कारण तुरन्त निर्णय ले सकते हैं इसके

अतिरिक्त निर्णय के लिए उन्हें किन्हीं अन्य व्यक्तियों की सलाह पर निर्भर नही रहना पड़ता ।

3. **स्पष्ट जवाबदेही :-** प्रत्येक कर्मचारी अपने उच्च अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है इसलिए वह अपनी उत्तरदेयता तथा उत्तरदायित्व से बचने का प्रयास नही कर सकता है । इस प्रकार निकटता अधिकारी के अधीनस्थ के रूप मे कार्य करने के कारण कर्तव्यों का पालन करना तथा न करने का तुरन्त पता लगाया जा सकता है ।
4. **लोच :-** इसमें समस्त क्रियाओं में काफी लोचशीलता रहती है । आवश्यकतानुसार इसमें तुरन्त समायोजन किया जाना सम्भव है ।
5. **एकीकृत नियन्त्रण -** इस प्रारूप के अन्तर्गत प्रत्येक स्तर पर कर्मचारी एक ही अधिकारी के नीचे कार्य करता है अत: उस पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण स्थापित किया जाना सम्भव है और आदेशों में दोहराव नही होता ।
6. **प्रशिक्षण :-** एक अधिकारी ही सम्बन्धित विभाग के समस्त कार्यो की देखभाल करता है, जिससे उसे सभी कार्यों के बारे में प्रतिभा जागृत होती है । इस प्रकार वह विभिन्न कार्यों मे प्रशिक्षण प्राप्त कर लेता है ।

दोष :

रेखा संगठन के कुछ दोष विद्यमान है जो कि निम्नलिखित हैं.

1. **कार्य का अधिक मार :-** समस्त कार्यों का निष्पादन एक ही अधिकारी द्वारा किये जाने के कारण उस पर कार्य का अत्यधिक भार बना रहता है ।
2. **विशिष्टीकरण का अभाव :-** आधुनिक युग मे व्यवसाय इतना जटिल हो गया है कि समस्त कार्यों का निष्पादन एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पादित किया जाना सम्भव नही है। इस प्रारूप में समस्त अधिकार एक ही व्यक्ति में निहित होने के कारण विशिष्टीकरण का उपयोग करना सम्भव नही है ।
3. **पक्षपात की सम्भावना :-** एकतन्त्रीय पद्धति होने के कारण एक ही अधिकारी अपने विभाग के सम्बन्ध में समस्त निर्णय लेता है, इसलिए उसके द्वारा पक्षपात किये जाने की पूरी सम्भावना है ।
4. **समन्वय की समस्या :-** एक ही अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से समस्त कार्यों के प्रति उत्तरदायी होने के कारण वह अपने अधीनस्थों से उनकी क्षमता से अधिक काम लेने का प्रयास करता है जिससे अधीनस्थ कर्मचारी अपने अधिकारियों के साथ सहयोग करने से कतराते हैं ।
5. **पुन: स्थापना कठिन :-** प्रबन्धकों द्वारा अधिकारों का प्रत्यायोजन न किये जाने के कारण संगठन के अन्य व्यक्तियों को उनके कार्यों को सीखने का अवसर नही मिल पाता है इसके कारण प्रबन्धक को अन्य व्यक्ति द्वारा प्रतिस्थापित करना कठिन हो जाता है ।

रेखा संगठन की उपयुक्तता :-

उपर्युक्त दोषों के कारण आधुनिक युग में इस प्रारूप की उपयोगिता काफी कम हो गई है । लेकिन छोटे आकार के उद्योगों, कम कर्मचारियों वाले उपक्रमों. एक ही प्रकृति का उत्पादन

करने वाले संगठनों तथा विशिष्टीकरण की आवश्यकता न रखने वाले उद्योगों में यह प्रारूप आज भी उपयुक्त है ।

रेखा तथा विशेषज्ञ संगठन

आधुनिक युग में अधिकांश उपक्रमों (छोटे आकार के उपक्रमों को छोड़कर) में इसी प्रकार का प्रारूप देखने को मिलता है । यह प्रारूप रेखा अधिकारी एवं विशेषज्ञों का मिश्रित स्वरूप है ।

लुईस ए० ऐलन के अनुसार : रेखागत कार्य वे हैं जो कि उपक्रम के उद्देश्यों को पूरा करने के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते हैं ।

पूर्वोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि रेखा आदेश की वह श्रृखला है जो सचालन मण्डल से उस बिन्दु तक कार्य सम्पादित किया जाता है, एक रेखा में प्रवाहित होती है इस पर संस्था के उद्देश्य के अनुरूप कार्य करने का उत्तरदायित्व रहता है । यह साधराणतया प्रत्यक्ष अधिकार रखती है । सेना इसका एक उपयुक्त ऊदाहरण कहा जा सकता है ।

लुइस ए0ऐलन के मतानुसार : विशेषज्ञ संगठन से गाशय संगठन के उन व्यक्तियों से है जो उपक्रम के उद्देश्य को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त करने के लिए रेखा अधिकारियो की मदद करते हैं ।

विशेषज्ञों के कार्य की प्रकृति अधिकार एवं निर्देश हे तथा इनका कार्य रेखा अधिकारियों को सलाह देना होता है । विशेषज्ञों के द्वारा दी गई सलाह को मानना या न मानना रेखा अधिकारी पर निर्भर करता है । यह एक सहायता प्रदान करने वाली व्यवस्था है । इसकी प्रकृति पूरकता की है तथा यह रेखा अधिकारी को उन संरचनाओं एवं तथ्यों को प्रदान करता है जिनके आधार पर वह नीतियों का निर्धारण कर सके । अध्यक्ष के लिए वकील को कानूनी सलाह के लिए नियुक्त करना अथवा विक्रय प्रबन्धक की सहायता के लिए विज्ञापन प्रबन्धक की नियुक्ति इसके अच्छे उदाहरण है ।

रेखा एवं विशेषज्ञ संगठन का यह प्रारूप है जिसके अन्तर्गत रेखा अधिकारी समस्त आदेशात्मक एवं निर्देशात्मक कार्य करता है और विशेषज्ञ सम्बन्धित समस्या पर विचार कर रेखा अधिकारी को परामर्श देता है जिसे वह स्वीकार करने के लिए बाध्य नही है ।

मूने, ने विशेषज्ञों के कार्यों को सहायक कार्य माना है **लिण्डाल एफ0उर्विक** के अनुसार रेखा अधिकारी का कार्य, कार्य करना है तथा विशेषज्ञ का कार्य विचार करना है । ऐसा कोई भी प्रारूप जिसमें आदेश एवं परामर्श का संयोजन हो उसे रेखा तथा विशेषज्ञ संगठन कहा जा सकता है ।

लाभ

1. **विशिष्टीकरण :** इस प्रारूप के अन्तर्गत रेखा अधिकारी को परामर्श देने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है जिसमें प्रबन्धकीय कार्यों मे विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है ।
2. **रेखा अधिकारी के भार में कमी :** रेखा एवं विशेषज्ञ संगठन के अन्तर्गत समस्या से सम्बन्धित तथ्यों को इकट्ठा करने तथा उनके विश्लेषण करने का कार्य विशेषज्ञों के द्वारा किया जाता है । इसके रेखा अधिकारी के कार्य-भार मे कमी आती है तथा वह अपना अधिक समय अधिक महत्वपूर्ण कार्यों मे लगा सकता है ।

3. **प्रशिक्षण का साधन :** इस प्रारूप के अन्तर्गत एक उपक्रम मे विशेषज्ञों का प्रशिक्षण के साधन के रूप मे लाभ उठाया जा सकता है विशेषज्ञों से विभिन्न समस्याओं पर परामर्श मिलने के कारण अन्य अधिकारी बहुत कुछ सीख सकते है । इससे प्रबन्धकीय योग्यता का विकास होता है ।
4. **सुदृढ़ निर्णय** : विशेषज्ञों द्वारा विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के उपरान्त उनके परामर्श पर निर्णयन के आधारित होने के कारण श्रेष्ठ निर्णय लिये जाने की सम्भावना बढ जाती है ।
5. **लोचशीलता :** क्योंकि रेखा एवं विशेषज्ञ संगठन में रेखा अधिकारी के अतिरिक्त विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध होने के कारण व्यवसाय के क्रिया-कलापों मे वृद्धि के साथ ही आवश्यकतानुसार संगठन के आकार को भी बढाया जा सकता है । उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त इस प्रारूप के अन्तर्गत विशिष्टता एवं अनुभव का सुन्दर समागम है एवं इससे उत्पादन तथा विक्रय आदि की विभिन्न क्रियाओं को कम लागत पर प्रभावपूर्ण ढंग से सम्पादित किया जा सकता है ।

दोष (Disadvantage) :

1. **रेखा अधिकारी एवं विशेषज्ञ में मतभेद :** इस प्रकार के संगठन के अन्तर्गत कार्यरत रेखा अधिकारी एवं विशेषज्ञ परस्पर एक-दूसरे की शिकायत करते हैं रेखा अधिकारियों के अनुसार विशेषज्ञ (1) रेखा अधिकारी की स्थिति में आना चाहते हैं (2) ये श्रेष्ठ परामर्श नही देते, (3) सभी ख्याति अपने नाम लेना चाहते है (4) ये रेखा अधिकारी की कागजी कार्यवाही मे वृद्धि करते है (5) इनके सुझाव व्यावहारिक नही होते तथा (6) सम्पूर्ण व्यवसाय की स्थिति को नही देख पाते । इसी प्रकार विशेषज्ञ, रेखा अधिकारियों की शिकायत करते हैं । उनके मतानुसार रेखा अधिकारी, विशेषज्ञों की उपेक्षा करता है, नवीन विचारों का विरोध करता है, उन्हे समुचित अधिकार प्रदान नही करता है तथा उनके परामर्श की उपेक्षा करता है ।
2. **संगठन को प्रभावोत्पाद बनाना :** रेखा अधिकारी तथा विशेषज्ञों के कार्यों की स्पष्ट व्याख्या के अभाव मे वे यह नही जाने पाते कि हमारा कार्य-क्षेत्र क्या है? इसके अतिरिक्त इनके अधिकारों एवं कर्तव्यों के स्पष्टीकरण के अभाव में उनमें अनावश्यक टकराव होने की सम्भावना बनी रहती है ।
3. **खर्चीला प्रारूप :** रेखा अधिकारी के अतिरिक्त प्रत्येक विशेष कार्य के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति करने से अधिकारियों की संख्या में काफी वृद्धि हो जाती है जिसका प्रभाव उपक्रम की वित्तीय व्यवस्था पर पड़ता है । इन विशेषज्ञों पर संस्था को काफी मात्रा में पैसा खर्च करना पडता है । यही कारण है जिससे इस विधि को मितव्ययी नही मानते है ।
4. **केन्द्रीयकरण पर बल :** इस व्यवस्था के अन्तर्गत समरस आदेशात्मक एवं निर्देशात्मक कार्य रेखा अधिकारी के द्वारा किये जाते है, जिनमें केन्द्रीयकरण का भाव छुपा हुआ है। इस प्रवृति का नुकसान यह होता है कि संगठन के अन्य मानवीय अवयवों को समुचित लाभ नही मिल पाता ।

5. **उत्तरदायित्व का अभाव :** रेखा अधिकारी तथा विशेषज्ञ इस प्रारूप के अन्तर्गत अपने-अपने उत्तरदायित्वों से बचना चाहते हैं । रेखा अधिकारी विशेषज्ञ की गलत सलाह का बहाना लेकर बचना चाहते हैं, जबकि विशेषज्ञ क्रियान्वयन की विधि को अनुचित सिद्ध कर अपने आपको सम्पूर्ण उत्तरदायित्व से बचाने का प्रयास करता है । उपरोक्त दोषों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस प्रारूप का मुख्य दोष विशेषज्ञों एवं लाइन अधिकारियों की वैचारिक विषमता है । इस विषमता को दूर करने हेतु कुछ सुझाव प्रस्तुत हैं, जो निम्नलिखित है

1. उपक्रम की इकाइयों का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए. जिससे अन्तिम उत्तरदायित्व रेखा अधिकारी का ही रहे ।
2. विशेषज्ञों द्वारा अधिकारी के लिए उपयुक्त परामर्श दिये जाने चाहिए ।
3. विशेषज्ञों, रेखा अधिकारी द्वारा किये गये निवेदन पर ही परामर्श प्रदान करें ।
4. विशेषज्ञों द्वारा प्रदान की गई सलाह को समुचित महत्व दिया जाना चाहिए ।
5. रेखा अधिकारी तथा विशेषज्ञ दोनों को ही अपील का अधिकार मिलना चाहिए जिससे आपस में मतभेद होने की स्थिति में उन्हें तुरन्त दूर किया जा सके । उन्हें उनके अधिकारों एवं दायित्वों को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए ।
6. रेखा अधिकारी को विशेषज्ञों द्वारा दी गई सलाह को मानने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए । उपर्युक्त सुझावों को यदि क्रियान्वित किया जाये तो रेखा अधिकारी तथा विशेषज्ञों के मध्य उत्पन्न मतभेद को तुरन्त समाप्त किया जा सकेगा तथा उपक्रम के क्रियाकलापों में सुधार सम्भव हो पायेगा ।

रेखा तथा विशेषज्ञ संगठन की उपयुक्तता :-

कई प्रकार के दोषों की विद्यमानता के उपरान्त भी यह संगठन ऐसे संस्थानों में जहाँ सामूहिक निर्णयन की आवश्यकता हो, बडे पैमाने पर कार्य किया जाता हो, कला तथा विज्ञान दोनों की आवश्यकता हो वहाँ पर यह काफी उपयुक्त रहेगा ।

क्रियात्मक संगठन

क्रियात्मक संगठन की अवधारणा का मूलत: **फ्रेडरिक विन्सलो टेलर** ने विकास किया था । उनका मत था कि एक व्यक्ति समस्त कार्यों का विशेषज्ञ नही हो सकता, इसलिए कार्यरत कर्मचारी को वही कार्य दिया जाना चाहिए जिसमें वह दक्ष हो । **टेलर** की इस विचारधारा में आधुनिक युग मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, जिससे आज इसका एक सुधरा हुआ रूप उपक्रमों मे मिलता है ।

सामान्य भाषा में क्रियात्मक संगठन का आशय ऐसे संगठन से है जहाँ पर एक व्यक्ति अपनी इकाई मे कार्यरत व्यक्तियों पर रेखा अधिकार रखता है । अपने विशिष्ट कार्यो के सम्बन्ध में दूसरों को सलाह दे सकता है तथा अपनी क्रियाओं के सम्बन्ध में अन्य विभाग के कर्मचारियों को आदेश दे सकता है ।

फिलिप्पो के मतानुसार : 'क्रियात्मक सम्बन्धों की स्थापना उस समय होती है जबकि विशेषज्ञों के कार्य को रेखा अधिकारियों के कार्य के ऊपर परामर्श के स्थान पर आदेशात्मक बना दिया जाता है ।

1. इस प्रारूप में विशेषज्ञ के अन्तर्गत सम्पूर्ण अधिकार निहित हैं ।
2. यह संगठन अपने कार्य के सम्बन्ध में दिशा देने का अधिकार रखता है ।
3. यह प्रारूप कार्य की विधि तथा कार्य को सम्पन्न किये जाने वाले समय को स्पष्ट रूप परिभाषित करता है ।
4. इसमें आदेश की एकता का अभाव पाया जाता है ।
5. इसमें सौंपें गये विशिष्ट कार्य के सम्बन्ध मे उसे रेखा अधिकार प्राप्त होते है जिसके अन्तर्गत इस विशिष्ट कार्य के सम्बन्ध में वह अन्य विभागों को आदेश दे सकता और उनकी पालना करा सकेगा ।

लाभ (Advantage)

1. **विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन :-** इस प्रारूप के अन्तर्गत समस्त कार्यों की देखभाल उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो कि दक्ष हों । इन्हीं को विशेषज्ञों के नाम से जाना जाता है ।
2. **लोच :-** यह प्रारूप अत्यन्त ही लोचदार होता है सभी विभागों की देखभाल करने वाले विशेषज्ञ होने से संगठन मे आवश्यकतानुसार संशोधन तथा परिवर्तन करना आसान बन जाता है । इसके अतिरिक्त इस प्रकार के परिवर्तन के लिए सम्पूर्ण उपक्रम के ढाँचे को अस्त-व्यस्त नही करना पड़ता है ।
3. **संचालन में मितव्ययिता :-** कार्यो का विभाजन होने, नई तकनीकों के उपयोग करने तथा वैज्ञानिक विधियों के अपनाने से बडे पैमाने पर उत्पादन किया जाना सरल बन जाता है बड़े पैमाने पर उत्पादन से प्रति इकाई लागत मे कमी आयेगी और संचालन में मितव्ययिता आयेगी
4. **पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास :-** अधिकारों एवं दायित्वों के स्पष्ट होने तथा वैचारिक विषमता के अवसर नही मिलने से सभी कार्यरत कर्मचारियों मे पारस्परिक भावना का विकास होता है । यह भावना आगे जाकर उपक्रम के लिए लाभदायक साबित हो सकती है ।
5. **प्रतिस्प्रर्द्धात्मक शक्ति में सुधार :-** उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं मे विशिष्टीकरण आने से प्रतिस्प्रर्द्धात्मक शक्ति मे सुधार आता है, मात्रा कीमत एवं किस्म की दृष्टि से एक छोटा उपक्रम भी वृहद उद्योग के साथ प्रतिस्पर्द्धा कर सकता है ।

उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त यह पद्धति प्रेरणात्मक है तथा इसमें कर्मचारियों के अधिकारों एवं दायित्वों का अधिकतम सीमा तक विभाजन किया जाता है जिसमें उपक्रम की कुशलता बढती है।

दोष (Disadvantages)

1. **जटिल सम्बन्ध :-** कार्यरत कर्मचारियों के सम्बन्ध अन्य प्रारूपों की अपेक्षाकृत इसमें अधिक जटिल हो जाते है, जिन्हें सामान्य व्यक्ति आसानी से नहीं समझ सकता ।
2. **समन्वय की समस्या :-** कार्यों को विभिन्न भागो मे बाँट दिया जाता है । विभागों की संख्या में वृद्धि हो जाने से उनकी विभिन्न क्रियाओं मे समन्वय स्थापित किया जाना असम्भव हो सकता है ।

3. **भ्रम की उत्पति :-** रेखा और विशेषज्ञ संगठन के अन्तर्गत अधिकारों के दोहराव की समस्या तथा रेखा अधिकारियों के उत्तरदायित्वों की अस्पष्टता से उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं मे भ्रम उत्पन्न हो जाता है इसलिए बहुत से विद्वानों ने इस पर अत्यधिक विशिष्टीकरण का दोष लगाया है ।
4. **खर्चीली :-** इस पद्धति को लागू करने पर उपक्रम में कई प्रकार के विशेषज्ञों को रखा जाता है । इस प्रारूप का उपयोग छोटे-छोटे कारखाने के अन्तर्गत नही किया जाता सकता है, क्योंकि यह पद्धति काफी खर्चीली बन गई है ।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त अधिकारियों की उदासीनता तथा पहलपन की शक्ति पर भी प्रारूप की प्रतिकूल स्थिति है । यही कारण है जिससे आधुनिक युग मे इस प्रारूप का उपयोग बहुत अधिक नही है ।

क्रियात्मक संगठन की उपयुक्तता

क्रियात्मक संगठन ऐसे उपक्रमों के लिए जो वृहद पैमाने पर उत्पादन करते हों तथा जिनमें विशिष्टीकरण बहुत अधिक आवश्यक हों, काफी उपयुक्त कहा जा सकता है ।

समिति संगठन

व्यवसायिक क्षेत्र मे समिति संगठन के प्रारूप का विकास काफी नवीन है । साधारण अर्थ में समिति का अभिप्राय किसी विशिष्ट समूह से है जिसकी स्थापना किसी विशेष उद्देश्य से की गई हो ।

टैरी के मतानुसार :- समिति चुने हुए या नियुक्त किये गये व्यक्तियों की एक संस्था है जो अपने सामने आने वाली समस्याओं पर संगठित रूप से विचार-विमर्श करने के लिए मिलती है ।

समिति की इस परिभाषा मे सामूहिक विचार-विमर्श का भाव निहित है तथा यह व्यक्तियों के एक समूह की ओर इंगित करती है ।

लाभ

1. **एकीकृत सामूहिक निर्णय** : किसी भी समस्या के समुचित हल के लिए विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान के उपयोग की आवश्यकता होती है । उदाहरणार्थ विक्रय, अभियान्त्रिकी, भूगोल मनोविज्ञान, गणित आदि के सम्मिलित ज्ञान के आधार पर अच्छा निर्णय लिये जा सकते हैं ।
2. **समन्वय में सहायता :** समिति संगठन के अन्तर्गत विभिन्न विचारों को एकीकृत किया जाता है सदस्यों से अधिकतम पारस्परिक मतैक्य उत्पन्न किया जाता है इन सूचनाओं को प्राप्त करना, विश्लेषण करना आदि समन्वय का अधिक आसान कर देता है ।
3. **अधीनस्थों को हिस्सेदारी :** पारस्परिक सहयोग में वृद्धि, नैतिक उत्थान तथा अभिप्रेरण के लिए उन्हे निर्णयन की प्रक्रिया मे हिस्सेदारी दिया जाना आवश्यक है । समिति संगठन के उपक्रम के कार्यरत अधीनस्थों को यह सहभागिता प्रदान कर कार्यकलापों में सुधार लाया जाना सम्भव है ।
4. **अधिकारों का विकेन्द्रीकरण :** संगठन के इस प्रारूप से ही अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की स्थिति स्पष्ट है । इसमें समिति के सदस्यों के मध्य सत्ता को बाँट दिया जाता है जो परस्पर एक-दूसरे के क्रियाकलापों पर ध्यान रखते है ।

5. **प्रबन्धकीय ज्ञान का विकास :** समिति संगठन के अन्तर्गत कई व्यक्ति मिल कर निर्णय लेते है इसलिए ही उसे प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का साधन माना जाता है ।
6. **प्रभावशाली सन्देश वाहन :** सामान्य मान्यता है कि लिखित सन्देश वाहक के स्थान पर मौखिक सन्देश वाहक अधिक प्रभावशाली होता है, क्योंकि समिति के सदस्य एक ही स्थान पर आमने-सामने बैठ कर निर्णय करते हैं, प्रश्न पूछते हैं तथा उत्तर देते हैं जो कि सदस्यों के मध्य सूचनाओं के आदान-प्रदान का एक महत्वपूर्ण साधन माना जा सकता है ।

दोष (Disadvantages)

1. **खर्चीली पद्धति :** एक समिति संगठन के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्ति मिलते हैं, आपस मे विचार-विमर्श करते हैं इस प्रक्रिया मे काफी समय एवं धन लगता है तथा समिति की कार्यवाही मे भाग लेने वाले सदस्य अपने दैनिक कार्यों को भी नही देख पाते हैं ।
2. **उत्तरदायित्व की समस्या :** समिति संगठन द्वारा लिये गये प्रत्येक निर्णय के लिए समिति संयुक्त रूप से जिम्मेदार होती है । एक सदस्य का उत्तरदायित्व इतना है कि वह सभा की कार्यवाही मे सुन्दर भूमिका अदा करे लेकिन उसे व्यक्तिगत रूप से किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता है ।
3. **निर्णय मे देरी :** जहाँ एक से अधिक व्यक्ति मिलते वहाँ पर उनके विचारो में मतभेद होना स्वाभाविक है । इस मतभेद की स्थिति मे समिति द्वारा शीघ्र निर्णय नही लिए जा पाते । कभी-कभी निर्णय इतनी देरी से लिये जाते हैं कि उस समय तक उनकी कोई उपयोगिता नही रहती ।
4. **समझौते की प्रवृत्ति :** समिति के समस्त निर्णय सर्वसम्मति से लिए जाते हैं ऐसा प्रतीत होता है, जबकि यथार्थता यह है कि विचारों मे सामंजस्य प्राप्त किया जाता है ।
5. **अल्पसंख्यकों की धाक :** सामान्यतया समिति संगठन सर्वसम्मति से निर्णय लेना चाहता है कई अवसरों पर समिति के प्रभाव अथवा अल्प-संख्यकों की अनुचित हठ के समक्ष समिति को झुकना पडता है, जो कि एक अच्छी स्थिति नही कही जा सकती है।

13.5 संगठन प्रक्रिया या संगठन के लिए आवश्यक कदम

1. **क्रियाओं का निर्धारण :** किसी उपक्रम के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का निर्धारण होने के उपरान्त सबसे पहला कदम उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं का निर्धारण करना है । इसके लिए पहले किये जाने वाले समस्त कार्यों को परिभाषित किया जाता है ।
2. **क्रियाओं का श्रेणीबद्ध अथवा समूहीकरण किया जाना :** इसके अन्तर्गत समान प्रकार की क्रियाओं अथवा एक-दूसरे से सम्बन्धित क्रियाओं का विभागों अथवा क्षेत्रों में विभाजन किया जाता है तत्पश्चात उन विभागों अथवा क्षेत्रीय क्रियाओं को खण्डों एवं उप-खण्डों में विभाजित करने के कई आधार हो सकते हैं, जैसे उपक्रम के मूल कार्य (जैसे- विक्रय, वित्त, सेविवर्गीय प्रबन्ध उत्पादन तथा क्रय आदि)

3. **कर्मचारियों के मध्य कार्य का विभाजन :** क्रियाओं का श्रेणीयन पूरा हो जाने के उपरान्त उनका वितरण विभिन्न व्यक्तियों मे उनकी योग्यता एवं रूचि के अनुसार किया जाता है । ऐसा करते समय प्रत्येक कर्मचारी के उत्तरदायित्व की सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है ।
4. **अधिकारों का सौंपा जाना :** प्रत्येक कर्मचारी को आवश्यक अधिकार सौंपें जाते हैं, ताकि वह अपना उत्तरदायित्व निभा सके । ध्यान रहे कि बिना उत्तरदायित्व के अधिकारों को सौंपा जाना सर्वथा अनुचित है । किसी व्यक्ति को कितने अधिकार प्रदान किये जायें यह कार्य की प्रकृति उसके सम्बन्ध में उसको उत्तरदायित्व तथा पद, आदि पर निर्भर करता है ।
5. **समन्वय, सन्तुलन एवं सम्बन्ध स्थापना :** किसी उपक्रम मे संगठन की स्थापना की दिशा में उठाया जाने वाला अन्तिम कदम विभिन्न विभागों, उप विभागों समूहों एवं व्यक्तियों की क्रियाओं के मध्य समन्वय सन्तुलन एवं सम्बन्धों की स्थापना किया जाना है । इस हेतु संगठन के विभिन्न भागों में समन्वय स्थापित करना परम आवश्यक होता है । प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण संगठन के रूप मे, उसके स्थान पर अन्य के विभागों एवं पदाधिकारियों के साथ उसके सम्बन्ध इत्यादि के बारे मे अवगत करा दिया जाता है ।

13.6 संगठन के सिद्धान्त

ब्रेच के अनुसार "यदि संगठन की संरचना के लिए किसी व्यवस्थित विधि का होना आवश्यक है तो कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त अवश्य ही होने चाहिए । सिद्धान्तों की सहायता से संगठन में उन कर्मियों को रोका जा सकता है जो उसकी कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव डालती है ।

लियोनार्ड के अनुसार - संगठन के सिद्धान्त से आशय उन प्रभावों से हैं जो निश्चित उद्देश्य की पूर्ति करने तथा संचालन के लिए योजना एवं संरचना के निर्माण में उच्च स्तर को समानता बनाए रखने हेतु प्रयोग किए जाते हैं ।"

टेलर फेर्योल तथा **उर्विक** ने अपने-अपने अनुभव के आधार पर संगठन के अनेक सिद्धान्तों की खोज की है जिनमें प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं -

1. **उद्देश्य की एकरूपता का सिद्धान्त -** प्रत्येक विभाग एवं उप विभाग के उद्देश्य समान होने चाहिए।
2. **विशिष्टीकरण का सिद्धान्त**- इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य सौंपना चाहिए जिसको करने में वह कुशल हो ताकि वह उस कार्य का विशेषज्ञ बन जाए । इसमें कर्मचारियों को भी सन्तुष्टि प्राप्ति होती है और वह लगन से कार्य करते हैं ।
3. **समन्वय का सिद्धान्त -** प्रत्येक विभाग की क्रियाओं का दूसरे विभाग की क्रियाओं से समन्वय होना चाहिए जैसे कि विक्रय विभाग के अनुमानों के अनुसार ही उत्पादन विभाग को उत्पादन का बजट बनाना चाहिए । इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों की क्रियाओं में भी आपस मे समन्वय होना चाहिए ।

4. **व्याख्या का सिद्धान्त -** संगठन के प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों दायित्वों और अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए, जिसमें कार्य निष्पादन में कोई देरी न हो और कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे के कार्य क्षेत्र मे हस्तक्षेप ने कर सके ।
5. **आदेशों की एकता का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति ही अधिकारी होना चाहिए, जिससे वह अपने कार्य के लिए आदेश ले । एक व्यक्ति एक ही समय मे दो अधिकारियों की सेवा नही कर सकता यदि उसे आदेश कई अधिकारियों से मिलेंगे तो वह इनका पालन नही कर सकेगा क्योंकि ये आदेश एक दूसरे के प्रतिकूल भी हो सकते हैं ।
6. **नियन्त्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त -** नियन्त्रण के क्षेत्र अनुसार किसी उच्च अधिकारी के अधीनस्थों की संख्या केवल उतनी होनी चाहिए जितना प्रबन्धक द्वारा सफलतापूर्वक नियन्त्रण किया जा सके । इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रेकुनाज है । उनके अनुसार "कोई भी अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से पाँच और अधिक से अधिक छः अधीनस्थों से अधिक का निरीक्षण नही कर सकता है ।" नियन्त्रण के क्षेत्र को निर्धारित करते समय व्यवसाय की प्रकृति को दृष्टिगत रखना आवश्यक होगा ।
7. **अधिकार व दायित्व का सिद्धान्त -** प्रत्येक कर्मचारी को जितना दायित्व सौंपा गया है उसे उस दायित्व के पालन के लिए उतने ही अधिकार भी दिए जाने आवश्यक है । यदि दायित्व और अधिकार समान अनुपात में न दिए गए तो सम्बन्धित व्यक्ति अपना कार्य पूरा नही कर पायेगा क्योंकि उसके पास अधिकार नही है ।
8. **लचीलेपन का सिद्धान्त** - संगठन का यह सिद्धान्त यह बतलाता है कि संगठन संरचना ऐसी होनी चाहिए जिसे तकनीकी एवं अन्य परिवर्तन के समय आसानी से बदला जा सके । यदि संगठन को लालफीताशाही, औपचारिक नियमों के बन्धन व अत्यधिक नियन्त्रण से दूर रखा जाए तो उसको अधिक लोचशील बनाया जा सकता है।
9. **अपवाद का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रबन्धक के जन्मदाता टेलर ने किया था । टेलर के अनुसार "दिन प्रतिदिन के कार्यों के करने के लिए अधीनस्थ को अधिकार दे दिए जाने चाहिए तथा अपवाद पूर्ण एवं महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय करने के कार्य उच्च अधिकारियों पर छोड़ दिया जाना चाहिए ।
10. **जाँच का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक है कि व्यक्ति या विभाग द्वारा निष्पादित कार्यों की किसी दूसरे व्यक्ति या विभाग द्वारा जाँच होनी चाहिए ।
11. **अन्तिम दायित्व का सिद्धान्त -** यद्यपि सभी अधीनस्थों का अलग-अलग कार्य सौंप दिया गया है तब भी अधीनस्थों के कार्य के लिए अन्तिम दायित्व उच्च अधिकारी का होता है व अपने अधीन कर्मचारियों से काम लेने का पूरा अधिकार प्राप्त होना चाहिए ।
12. **कुशलता का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ तक सम्भव हो, योग्यता और कुशलता के आधार पर कर्मचारियों का चुनाव किया जाना चाहिए तथा उदार श्रम नीति अपनाई जानी चाहिए

13. **निरन्तरता का सिद्धान्त -** संगठन ऐसा होना चाहिए जो व्यवसाय के विकास से साथ-साथ विकसित होता जाता तथा इसमें ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी भी उच्च अधिकारी के अवकाश ग्रहण करने पर दूसरे व्यक्ति उसका स्थान आसानी से ले सकें ।
14. **सरलता का सिद्धान्त -** संगठनात्मक ढाँचा सरल होना चाहिए ताकि प्रत्येक कर्मचारी यह समझ सके कि संगठन मे उसका क्या स्थान है । यथासम्भव पदों की संख्या कम होनी चाहिए जिसमें संदेशवाहन प्रभावपूर्ण होगा और समन्वय स्थापित करने में भी सहायता मिलेगी ।
15. **पूर्ण स्पष्टता का सिद्धान्त -** संगठन मे कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को संगठन के उद्देश्य, उसके कार्य अधिकार एवं दायित्व के बारे में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार क्षेत्र में रहते हुए अपने-अपने कार्य का निष्पादन ठीक प्रकार कर सके ।
16. **सहभागिता का सिद्धान्त -** सहभागिता का अर्थ संगठन के लिए किए जाने वाले निर्णयों से संबधित व्यक्तियों का भागीदार बनाने से है । ऐसा करने से निर्णयों को लागू करने मे कठिनाई नही आती है और अधिकारी एवं अधीनस्थों में मधुर संबंध स्थापित होते हैं।

उपरोक्त सभी सिद्धान्तों को ध्यान मे रखकर स्थापित किया गया संगठन एक आदर्श एव सुदृढ़ संगठन होगा ।

13.7 सारांश

संगठन कार्यरत व्यक्तियों के मध्य व्यावहारिक सम्बन्धों का वह स्वरूप है जिनसे उपलब्ध साधनों का उपक्रम के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की दशा में कुशलतापूर्वक उपयोग किया जा सके । यह प्रबन्ध का तन्त्र है । यह कार्यरत व्यक्तियों के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों की विवेचना करता है तथा यह समन्वय, क्रमबद्धता तथा सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति करने की एक प्रक्रिया है । संगठन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है तथा यह साधन है 'साध्य' नहीं ।

प्रत्येक संगठन का निर्माण लक्ष्यों को लेकर किया जाता है । लक्ष्य वे अन्तिम परिणाम है जिनकी प्राप्ति प्रत्येक संगठन करना चाहता है । संगठन में लक्ष्यों का महत्व व्यापक है, क्योंकि ये (i) व्यवसाय के विकास एवं उत्तरजीविता में योगदान करते हैं, (ii) प्रबन्धकों को दिशा प्रदान करते हैं, (iii) प्रतिबद्धता पैदा करते हैं, (iv) एकीकरण लाते हैं, (v) अभिप्रेरणा, (vi) मापन के आधार हैं, (vii) नियोजन के आधार है और (viii) उत्तरदायित्व की स्थापना करते हैं ।

लक्ष्य सुदृढ़ हों इसके लिए उनका स्पष्ट, सरल लोचशील, नव परिवर्तनशील मापन-योग्य, व्यावहारिक, समयबद्ध, परिणामपरक होना तथा प्राथमिकता प्रदान करने वाला तथा हिस्सेदारी प्रदान करने वाला होना चाहिए ।

एक संगठन के अनेक लक्ष्य होते हैं जिनमें निरन्तर विकास, स्थिरता, अच्छे पारस्परिक सम्बन्धों का विकास, उपलब्ध साधनों का सदुपयोग, सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति, निश्चितता प्रदान करने के लक्ष्य महत्वपूर्ण हैं ।

किसी भी संगठन को अच्छा स्वरूप प्रदान करने के लिए उसे निर्दिष्ट, स्पष्ट तथा सन्तुलित सिद्धान्तों पर आधारित किया जाना आवश्यक है । इसके कुछ मुख्य सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

(i) उद्देश्य का सिद्धांत ।
(ii) आदेश का सौपानिक सिद्धांत ।
(iii) आदेश की एकरूपता का सिद्धांत ।
(iv) व्याख्या का सिद्धान्त ।
(v) अधिकार एवं दायित्व की समानता का सिद्धांत ।
(vi) अन्तिम दायित्व का सिद्धांत ।
(vii) अधिकार समर्पण का सिद्धांत ।
(viii) न्यूनतम सत्ता-स्तरों का सिद्धांत ।
(ix) विशिष्टीकरण का सिद्धांत ।
(x) लोचशीलता का सिद्धांत ।

यदि उपर्युक्त सभी सिद्धांतों को संगठन के निर्माण के समय ध्यान में रखा जाये तो एक स्वस्थ संगठन का निर्माण किया जाना सम्भव हो सकेगा । यह वह संगठन होगा जिसमें एक आदर्श संगठन के सभी गुण होंगे । ये गुण लोचशीलता सरलता, स्पष्टता, समन्वय, आपसी सहयोग, सन्तुलन, विशिष्टीकरण, आदेश की एकता एवम् उपलब्ध साधनों के सदुपयोग की स्थिति के हो सकते हैं ।

13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संगठन की परिभाषा दीजिए तथा इसकी विशेषता लिखिए ।
   Define organization and write its characteristics.
2. "प्रभावशाली संगठन सफल प्रबन्ध का आधार है ।" समीक्षा कीजिए ।
   "Efficient organization is the basis of successful management." Comment.
3. संगठन की परिभाषा दीजिए । इसके सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए ।
   Define organization. Discuss its principles.
4. संगठन के क्या उद्देश्य है? इसका महत्व समझाइए ।
   What are the objectives of organization? Explain its importance.
5. रेखा संगठन को समझाइये तथा इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए ।
   Explain line organization and describe its advantages and disadvantages.
6. संगठन के विभिन्न प्रारूपों को स्पष्ट कीजिए । उनके क्या-क्या लाभ तथा दोष हैं?

Define various forms of organisation. What are their advantages and disadvantages?

7. क्रियात्मक संगठन का अर्थ बताइये । इसके लाभ और दोषों का वर्णन करिये ।
   Define functional organization. Discuss its merits and demerits.

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	आर. सी. अग्रवाल, संजय अग्रवाल प्रकाशक - साहित्य भवन, आगरा
व्यावसायिक प्रबन्ध	–	जी. एस. सुधा प्रकाशक - शील सन्स, जयपुर
प्रबन्ध	–	जे. पी सिंधल प्रकाशक - अजमेर बुक कम्पनी, जयपुर
व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	डॉ. एम. एस. गुप्ता प्रकाशक - शिवम् बुक हाउस, जयपुर
प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	डॉ. आर. एल. नौलखा प्रकाशक - रमेश बुक डिपो. जयपुर

इकाई - 14 : समन्वय (Co-ordination)

इकाई की रूपरेखा

14.0 समन्वय के उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 समन्वय : अर्थ एवं परिभाषा
14.3 समन्वय की आवश्यकता
14.4 समन्वय के सिद्धान्त
14.5 समन्वय की तकनीक
14.6 समन्वय के प्रकार
14.7 सारांश
14.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.9 संदर्भ पुस्तकें

14.0 समन्वय के उद्देश्य

समन्वय का मूलभूत उद्देश्य निर्धारित लक्ष्य अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न क्रियाओं में तालमेल अथवा एकता स्थापित करना है । किसी संस्था में समन्वय की स्थापना अग्रलिखित उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जा सकती है-

1. विभिन्न क्रियाओं में एकता अथवा तालमेल स्थापित करना ।
2. निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना ।
3. कुशलता में वृद्धि करना ।
4. मितव्ययिता लाना ।
5. मधुर मानवीय सम्बन्धों की स्थापना करना एवं उनका विकास करना ।
6. व्यक्तिगत हितों तथा संस्थागत हितों में सामंजस्य स्थापित करना ।
7. कर्मचारियों में स्थायित्व लाना ।
8. क्रियाओं के दोहराव को रोकना ।
9. संस्था के साधनों का कुशलतम उपयोग करना ।
10. प्रबन्धकीय योग्यता का विकास करना ।
11. समूह भावना का विकास करना ।
12. कर्मचारियों के मध्य सद्भावना एवं सहयोग की भावना उत्पन्न करना ।

14.1 प्रस्तावना

चेस्टर आई बर्नार्ड का कथन है कि "समन्वय की गुणवत्ता संगठन के जीवित रहने के लिए एक निर्णायक घटक है ।" यह सच है कि समन्वय के बिना संस्था का सफल संचालन नहीं किया जा सकता है । समन्वय के अभाव में संस्था की स्थिति उस रथ के समान हो जाती है जिसके घोडे अलग-अलग दिशाओं में भागने का प्रयास कर रहे हों ।

समन्वय व्यक्तियों एवं विभागों के पृथक-पृथक प्रयासों, प्रयत्नों, क्रियाओं व शक्तियों में सामंजस्य उत्पन्न करके एक "कार्यात्मक एकता" व 'एकीकृत इकाई' को जन्म देता है ।

समन्वय के अभाव में विशाल एवं शक्तिशाली संगठन भी व्यक्तियों, यंत्रों, सामग्रियों व अन्य संसाधनों के मात्र निष्प्राण ढेर बन कर रह जाते हैं । प्रत्येक संगठन की सफलता मूल रूप से इसके सदस्यों के समन्वित प्रयासों पर ही निर्भर करती है । वास्तव में, समन्वय ही प्रबन्ध प्रभावशीलता की अन्तिम कसौटी है ।

आधुनिक युग में विशिष्टीकरण तेजी से बढ रहा है । संगठनों में प्रत्येक कार्य सघन, विशिष्ट एवं अलग-थलग होता जा रहा हे । कार्य छोटा व बँटता चला जा रहा है । ऐसी दशा में तो समन्वय का महत्व और भी बढ जाता है ।

14.2 समन्वय: अर्थ एवं परिभाषा

एक उपक्रम में अनेक व्यक्ति कार्य करते हैं, उनके काम करने के तरीके तथा कार्य करने की गति भिन्न-भिन्न हो सकती है । यही नहीं उनकी क्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं । अत: संस्था के सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये इन विभिन्न प्रयासों में एकीकरण लाया जाना आवश्यक है । इन भिन्नताओं में एकता लाने की प्रक्रिया को ही समन्वय कहा जा सकता हैं ।

हेनरी फेयोल के अनुसार :- समन्वय किसी संस्थान की सभी क्रियाओं में समरसता स्थापित करता है, ताकि इसका कार्य सुविधाजनक ढंग से सफलतापूर्वक चलता रहे ।

मूने तथा रेले के अनुसार :- किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु की जाने वाली विभिन्न क्रियाओं के मध्य एकता बनाये रखने के उद्देश्य से सामूहिक प्रयत्नों में सुव्यवस्था करने को समन्वय कहते हैं ।

मैक्कारलैंड के अनुसार :- समन्वय एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक प्रबन्धक अपने अधीनस्थों के सामूहिक प्रयासों से एक व्यवस्थित स्वरूप का विकास करता है और सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में क्रियाओं में समरूपता लाता है ।

थियो हैमेन के अनुसार :- समन्वय किसी कार्य को यथोचित मात्रा, समय एवं गुण के साथ निष्पादित करने हेतु अधीनस्थों के प्रयासों का सुनिश्चित संयोजन है ताकि उनके संयुक्त प्रयास निर्धारित लक्ष्य अर्थात् उपक्रम के सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सकें ।

जॉर्ज आर. टैरी के अनुसार :- -समन्वय निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों का नियमित समाकलन है, ताकि निष्पादन की उपयुक्त मात्रा, समय तथा संचालन की क्रियाओं में सामंजस्य एवं एकता स्थापित हो जाये ।

14.3 समन्वय की आवश्यकता

जब हम समन्वय के महत्व पर विचार करते हैं तो हमें प्रबन्ध विद्वान **श्री कूण्ट्ज तथा ओ' डोनैल** के निम्न शब्द अनायास ही याद हो जाते हैं, " समन्वय प्रबन्ध का केवल एक कार्य ही नहीं है अपितु प्रबन्ध का सार भी है ।" वस्तुत: स्थिति है भी यहीं । चाहे हम व्यवसाय के क्षेत्र

में हों अथवा प्रशासन के क्षेत्र में, खेल के मैदान में हों अथवा किसी क्लब में, सभी स्थानों पर समन्वय का ही बोलबाला दिखाई देता है । उदाहरण के लिए, फुटबॉल के खेल के मैदान में जीतने वाली टीम के खिलाडियों के मध्य थोडा-सा समन्वय भंग हो जाने पर जीत हार में परिणित हो सकती है । इसी प्रकार व्यवसाय के क्षेत्र में उत्पादक के विभिन्न साधनों में भी समन्वय न रहने पर उसका अस्तित्व ही खतरे में पड सकता है । किसी भी उपक्रम में समन्वय की आवश्यकता निम्न कारणों से उदय होती है ।

1. **कार्यो की विविधता :** आधुनिक युग के व्यावसायिक उपक्रम में विविध प्रकार के कार्य विभिन्न व्यक्तियों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं । जब तक इन विविध कार्यो में एकता नहीं लाई जायेगी तब तक उपक्रम के सामान्य उद्देश्य को पूरा करना सम्भव नहीं होगा । इस एकता के लिए समन्वय आवश्यक होता है ।
2. **आदेशों एवं निर्देशों की एकता :** आदेशों एवं निर्देशों की एकता प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है किन्तु इस सिद्धान्त का पालन तभी किया जा सकता है, जबकि उपक्रम के प्रत्येक स्तर पर अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों की स्पष्ट व्याख्या कर दी जाती है जिससे प्रत्येक व्यक्ति को आदेश एवं निर्देश एक ही अधिकारी से प्राप्त हों । ऐसा करने से आदेशों एवं निर्देशों तथा प्रयासों का दोहरापन समाप्त होता है । समय, शक्ति व साधनों का सदुपयोग होता है तथा कर्मचारी अपने कार्य का कुशलतापूर्वक निष्पादन कर सकते हैं । यह कार्य समन्वय के बिना सम्भव नहीं है ।
3. **भावनाएँ :** उपक्रम में काम करने वाले व्यक्तियों में प्राय: यह भावना पाई जाती है कि वे अपने ही कार्य को सबसे अधिक महत्व प्रदान करते हैं । इससे कर्मचारियों में पृथकता की भावना आती है जिसे समाप्त करने के लिए समन्वय की आवश्यकता महसूस की जाती है ।
4. **विभागीय अस्तित्व :** जब उपक्रम का आकार बडा होता है तथा उत्पादन का पैमाना भी बडा हो जाता है तो संस्था के विभिन्न विभागों को स्वायत्तता प्रदान करना आवश्यक हो जाता है । इसके अन्तर्गत वे स्वतन्त्र निर्णय ले सकते हैं । इस स्थिति में कर्मचारियों में विभागीय हितों की प्रधानता आ जाती है । इन हितों को उपक्रम के हितों के साथ सामंजस्य करने के लिए समन्वय आवश्यक हो जाता है ।
5. **लागत में कमी :** औद्योगिक उपक्रमों में लागत वृद्धि का प्रमुख कारण उपक्रम की योजनाओं, क्रियाओं व कार्यक्रमों में समन्वय का अभाव होता है । कार्यो में दोहराव दायित्वों की अस्पष्टता व हित संघर्षों को प्रभावी समन्वय के द्वारा समाप्त करके प्रबन्धकीय लागतों को कम किया जा सकता है ।
6. **परिवर्तन का प्रबन्ध :** प्रत्येक संगठन को बाह्य परिवर्तनों के साथ समायोजन करके अपने को गतिशील बनाना होता है । बाह्य समन्वय के द्वारा ही यह सम्भव होता है। प्रभावशाली समन्वय के द्वारा परिवर्तनों के विरोध को समाप्त किया जा सकता है तथा उन्हें सरलता से लागू किया जा सकता है ।
7. **मनोबल में वृद्धि :** समन्वय पारस्परिक ईर्ष्या, द्वैष व राजनीति को समाप्त करके सहयोग, समझ एवं विश्वास को बढावा देता है । समन्वय हितों की एकता में वृद्धि

करता है तथा नेतृत्व की स्थापना करता है । एक समन्वित उपक्रम में कर्मचारी कुशलतापूर्वक अपने कार्य का निष्पादन कर सकता हैं इन सबके कुल प्रभाव से कर्मचारी के मनोबल में वृद्धि होती है ।

8. **संतुलन की स्थापना :** समन्वय के द्वारा उपक्रम के विभिन्न कार्यो - उत्पादन, विपणन, वित्त, कर्मचारी व्यवस्था आदि में एक उचित संतुलन रखा जा सकता है । साथ ही विभागीय लक्ष्यों, हितों, साधनों व योजनाओं को भी संतुलित बनाया जा सकता है ।
9. **परस्पर निर्भरता :** यदि उपक्रम की विभिन्न उप इकाइयों में परस्पर निर्भरता अधिक है तो सभी इकाइयों को उपक्रम के लक्ष्यों की ओर निर्देशित करने के लिए समन्वय की आवश्यकता अधिक होगी । इसलिए ही तो कहा जाता है कि जितनी अधिक पारस्परिक निर्भरता होगी उतनी ही अधिक समन्वय की आवश्यकता होगी ।

14.4 समन्वय के सिद्धान्त

कुमारी मेरी पारकर फौलेट ने एक सुदृढ समन्वय की व्यवस्था के लिए कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था । उनके मतानुसार यदि इन सिद्धान्तों का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाये तो समन्वय की एक अच्छी व्यवस्था का निर्माण किया जा सकेगा । उनके मूलभूत सिद्धान्त निम्नलिखित है:

1. **प्रत्यक्ष सम्पर्क का सिद्धान्त :** सर्वश्रेष्ठ समन्वय वह है जो प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करके किया जाता है । प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करने से विचारों का आदान-प्रदान तत्काल एवं सुगमतापूर्वक किया जा सकता है तथा भ्रम एवं अस्पष्टता का भय नहीं रहता है । यही नहीं, उपक्रम के उद्देश्य एवं विधियों को भी आसानी से समझाया जा सकता है ।
2. **आरम्भिक अवस्था से प्रारम्भ करने का सिद्धान्त :** यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि समन्वय को नियोजन तथा निर्णयन के आरम्भिक चरणों से ही अपनाया जाना चाहिये। आरम्भिक स्थिति से ही समन्वय को अपनाने से क्रियान्वयन सुगम हो सकेगा । यदि समन्वय को आरम्भिक स्थिति में नहीं अपनाया गया, अर्थात् योजनाओं के क्रियाशील होने के पश्चात् अपनाया गया तो समन्वय स्थापित करना कठिन एवं अनुपयोगी हो जायेगा और विभिन्न विभागों के विचारों में सहयोग प्राप्त नहीं हो सकेगा ।
3. **गतिशीलता का सिद्धान्त :** प्रबन्ध के अन्य सिद्धान्तों की भाँति समन्वय में भी कठोरता न होकर गतिशीलता होनी चाहिए । बाहरी वातावरण एवं आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन होने के कारण व्यावसायिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता रहता है जिसके परिणामस्वरूप समन्वय में भी आवश्यक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है ।
4. **पारस्परिक सम्बन्धों का सिद्धान्त :** समन्वय के इस सिद्धान्त के अनुसार किसी दी हुई स्थिति में सभी घटक एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं । उदाहरण के लिए, 'अ' तथा 'ब' एक साथ कार्य करते हैं । ऐसी स्थिति में दोनों एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं । इसी

प्रकार सम्पूर्ण उपक्रम में कार्य करने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं, अत: स्पष्ट है कि उपक्रम में सभी तत्वों में पारस्परिक सम्बन्ध होता है ।

5. **समय का सिद्धान्त :** समन्वय का समय सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि संस्था में किया जाने वाला प्रत्येक कार्य सही समय पर किया जाना चाहिए । अत: समन्वय की स्थापना भी यथासमय कर लेनी चाहिए, तभी प्रयासों का सदुपयोग करना सम्भव हो सकेगा ।

14.5 समन्वय की तकनीक

समन्वय की समस्या के जटिल होने के साथ-साथ ही समन्वय की अनेक विधियों, तकनीकों एवं साधनों का भी विकास हुआ है । समन्वय स्थापित करने की प्रमुख तकनीकें निम्नलिखित हैं:

1. **पर्यवेक्षक**: सबसे पुराना लेकिन समन्वय के महत्वपूर्ण साधन के रूप में पर्यवेक्षक की सेवायें ली जा सकती हैं । एक पर्यवेक्षक अपने व्यक्तिगत प्रयासों से यह देख सकेगा कि अधीनस्थों को काम दिया गया है उसे वे समन्वित रूप से सम्पादित कर रहे हैं । यह समन्वय के सिद्धान्तों को बतला कर, उन्हें उपयुक्त निर्देशन देकर, विभिन्न कार्यो के एकीकरण करने का प्रयास कर सकेगा । जब उपक्रम का आकार बहुत बडा हो जाये तो यह विधि अधिक उपयोगी नहीं रह पायेगी, क्योंकि एक ही पर्यवेक्षक अपने विभाग के समस्त कार्यो की समुचित देखभाल नहीं कर सकेगा ।
2. **नियोजन एवं निर्णयन :** नियोजन के अन्तर्गत भविष्य की कार्य-विधि की रूपरेखा तैयार की जाती है तथा निर्णयन उपलब्ध सीमित साधनों में से, उस विकल्प का चुनाव करता है जो सर्वश्रेष्ठ हो । यदि नियोजन का उपक्रम की विभिन्न प्रक्रियाओं में ताल-मेल बैठाकर ही निर्माण किया जाये तो आगे का कार्य सरल हो जाता है और समन्वय लाना भी आसान हो जाता है । उदाहरणार्थ यदि विक्रय प्रबंधक को विज्ञापन करने की योजना बनानी है तो यह ज्यादा बेहतर होगा कि वह अपनी योजना को उत्पादन, वित्त एवं सेविवर्गीय प्रबन्धकों आदि से विचार-विमर्श कर लेता हो क्योंकि यह विचार-विनिमय अन्य प्रबन्धकों के साथ ताल-मेल बिठाने का आधार बन सकेगा ।
3. **व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा :** समन्वय स्थापित करने का सर्वश्रेष्ठ साधन व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना है । इसका विस्तृत वर्णन समन्वय के सिद्धान्तों के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका हैं ।
4. **संगठनों द्वारा :** संगठन भी समन्वय स्थापित करने का एक उत्तम साधन है । **श्री मूने** एवं रेले के शब्दों में, " संगठन में समन्वय के सभी तत्व होते हैं ।" स्वस्थ संगठन विभिन्न विभागों एवं व्यक्तियों की अधिकार रेखाओं की सीमाओं को निर्धारित करता है ताकि आपसी टकराव के स्थान पर तालमेल बनाये रखा जाय ।
5. **सामूहिक बैठकों द्वारा :** सामूहिक बैठकें उच्च कोटि का समन्वय स्थापित करने का प्रभावी साधन हैं । इनके माध्यम से उच्च कोटि का अधिकारी उपक्रम के विभिन्न विभागों, उप-विभागों तथा व्यक्तियों के कार्यो में समन्वय स्थापित करता है । किसी

प्रस्तावित कदम का प्रभाव क्या होगा, इसके लिए उसे विभिन्न विभागाध्यक्षों की बैठकें बुलानी पडती हैं । विभागाध्यक्ष अपने-अपने विभागों की बैठकें बुलाते हैं जहाँ पर कि स्वतन्त्र रूप विचारों का आदान-प्रदान करके निर्णय लिये जाते है ।

6. **सम्पर्क व्यक्तियों द्वारा :** आवश्यकता पडने पर सम्पर्क व्यक्तियों द्वारा भी उपक्रम की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जाता है किन्तु यह तकनीक संगठन की शिथिलता का द्योतक है । अत: इसका उपयोग केवल नितान्त आवश्यकता पडने पर अस्थायी रूप में ही किया जाता है ।
7. **अधिशासी कार्यवाही द्वारा :** छोटे आकार वाली संस्थाओं में तो मुख्य प्रबन्धक सभी विभागों की योजनाओं एवं गतिविधियों से भली प्रकार परिचित होता है । अत: वह व्यक्तित्व निरीक्षण, अवलोकन तथा नियन्त्रण द्वारा संस्था की विभिन्न गतिविधियों में समन्वय स्थापित कर सकता है किन्तु बडी संस्थाओं में केवल मुख्य प्रबन्धक से इसकी आशा नहीं की जा सकती है । उनमें विभागीय प्रबन्धक अपने विभाग की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करते है ।
8. **सामूहिक निर्णय द्वारा :** सामूहिक निर्णयों द्वारा भी समन्वय स्थापित किया जाता हे । सामूहिक निर्णय में विभिन्न सम्बन्धित व्यक्ति मिलकर अपने कार्यो के सम्बन्ध में निर्णय लेते है । जो भी उनकी समस्यायें होती हैं, सामने रख देते हैं जिन पर उपस्थित समूह द्वारा निर्णय लिया जाता हे । समूह द्वारा लिया गया निर्णय सरलता से क्रियान्वित किया जा सकता है ।
9. **लिखित सन्देश वाहन द्वारा :** आधुनिक युग में व्यावसायिक उपक्रमों में लिखित सन्देश वाहन (जैसे - पत्र, बुलेटिन, तार आदि) भी समन्वय स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता हे । इसका उपयोग व्यक्तिगत सम्पर्क के पूरक साधन के रूप में होता है इसके लिए यह आवश्यक है कि उपक्रम में कार्य करने वाले सभी कर्मचारी पढ़े-लिखे हों तथा उन्हें इस बात का ज्ञान हो कि अपने से उच्च अधिकारियों के पास किन सूचनाओं को तुरन्त पहुँचाना है ।
10. **आदेश शृंखला द्वारा :** संगठन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वरिष्ठ अधिकारी को अपने अधीनस्थों को आवश्यक आदेश देने का अधिकार होता है । इन आदेशों के माध्यम से समन्वय स्थापित किया जाता है ।
11. **नियोजन द्वारा :** समस्त व्यावसायिक क्रियाओं का उद्गम बिन्दु नियोजन है । प्रत्येक नियोजन का लक्ष्य उपक्रम के लक्ष्यों, क्रियाओं तथा प्रयत्नों में समन्वय स्थापित करना होता है । अत: नियोजन समन्वय का प्रमुख साधन है ।
12. **स्वत: समन्वय द्वारा :** व्यावसायिक उपक्रमों में सम्बन्धित विभागाध्यक्ष एवं अन्य अधिकारी अपने-अपने क्षेत्रों में समन्वय बनाये रखने का कार्य करते हैं किन्तु इससे उपक्रम के उद्देश्यों की पूर्ति होना कठिन है । अत: उन्हें अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में समन्वय स्थापित करने के अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि अन्य विभागाध्यक्ष अथवा अधिकारियों की क्रियाओं पर उनके कार्य का कहीं बुरा प्रभाव न पडे । श्री ब्राउन

ने इसे 'स्थत: समन्वय' की संज्ञा दी है । यह भी समन्वय बनाये रखने की एक आधुनिक तकनीक है ।

14.6 समन्वय के प्रकार

समन्वय के कुछ प्रकार हैं । विभिन्न वर्गीकरणों के आधार पर समन्वय के निम्न प्रकार होते हैं-

1. **लम्बवत् समन्वय तथा क्षैतिज या समतल समन्वय :** लम्बवत् समन्वय तब कहा जाता है जबकि समन्वय संगठन के उच्च पदाधिकारियों से अधीनस्थों के बीच किया गया हों । उच्च पदाधिकारियों का कर्तव्य है कि संगठन के नीचे के स्तरों पर समन्वय स्थापित करें । लम्बवत् समन्वय करने से ये विश्वास हो जाता है कि सभी स्तरों पर ठीक प्रकार से काम हो रहे हैं । ऐसा समन्वय अधिकारों के प्रत्यायोजन द्वारा किया जाता है।

   क्षैतिज या समतल समन्वय तब कहा जाता है जबकि समन्वय विभिन्न समान स्तर के विभागों में किया जा रहा हो । उदाहरणार्थ, उत्पादन, विक्रय, वित्त, कर्मचारी विभागों में समन्वय स्थापित किया जाता है तो इसे क्षैतिज समन्वय कहते हैं । सामान्यत: बहुत बडे संगठनों में क्षैतिज समन्वय ही विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता है ।
2. **कार्यविधिक तथा सारवान समन्वय : साइमन** के अनुसार, "समन्वय कार्यविधिक तथा सारवान किसी भी प्रकार का हो सकता हे ।" कार्यविधिक समन्वय व्यक्ति के अधिकार एवं कार्यक्षेत्र को स्पष्ट करता है तथा संगठन के दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्धों का निर्धारण करता हे । दूसरी ओर सारवान संस्था की क्रियाओं से संतोष प्राप्त करने के लिए किया जाता है । उदाहरण के लिए, एक स्वचालित यंत्र निर्माण करने वाली संस्था के लिए संगठन का चार्ट कार्यविधिक समन्वय है जबकि एक कार के इंजन का चित्र एक सारवान समन्वय है ।
3. **आंतरिक एवं बाह्य समन्वय :** समन्वय को आन्तरिक एवं बाह्य दो भागों में और बाँटा जा सकता है । जब संस्था के विभागों, उपविभागों तथा खण्डों के बीच समन्वय स्थापित किया जाता तो इसे आन्तरिक समन्वय कहते हैं । आन्तरिक समन्वय लम्बवत् तथा क्षैतिज दोनों ही प्रकार का हो सकता है । दूसरे शब्दों में, यह संगठन के सभी स्तरों पर अथवा संगठन के विभिन्न समान स्तरों पर किया जा सकता है ।

   बाह्य समन्वय से आशय संस्था तथा बाह्य पक्षों के बीच समन्वय से हैं । आधुनिक युग में कोई भी व्यावसायिक संस्था बाह्य पक्षों को भूल नहीं सकती । आजकल व्यवसाय सरकार की क्रियाओं, तकनीकी परिवर्तनों तथा प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति से प्रभावित है । इसके अतिरिक्त, व्यवसाय को अपने ग्राहकों, सामान्य जनता, स्वामियों, अंशधारियों तथा कर्मचारियों व उनके संघों के बीच समन्वय स्थापित करना परमावश्यक होता है । इतना ही नहीं, एक संस्था को विश्व की अन्य व्यावसायिक संस्थाओं के साथ भी समन्वय करना पडता है । यह सब बाह्य समन्वय ही है ।

14.7 सारांश

उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं को एक सूत्र में बांधना जिससे संस्था के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके, ही समन्वय है । यह विभिन्नताओं में एकता स्थापित करने की प्रक्रिया है । इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित है :

1. समन्वय सामूहिक प्रयत्नों की सुव्यवस्था है ।
2. यह उच्च प्रबन्धक का दायित्व है ।
3. यह एक निरन्तर प्रक्रिया है जो क्रियात्मक एकता लाती है ।
4. यह विभिन्न प्रयासों का एकीकरण करती है ।
5. यह सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अपनाया जाने वाला कार्य है । यह सभी स्तरों पर आवश्यक है, तथा
6. समन्वय सहयोग से कुछ अधिक है ।

समन्वय एवं सहयोग में निम्न बिन्दुओं के आधार पर अन्तर किया जा सकता है: 1. प्रकृति, 2. उत्पत्ति, 3. महत्व, 4. आवश्यकता, 5. क्षेत्र तथा 6. उद्देश्य ।

कार्यो की विविधता, व्यक्तिगत मतभेद, विशिष्टीकरण, अपने ही कार्य को महत्व देने की भावना, परस्पर निर्भरता तथा विभागीय स्वायत्तता के कारण इसकी आवश्यकता अनुभव की जाती है ।

समन्वय से मिलने वाले लाभ निम्नलिखित हैं:

1. विविधता में एकता,
2. मनोबल में वृद्धि,
3. सम्पूर्ण उपक्रम में सम्पन्नता लाना,
4. प्रबन्धकों के ज्ञान में वृद्धि,
5. प्रभावशाली नियन्त्रण,
6. उपक्रम के लक्ष्यों की पूर्ति,
7. प्रबन्ध के अन्य कार्यों की सफलता, तथा
8. कर्मचारियों में स्थायित्व लाना ।

यही कारण है, जिससे इसे प्रबन्धकीय कार्यो का सार कहा गया है, क्योंकि कोई भी कार्य बिना समन्वय के सफलतापूर्वक पूरा नहीं किया जा सकता है ।

समन्वय तीन प्रकार का हो सकता है, **प्रथमः** आन्तरिक समन्वय एवं बाह्य समन्वय, **द्वितीय** समतल एवं उदय समन्वय तथा **तृतीय :** कार्यविधिक एंव स्वतन्त्र समन्वय ।

समन्वय के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है:

1. प्रत्यक्ष सम्पर्क का सिद्धान्त ।
2. आरम्भिक अवस्था से प्रारम्भ करने का सिद्धान्त ।
3. निरन्तर प्रक्रिया का सिद्धान्त ।
4. परस्परता का सिद्धान्त ।

5. समयानुकूलता का सिद्धान्त ।
6. सहभागिता का सिद्धान्त ।
7. प्रभावशाली संचार का सिद्धान्त, तथा
8. गतिशीलता का सिद्धान्त ।

पर्यवेक्षक द्वारा निर्देश, स्वस्थ नियोजन, निर्णयन, संगठन तथा नियन्त्रण की स्थापना, प्रभावशाली सन्देश वाहन, समिति, समूह सभाएँ, समन्वयकर्ता की नियुक्ति, नियम एवं नीतियों तथा आत्म-समन्वय, समन्वय के निर्धारण करने की मुख्य विधियाँ हैं ।

समन्वय की व्यवस्था के निर्माण में जो घटक बाधा उपस्थित करते हैं उनमें मानवीय कमजोरी, व्यक्तिगत हित, गुटबन्दी, वातावरण, सीमित योग्यता तथा असहयोगात्मक प्रवृत्ति मुख्य हैं ।

प्रभावशाली समन्वय की स्थापना के तत्व हैं : उद्देश्यों की स्पष्ट जानकारी, निश्चित एवं विस्तृत योजनाएँ, अधिकार एवं दायित्व की स्पष्ट रेखाएँ, अनुकूल संगठन, प्रभावशाली संगठन पद्धति, प्रभावशाली नेतृत्व, सहयोग तथा उचित समय ।

14.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समन्वय क्या है? व्यावसायिक उपक्रम मे इसके महत्व की विवेचना कीजिये ।
   What is 'Co-ordination'? Discuss its importance in a business enterprise.
2. 'समन्वय' की परिभाषा दीजिये । समन्वय के सिद्धान्त कौन से है?
   Define Co-ordination. What are the principles of Co-ordination?
3. "समन्वय सभी प्रबन्धकीय कार्यो का सार है ।" विवेचन कीजिये ।
   "Co-ordination is the essence of all managerial functions." Discuss.
4. "समन्वय प्रबन्ध का सार-तत्व है ।" इस कथन की व्याख्या करते हुए प्रभावशाली समन्वय की स्थापना के लिए आवश्यक बातों का उल्लेख कीजिए ।
   "Co-ordination is the essence of management." State the essentials for co-ordination while explaining the above statement.
5. "समन्वय प्रबन्ध कला का सार है ।" इस कथन की व्याख्या कीजिये ।
   "Co-ordination is the essence of all Manager Ship." Discuss this statement.
6. हमें समन्वय की आवश्यकता क्यों होती है? इसके महत्व की विवेचना कीजिये ।
   Why we need co-ordination? Explain its importance.

14.9 संदर्भ पुस्तकें

प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	आर. सी. अग्रवाल, संजय अग्रवाल प्रकाशक - साहित्य भवन, आगरा
व्यावसायिक प्रबन्ध	–	जी. एस. सुधा प्रकाशक - शील सन्स, जयपुर
प्रबन्ध	–	जे. पी. सिंधल प्रकाशक - अजमेर बुक कम्पनी, जयपुर
व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	डी. एम. एस. गुप्ता प्रकाशक - शिवम् बुक हाउस, जयपुर
प्रबन्ध के सिद्धान्त	–	डॉ. आर एल. नौलखा प्रकाशक - रमेश बुक डिपो, जयपुर

इकाई-15 : निर्णयन (Decision-Making)

इकाई की रूपरेखा

15.0 निर्णयन के उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 निर्णयन : अर्थ एवं परिभाषा
15.3 निर्णयन की आवश्यकता एवं महत्व
15.4 निर्णयन के सिद्धान्त
15.5 निर्णयन की प्रक्रिया या निर्णय लेने की विधियाँ या निर्णय लेने की तकनीक
15.6 निर्णयों के प्रकार
15.7 निर्णयन की विशेषताएँ/प्रकृति
15.8 सारांश
15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.10 संदर्भ पुस्तकें

15.0 निर्णयन के उद्देश्य

1. निर्णय लेते समय हमारे सामने अनेक सम्भावित विकल्प होते हैं, उनमें से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन ही निर्णय लिया जाना है ।
2. यह आवश्यक नहीं है कि लिया जाने वाला निर्णय सदैव धनात्मक ही हो अर्थात् लिया जाने वाला निर्णय ऋणात्मक भी हो सकता है । हम तय न करने के लिए भी निर्णय ले सकते हैं ।
3. यदि आवश्यक हो तो निर्णय लेने से पूर्व किसी विशेषज्ञ से आवश्यक परामर्श भी लिया जा सकता है ।
4. निर्णयन एक मानवीय एवं बौद्धिक क्रिया है । निर्णयों में समय तत्व का विशेष महत्व रहता है।
5. निर्णय वास्तविक स्थिति के समरूप होते हैं ।
6. निर्णय उद्देश्य युक्त हैं अर्थात् निर्णय किसी न किसी उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये लिये जाते हैं ।
7. निर्णय स्वयं में एक लक्ष्य नहीं है अपितु लक्ष्य तक पहुँचने का एक साधन है ।
8. निर्णय लेते समय दृढ़ता की आवश्यकता होती है ।
9. निर्णय सम्बन्धित अधिकारी द्वारा अथवा इस कार्य के लिए नियुक्त समिति द्वारा लिये जा सकते है ।

15.1 प्रस्तावना

"निर्णय लेना" मनुष्य का मूलभूत स्वभाव एवं क्रिया है । व्यक्ति का अधिकांश जीवन अनेक प्रकार के निर्णय लेने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में ही व्यतीत होता है । **बैंजामिन डिजरायली** का कथन है कि "हम केवल अपने निर्णयों के कारण ही पहंचाने जाते हैं ।" यदि हम अपनी

दैनिक जीवनचर्या का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि हम अपना साठ प्रतिशत समय निर्णय लेने में ही गुजारते हैं ।

व्यावसायिक जगत में भी प्रबन्धकों को प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण निर्णय लेने होते हैं जो संस्था की कार्यप्रणाली को प्रभावित करने वाले होते हैं । **जार्ज टैरी** लिखते हैं कि "प्रबन्धकों का कार्य ही निर्णय लेना है । उन्हें निर्णय लेने तथा निर्णयों को लागू करने के लिए ही भुगतान किया जाता है।" वे आगे लिखते है । कि "यदि प्रबन्धक की कोई सार्वभौमिक पहचान है तो वह है - "निर्णय लेना" ।

15.2 निर्णयन : अर्थ एवं परिभाषा

अनिश्चितताएं, भ्रम तथा वैचारिक मतभेद एक प्रबन्धक के समक्ष नवीन समस्याएं उत्पन्न करते हैं, जिन्हें निर्णयन के माध्यम से ही दूर किया जा सकता हैं । इस निर्णयन को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित किया है । साधारण अर्थों में निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया को ही निर्णयन कहा जा सकता है । इस प्रक्रिया में विचार एवं विश्लेषण के तत्व निहित होते हैं ।

व्हीलर - "अन्य विकल्पों के मध्य से विशिष्ट क्रियापथ के चयन की प्रक्रिया ही निर्णयन है ।"

किलियंस - "निर्णयन विभिन्न विकल्पों का चुनाव की एक सरलतम विधि है ।"

जार्ज आर. टेरी - "निर्णयन किसी कसौटी पर आधारित दो या दो से अधिक सम्भावित विकल्पों में से एक चुनाव है ।"

हरबर्ट साइमन - "निर्णयन में तीन प्रमुख अवस्थों का समावेश है । 1. निर्णय लेने के अवसरों का पता -लगाना, 2. कार्य करने की सम्भावित क्रियाविधियों का पता लगाना, और 3. कार्य की उक्त क्रियाविधियों में से किसी एक क्रियाविधि का चयन करना ।"

ऐलन - "निर्णयन वह कार्य है जिसे एक प्रबन्धक किसी निष्कर्ष और निर्णय पर पहुँचने के लिए करता है ।"

आर एस. डावर - "निर्णयन को दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से एक आचरण विकल्प का किसी सिद्धान्त के आधार पर चुनाव करने के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । निर्णय लेने का मतलब है काम समाप्त करना या व्यावहारिक भाषा में किसी निष्कर्ष में पहुँचना ।"

हाज एवं जॉनसन - "विभिन्न उपलब्ध विकल्पों में से एक क्रियापथ का चयन करना ही निर्णयन कहलाता है ।"

15.3 निर्णयन की आवश्यकता एवं महत्व

निर्णय लेना प्रबन्ध का आवश्यक और प्राथमिक कार्य है । यह समस्त प्रबन्धकीय कार्यों का आधार है । यदि प्रबन्ध में से निर्णयन को अलग कर दिया जाए तो शेष कुछ नहीं बचता हैं व्यवसाय चाहे छोटा हो या बड़ा परिस्थितियों में परिवर्तन होते रहते हैं । कर्मचारियों में परिवर्तन होते रहते हैं तथा आकस्मिक घटनाएं घटित होती रहती हैं, परन्तु व्यवसाय के पहियों को गति प्रदान करने तथा उसकी क्रियाएं जारी रखने के लिए निर्णय लेना अनिवार्य होता है ।

1. **लक्ष्यों की प्राप्ति :** निर्णय "कार्यवाही" का आधार होते हैं । सुदृढ़ कार्यवाही को जन्म देते हैं । इससे संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति सुगम हो जाती है । प्रबन्धक ठोस निर्णय लेकर व्यावसायिक अवसरों का लाभ उठा लेते हैं तथा संस्था के उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं ।
2. **"अनिश्चय" की समाप्ति :** निर्णयन के द्वारा संस्था में अनिश्चय की स्थिति, ढुलमुल नीति, भ्रम, संशय, सन्देही दृष्टिकोण आदि को दूर किया जा सकता है ।
3. **उद्यमी की भूमिका :** निर्णय लेना साहसी होने की पहचान भी है । आधुनिक प्रबन्धक एक उद्यमी भी होता है, क्योंकि वह तीव्र परिवर्तनों के दौर में नवप्रवर्तनकारी एवं जोखिमपूर्ण निर्णय लेता है ।
4. **तकनीकी परिवर्तन एवं जटिलताएं :** निरन्तर हो रहे तकनीकी परिवर्तनों एवं व्यावसायिक जटिलताओं के फलस्वरूप भी निर्णयन का महत्व बढ गया है । कम्प्यूटर्स प्रणाली, स्वचालन, विनियोग जोखिम, इंजीनियरिंग प्रबन्ध, नवकरण नवीन कार्य-प्रणालियां आदि अनेक ऐसे घटक हैं जिनमें ठोस निर्णयों की आवश्यकता होती है ।
5. **संस्था की सफलता :** विवेकपूर्ण निर्णयों के द्वारा ही संस्था का निर्बाध संचालन किया जा सकता है । कोई भी हड़ताल, मंदी या काम रोको आन्दोलन व्यवसाय के लिए उतना घातक सिद्ध नहीं होता है जितना कि एक गलत निर्णय । **इन्वासविच** के अनुसार "निर्णय अन्ततः संस्था के अस्तित्व को प्रभावित कर सकते हैं ।" देरी से या जल्दबाजी में लिये गये निर्णय सम्पूर्ण संस्था की बर्बादी का कारण बन सकते है ।
   निष्पक्ष निर्णय कर्मचारियों में विश्वास, निष्ठा एवं आत्म-प्रेरणा उत्पन्न करते हैं । अच्छे निर्णयों से सहयोग, सामंजस्य एवं समझ का वातावरण निर्मित होता है जो संस्था की सफलता में सहायक होता है ।
6. **सुदृढ संगठन संरचना :** संगठन संरचना के निर्माण में कार्यों व अधिकारों का वितरण किया जाता है, उत्तरदायित्वों का निर्धारण करना होता है, आपसी कार्य सम्बन्धों, केन्द्रीयकरण एवं विभागीयकरण के आधारों को तय करना होता है । इन सभी क्रियाओं के प्रभावी निष्पादन में ठोस निर्णयों की आवश्यकता होती है ।
7. **सफल निर्देशन :** निर्णयन की आवश्यकता निर्देशन कार्य में भी होती है कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने, विभिन्न सूचनाएं प्रदान करने ताकि उन्हें उचित नेतृत्व एवं मार्गदर्शन प्रदान करने तथा कर्मचारियों के व्यवहार को प्रभावित करने में प्रबन्धक को आवश्यक निर्णय लेने होते हैं ।
8. **प्रभावी नियंत्रण :** नियंत्रण एक सुधारात्मक प्रक्रिया है । यह वास्तविक कार्यों तथा पूर्व-निर्धारित योजनाओं में रहे अन्तरों को दूर करने का कार्य है जिसमें ठोस निर्णय लेने की आवश्यकता सदैव बनी रहती है ।
9. **निर्णयन की सर्वव्यापकता :** निर्णयन का कार्य संस्था के प्रत्येक स्तर पर किया जाता है । निर्णयन का कार्य युद्धनीतिक, संचालकीय अथवा दैनिक कार्य-कलापों से सम्बन्धित

हो सकता है । निर्णयन एक ऐसा कार्य है जिसकी आवश्यकता संस्था के मुख्य अधिशासी से लेकर एक फोरमैन तक सभी को होती है ।

10. **प्रबन्धकों का मूल्यांकन :** प्रबन्धकों के निर्णय ही उनकी कार्यक्षमता एवं दक्षता के प्रतीक होते हैं । निर्णय ही प्रबन्धकों को अच्छा या बुरा सिद्ध करते है । कोई भी गलत निर्णय संस्था की छवि को धूमिल कर सकता है अथवा उसे हानि पहुँचा सकता है, अत: निर्णयन को "श्रेष्ठ प्रबन्ध की कसौटी" माना गया है ।

15.4 निर्णयन के सिद्धान्त

निर्णयन बहुत कठिन कार्य है फिर भी प्रबन्धकों द्वारा प्रतिदिन अनेक निर्णय लिए जाते हैं । कोई भी प्रबन्धक निर्णयन के अभाव में कार्य नहीं कर सकता है, उसे दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन महत्व के निर्णय लेने पडते हैं । एक निर्णय लेते समय एक निर्णयनकर्ता को विभिन्न विकल्पों, परिस्थितियों, सम्भावनाओं एवं आवश्यकताओं पर विचार करना पडता है । निर्णयनकर्ता चाहे कितना ही योग्य, क्षमतावान तथा अनुभवी क्यों न हो, आवश्यक नहीं कि उसके द्वारा लिये गये सभी निर्णय सही एवं लाभप्रद हों । ऐसी अवस्था में प्रबन्धकों को चाहिए कि वे पूर्ण सतर्कता बरतें तथा निर्णय सम्बन्धी आधारभूत सत्यों का यथासम्भव पालन करें । इन्हीं आधारभूत मार्गदर्शक विचारों को सिद्धान्तों का नाम दिया जाता है । निर्णयन के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है :

1. **सहभागिता का सिद्धान्त :** इस सिद्धांत का आशय यह है कि उपक्रम के निर्णयों को एकाकी के स्थान पर सामूहिक बनाया जाना चाहिए । जहां तक सम्भव हो निर्णय लेने में सभी स्तरों पर कार्य करने वाले कर्मचारियों को सहभागिता दी जानी चाहिए । निर्णयों में हिस्सेदारी देने से कर्मचारियों का मनोबल बढता है तथा वे अधिक रूचि से कार्यो का निष्पादन करते हैं । इसके अतिरिक्त कर्मचारियों को निर्णयन में हिस्सेदारी देने से निर्णयन की प्रभावशीलता में वृद्धि होती है । अधिक सुदृढ एवं व्यावहारिक निर्णयन के लिए कर्मचारियों को हिस्सेदारी प्रदान करना परम आवश्यक है ।
2. **अधिकतम लाभ का सिद्धांत :** अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत बतलाता है कि एक व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है, इसलिए प्रबन्धकों को इस दृष्टिकोण को सामने रख कर ही निर्णय लेने चाहिए । इसका अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं है कि लाभ ही एक मात्र निर्णयन का आधार होता है । उसी सीमा तक लाभ को निर्णयन-कर्ता को आधार बनाना होगा जिस सीमा तक व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्वों पर यह प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाल पाये ।
3. **परिवर्तन का सिद्धान्त :** उपक्रम में सभी कार्यों की एक दूसरे पर निर्भरता होने के कारण एक क्रिया में लाया गया परिवर्तन दूसरी सम्बन्धित क्रियाओं को आवश्यक रूप से प्रभावित करेगा । यह सिद्धांत यह बतलाता है कि अन्तिम निर्णय के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि इस परिवर्तन का कितना प्रभाव पडेगा? क्या वह प्रभाव प्रतिकूल होगा? क्या प्रतिकूल प्रभाव को दूर किया जा सकेगा? और उसे सुधारने में कितना खर्च करना पडेगा? इन सभी पर विचार करने के उपरान्त ही निर्णय लिया जाना चाहिए ।

4. **सृजनता का सिद्धान्त :** सृजनता का आशय नवीनता से है । निर्णयनकर्ता को सम्भावित विकल्पों के विकास के लिए सृजनता का उपयोग करना होगा । परम्पराओं, अनुभवों, पुराने दृष्टान्तों के स्थान पर नवीनता को अगर निर्णयन का आधार बनाया जायेगा तो निर्णय अधिक सुदृढ एवं प्रभावशाली होंगे ।
5. **अनुवर्तन का सिद्धान्त :** इस सिद्धांत का पालन करना केवल इसलिए ही आवश्यक नहीं है कि निर्णयों का क्रियान्वयन किया जा रहा है, बल्कि इसलिए भी आवश्यक है जिससे कि निर्णयन के परिणामों को जाना जा सके । गलती करना मानवीय लक्षण है । इसलिए इन्हें सुधारने के लिए प्रत्येक निर्णय में इस सिद्धांत का पालन करना आवश्यक है । बुरे एवं प्रतिकूल निर्णयों को अनुकूल बनाने के लिए इस सिद्धांत का अपनाना आवश्यक है ।
6. **समुचित समय का सिद्धांत :** सामान्यतया एक प्रबन्धक को जल्दबाजी में निर्णय नहीं लेने चाहिए । ऐसा सम्भव है कि आकस्मिक परिस्थितियों में तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता हो, लेकिन इसका आशय जल्दबाजी में निर्णय लेने से नहीं है । यह सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि किसी भी समस्या के गहन अध्ययन एवं मूल्यांकन के लिए निर्णयकर्ता को समुचित अवसर मिलना चाहिए, जिससे अनुकूल एवं सुदृढ़ निर्णय लिये जा सकें ।
7. **व्यावहारिकता का सिद्धांत :** उपक्रम के सीमित साधनों के समुचित उपयोग के लिए निर्णय ऐसे हों जिन्हें उपक्रम में क्रियान्वयन का रूप दिया जा सके । यदि निर्णय इस प्रकार के तथ्यों पर आधारित है जिन्हें उपक्रम की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं कहा जा सकता तो निर्णयन बेकार ही होगा । निर्णयों का व्यवहार में उपयोग करने के योग्य होना आवश्यक है ।
8. **सीमित घटकों का सिद्धांत :** एक समस्या के विभिन्न विकल्प हो सकते हैं । इन सभी विकल्पों का सूक्ष्म अध्ययन न तो सम्भव ही होता है और न ही व्यावहारिक । सीमित घटकों का सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि समस्या के केवल महत्वपूर्ण घटक ही सूक्ष्म विश्लेषण के लिए स्वीकार किये जाने चाहिए, और उन्हीं के आधार पर सर्वोत्तम हल खोजने का प्रयास किया जाना चाहिए ।

15.5 निर्णयन की प्रक्रिया या निर्णय लेने की विधियाँ या निर्णय लेने की तकनीक

1. **समस्या की व्याख्या:** निर्णयन की प्रक्रिया का पहला कदम उस समस्या की जानकारी प्राप्त करना है जिसके सन्दर्भ में निर्णय लिया जाता है । सबसे पहले यह देखना होगा कि समस्या की बात कहीं से शुरू हुई । पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों एवं वास्तविक कार्य प्रगति में अन्तर आ जाने के कारण ही समस्या प्रारम्भ होती है । अब यह देखना होगा कि परिणाम में अन्तर का क्या कारण है? यदि इस अन्तर का सही कारण पता लग जाए तो समस्या का समाधान ढूंढना सरल हो जाता है ।

2. **समस्या का विश्लेषण :** समस्या को परिभाषित कर लेने के बाद प्रबन्धक द्वारा इसका विश्लेषण किया जाता है । विश्लेषण के अन्तर्गत यह निश्चित किया जाता है कि समस्या के सम्बन्ध में किन-किन सूचनाओं की जरूरत होगी और ये सूचनाएँ कहीं से उपलब्ध होगी । उदाहरणार्थ विक्रय में कमी की समस्या के लिए सूचनाओं की आवश्यकता होगी वे इस प्रकार हो सकती हैं-

   क्या घटिया किस्म के कच्चे माल का क्रय किया गया था?

   क्या मशीनों ने ठीक प्रकार से काम नहीं किया?

   क्या पूर्तिकर्ताओं ने जानबूझकर घटिया माल बेचा हैं?

   क्या कर्मचारियों के प्रशिक्षण की कमी है?

   क्या किस्म नियन्त्रण अधिकारी ने लापरवाही की है, आदि ।

   माना कि समस्या के विश्लेषण के आधार पर जानकारी प्राप्त हुई कि मशीनों कें ठीक प्रकार से काम न करने के कारण माल वाँछित किस्म का तैयार नहीं हो सका ।

3. **विकल्पों का विकास :** निर्णयन प्रक्रिया का तीसरा कदम विभिन्न विकल्पों का विकास करना है । जब समस्या को परिभाषित किया जा चुका है और उसके कारणों का गहन अध्ययन हो चुका है तो अब प्रश्न उठता है कि समस्या के सम्भावित समाधान क्या-क्या हो सकते है । एक समस्या के समाधान के अनेक विकल्प हो सकते हैं । यदि किसी समस्या के रूप में अनेक विकल्प हो सकते हैं । यदि किसी समस्या के समाधान के रूप में केवल एक ही विधि उपलब्ध है तो फिर निर्णय लेने की आवश्यकता ही नहीं होगी क्योंकि वह विधि अपने आप में निर्णय ही है ।

4. **विकल्पों का मूल्यांकन :** विभिन्न विकल्पों को ढूँढने के बाद अलग कदम विकल्पों का मूल्यांकन करना है ताकि सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चुनाव किया जा सके । विकल्पों के मूल्यांकन के अन्तर्गत उनके गुणों एवं दोषों का अध्ययन किया जाता है । मूल्यांकन करने पर प्रबन्धक को विभिन्न विकल्पों में निहित जोखिम की जानकारी प्राप्त होती है।

   विकल्पों का मूल्यांकन समय एवं मुद्रा के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए और केवल उस विकल्प का ही चयन करना चाहिए जो सर्वाधिक मितव्ययी हो । मूल्यांकन का कार्य सरल हो जाता है यदि एक विशेष विकल्प अन्य विकल्पों की अपेक्षा अधिक अच्छा हो । दूसरी ओर एक ही स्तर के अधिक विकल्प प्राप्त होने पर समस्या गम्भीर हो जाती है । ऐसी स्थिति में उनका और अधिक गहराई से अध्ययन किया जाता है । ऐसा भी हो सकता है कि कोई भी विकल्प स्वीकार्य न हो । किसी विकल्प को स्वीकार न करना भी अपने आप में एक महत्वपूर्ण निर्णय है । ऐसी स्थिति में प्रबन्धक को किसी और उपयुक्त विकल्प की खोज करनी चाहिए ।

5. **सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन :** विभिन्न विकल्पों का मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक विकल्प प्रस्तुत समस्या के समाधान में कहों तक सहायक हो सकता है । निर्णयन प्रक्रिया के पांचवे चरण पर विभिन्न विकल्पों के सम्भावित परिणामों की तुलना करके सर्वश्रेष्ठ विकल्पों का चयन किया जाता है । निर्णयन

प्रक्रिया विकल्प का चयन करते समय प्रबन्धक अपने अनुभव एवं प्रयोग की सहायता लेता है । प्रबन्धक अपने अनुभव की सहायता तब ले सकता है जबकि उसे पहले कभी इस तरह की समस्या का सामना करना पडा हो । कई विकल्पों को व्यवहार में प्रयोग करके देखा जाता है और अपने अनुकूल परिणाम प्राप्त होने पर उनके बारे में विचार किया जाता है, उपरोक्त उदाहरण में माना कि माल किस्म को सुधारने के लिए मशीनों की मरम्मत करवाने वाले विकल्प को चुना गया है । इस प्रकार किसी विकल्प का अन्तिम चयन कर लेने को निर्णय कहते हैं । यहाँ पर निर्णय तो ले लिया गया है लेकिन निर्णय प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है । इसके बाद भी निर्णय को लागू करना और उसके प्रभाव का देखना जरूरी होता है ।

6. **निर्णय को लागू करना :** जब एक बार विकल्प का चयन कर लिया गया है तो इसके पश्चात् अगला कदम उसे प्रभावी ढंग से लागू करना है । क्योंकि निर्णय को प्रभावशाली बनाने के लिए अन्य लोगों की कार्यवाही की आवश्यकता है । इसलिए निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए-
   1) प्रभावशाली संदेशवाहन,
   2) कर्मचारियों की स्वीकृति प्राप्त करना, तथा
   3) निर्णय लागू करने का ठीक समय ।

7 **अनुसरण :** निर्णय प्रक्रिया का अन्तिम चरण अनुसरण करना है । जैसे ही निर्णय को कार्यवाही में बदला जाता है तो परिणाम प्राप्त होने शुरू हो जाते हैं । ये परिणाम आवश्यक रूप से इच्छित परिणामों के अनुकूल होने चाहिए । वास्तविक और इच्छित परिणामों के अनुकूल होने चाहिए । वास्तविक और इच्छित परिणामों में अन्तर को देखने से यह पता चलता है कि निर्णय को उचित रूप में लागू कर दिया गया है या नहीं यदि परिणाम अच्छे नहीं है तो इनका अभिप्राय यह है कि फिर से समस्या आ खडी हुई है और निर्णयन प्रक्रिया को पुन: प्रारम्भ करना होगा । इस प्रकार पहले किए गए निर्णय में संशोधन करना होगा पुन: उसके परिणाम की जाँच की जायेगी और यदि परिणाम अनुकूल है तो निर्णय को लागू रहने दिया जाएगा, लेकिन इसके विपरीत परिणाम आने पर पुन: संशोधन की जरूरत होगी । अत: अनुसरण भी निर्णयन प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंश है ।

15.6 निर्णयों के प्रकार

1. **नैत्यिक तथा आधारभूत अथवा महत्वपूर्ण निर्णय:** वे निर्णय जिनके बारे में अपेक्षाकृत कम सोचने-विचारने की आवश्यकता होती है तथा जो व्यवसाय की सामान्य प्रकृति में बार-बार लिये जाते हैं, नैत्यिक निर्णय कहलाते हैं । ऐसे निर्णयों के लिये अतिरिक्त विवेक, विश्लेषण तथा अधिकार, आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती है । व्यवसाय में अधिकांश निर्णय नैत्यिक निर्णय भी होते है ।
2. **संस्था सम्बन्धी निर्णय तथा व्यक्तिगत निर्णय :** जब किसी व्यावसायिक संस्था के पदाधिकारी के रूप में कोई औपचारिक निर्णय लिया जाता है तो वह संस्था सम्बन्धी

निर्णय कहलाता है, जैसे- किस किस्म के माल का निर्माण किया जाये, किस मात्रा में निर्माण किया जाये, आदि । ये निर्णय अधीनस्थ कर्मचारियों की क्रियाओं को भी प्रभावित करते हैं । इसके विपरीत, किसी संस्था के पदाधिकारी द्वारा अपने विषय में लिये गये निर्णय को व्यक्तिगत निर्णय कहते हैं ।

3. **एकाकी तथा सामूहिक निर्णय :** ऐसे निर्णय जो किसी व्यक्ति अथवा अधिकारी द्वारा लिये जाते हैं, एकाकी निर्णय कहलाते हैं । ऐसे निर्णयों में व्यक्ति अथवा अधिकारी किसी दूसरे को सम्मिलित नहीं करता है । जब व्यवसाय का आकार छोटा होता है तथा उस पर एक ही व्यक्ति का स्वामित्व एवं नियन्त्रण रहता है, वहाँ व्यवसाय के स्वामी द्वारा लिये गये निर्णय को एकाकी निर्णय कहते हैं । ऐसे निर्णय में न तो किसी व्यक्ति का हस्तक्षेप होता है और न किसी व्यक्ति से परामर्श लेना ही आवश्यक है किन्तु इसके विपरीत सामूहिक निर्णय वे निर्णय होते हें जो किसी समूह द्वारा लिये जाते है सामूहिक निर्णय समितियों की बैठकों, सेमीनारों, संचालक-मण्डलों, कार्य-दलों में लिये जाते हैं ।
4. **कार्यक्रमात्मक तथा कार्यक्रमात्मक-रहित निर्णय :** कार्यक्रमात्मक निर्णय वे होते हैं जो कि दुहराने वाली प्रकृति के होते हैं तथा जिन्हें लेने के लिए एक निश्चित एवं सुव्यवस्थित प्रणाली निर्धारित की जाती है । इसके विपरीत, कार्यक्रमात्मक-रहित निर्णय वे निर्णय होते हैं जो अनुपम, अनोखे एवं बेजोड प्रकृति के होते हैं तथा किसी विशेष परिस्थिति के उत्पन्न होने की दशा में लिये जाते हैं ।
5. **नीति सम्बन्धी चालू निर्णय :** नीति सम्बन्धी निर्णय वे निर्णय होते हैं जो सम्बन्धित व्यावसायिक संस्था की आधारभूत नीतियों के सम्बन्ध में उच्चस्तरीय प्रबन्ध द्वारा लिये जाते हैं । इसके विपरीत, व्यावसायिक संस्था के सामान्य मामलों के सम्बन्ध में लिया जाने वाला निर्णय, जो कि यान्त्रिक प्रकृति का होता है, चालू निर्णय कहलाता है।
6. **उपक्रम के निर्णय, अन्तर-विभागीय निर्णय तथा विभागीय निर्णय :** उपक्रम के निर्णय से आशय ऐसे निर्णयों से है जो उसके उच्चतम प्रबन्ध द्वारा लिये जाते हैं तथा जिनका समूचे उपक्रम पर व्यापक प्रभाव पडता है । इन निर्णयों का अनुकरण उपक्रम के सभी कर्मचारियों एवं विभागों को करना पडता है । अन्तर--विभागीय निर्णय वे होते हैं जो कि उससे प्रभावित होने वाले विभागीय प्रबन्धकों के सहयोग से नियन्त्रणकर्ता प्रबन्धक द्वारा लिये जाते है । इसके विपरीत, सम्बन्धित विभागीय प्रबन्धक द्वारा अपने विभाग के कार्य-कलापों के सम्बन्ध में लिया गया निर्णय विभागीय निर्णय कहलाता है ।

15.7 निर्णयन की विशेषताएं / प्रकृति

1. **यह एक बौद्धिक क्रिया है :** विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम के चुनाव करने की शक्ति मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में नहीं होती क्योंकि मनुष्य विवेकशील प्राणी है, अत: मानवीय निर्णय विवेक पर आधारित होते हैं ।

2. **निर्णयन को पूर्वानुमान का एक अंग माना जाता है :** पूर्वानुमान को निर्णयन का अंग माना गया है । पूर्वानुमान विगत को विश्लेषित करने, वर्तमान को समझने और उसके आधार पर भविष्य का अनुमान लगाना है, अत: निर्णयन की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है ।
3. **निर्णयन एक गतिशील प्रक्रिया है :** निर्णयन में तीन प्रमुख चरणों को शामिल किया जाता है
   - निर्णय के अवसरों को मालूम करना : इसमें समस्या को जानना शामिल है ।
   - समस्या हल करने के लिए सम्भावित विकल्पों का पता लगाना ।
   - इसमें से सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव करना ।
4. **निर्णयन नियोजन का एक भाग है :** निर्णयन की एक प्रक्रिया नियोजन में ही शामिल होती है, अत: निर्णयन नियोजन का एक भाग है ।
5. **निर्णयन एक वायदे के रूप में होता है :** प्रबन्ध द्वारा लिया गया प्रत्येक निर्णय एक वायदा होता हैं अर्थात् निर्णयन के माध्यम से प्रबन्धक यह कहता है कि उसके द्वारा लिए गए निर्णय के पीछे परिणाम होंगे ।
6. **यह नकारात्मक रूप में भी हो सकता है :** निर्णयन सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों तरह के हो सकते हैं । सकारात्मक निर्णय का अर्थ कुछ करने का निर्णय लेने से है जबकि नकारात्मक निर्णय का अर्थ कुछ न करने का निर्णय है ।
7. **यह मूल रूप से एक मानवीय क्रिया है** : निर्णयन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह एक मानवीय क्रिया है । निर्णय मनुष्य द्वारा लिए जाते हैं और मनुष्यों के लिए ही लिए गए निर्णय के अच्छे परिणाम होंगे ।
8. **यह प्रबन्ध की एक सार्वभौमिक पहचान है :** निर्णयन प्रबन्धक की सार्वभौमिक पहचान होती है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रबन्धक जो भी करता है वह निर्णयन पर ही आधारित होता है और यह विशेषता सभी स्थानों पर व सभी प्रबन्धकों में पाई जाती है ।

15.8 सारांश

निर्णयन एक सार्वभौमिक क्रिया है । इसका आशय एक बौद्धिक प्रक्रिया से है जिसमें विभिन्न सम्भावित विकल्पों में से एक सर्वोत्तम एवं व्यावहारिक विकल्प का चुनाव किया जाता है । निर्णयन के मुख्य लक्षण हैं वचनबद्धता, तर्कपूर्ण विचार विनिमय पर आधारित, वैचारिक मतभेदों से सम्बन्धित, सर्वव्यापक, भूत, वर्तमान अथवा भविष्य से सम्बन्धित ताकि यह एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया है ।

वातावारण, निर्णयन-कर्ता का व्यक्तित्व, उद्देश्य विकल्प, उपयोगिता, सहयोग एवं समय वे तत्व हैं जो कि निर्णयन की प्रकृति अथवा क्षेत्र का निर्धारण करते हैं ।

आधुनिक युग में निर्णयन को व्यवसाय की आत्मा कहा जाता है । निम्न कारण इसके महत्व को स्पष्ट करते हैं :

(i) नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण, समन्वय एवं नियन्त्रण के कार्यों का प्रभावपूर्ण सम्पादन ।

(ii) प्रबन्धकों की सफलता का मापक ।

(iii) प्रबन्ध के पेशाकरण पर बल ।

(iv) उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग ।

(v) समस्याओं का समाधान ।

(vi) जोखिमों को सीमित करना ।

(vii) उपक्रम के लक्ष्यों की सुगमता से प्राप्ति आदि ।

निर्णय कई प्रकार के हो सकते है । इनमें नीति सम्बन्धी निर्णय तथा संचालन सम्बन्धी निर्णय, कार्यक्रम एवं कार्यक्रम-रहित निर्णय, एक बार के निर्णय तथा आवर्ती निर्णय, व्यक्तिगत एवं समूहिक निर्णय, वातावरण, उद्देश्य तथा उत्पादन मूल्यांकन निर्णय, नियोजित तथा अनियोजित निर्णय, प्रमुख तथा गौण निर्णय, संगठनात्मक तथा विभागीय निर्णय आदि मुख्य है ।

निर्णयन के निम्नलिखित सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं

1. अधिकतम लाभ का सिद्धांत ।
2. वैज्ञानिक तकनीकों का सिद्धांत ।
3. हिस्सेदारी का सिद्धांत ।
4. सीमित घटकों का सिद्धांत ।
5. विकल्पों का सिद्धांत ।
6. परिवर्तन का सिद्धांत ।
7. समुचित समय का सिद्धांत ।
8. व्यावहारिकता का सिद्धांत ।
9. सृजनता का सिद्धांत ।
10. अनुवर्तन का सिद्धांत ।

आधुनिक युग में जटिल समस्याओं के समाधान हेतु कई परिमाणात्मक तथा अपरिमाणात्मक विधियों का उपयोग किया जाता है । परिमाणात्मक विधियों में क्रियात्मक अनुसन्धान जिसमें रेखीय कार्यक्रम, प्रतीक्षा-रेखा सिद्धांत, खेल सिद्धांत, सम्भाविता सिद्धांत, निदर्शन प्रणाली, सर्वे प्रणाली, निर्णय वृक्ष, सिमूलेशन प्रतीपगमन विश्लेषण तथा तथ्य विश्लेषण आदि प्रमुख है । जबकि अपरिमाणात्मक निर्णयन विधियों में अनुभव, विचार तथा अन्तर्ज्ञान की विधियों का अधिक महत्व है । इनमें कोई भी विधि अपने आप में पूर्ण नहीं है, इसलिए व्यवसाय का प्रबन्धक अपने उपक्रम की परिस्थितियों के अनुकूल एक या एक से अधिक विधियों को अपने निर्णयन का आधार बना सकेगा ।

15.9 महत्वपूर्ण प्रश्न

1 'निर्णय लेना एक प्रबन्धक का मुख्य कार्य है । 'समझाइये तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया को स्पष्ट करिए ।

"Decision- Making is the Primary task of a manager.' Explain and discuss the process of Decision- Making.

2 निर्णयन का क्या अभिप्राय है? इसके मूल तत्व कौन-कौनसे हैं?
What is meant by Decision- Making? What are its main elements?

3 "निर्णयन के सिद्धांतों का वर्णन कीजिए ।
Describe the principles of Decision- Making.

4 निर्णय कितने प्रकार के होते हैं? निर्णयन के महत्व को समझाइये ।
What are the different types of Decisions ? Examples the importentsnce of Decision- Making.

5 निर्णयन के चरणों की व्याख्या कीजिए । इनमें से कौनसा एक निर्णय अधिक महत्वपूर्ण है और क्यों?
Explain the steps in Decision- Making. Which one is the most important and why?

6 निर्णय से क्या आशय है? निर्णयन प्रक्रिया को समझाइए ।
What is meant by Decisions Making? Explain the process of Decision- Making.

7 निर्णय कितने प्रकार के होते हैं?
What are the various types of Decision?

8 "निर्णयन किसी क्रिया-विधि के विभिन्न विकल्पों में से किसी एक का चयन करना है । इस कथन की विवेचना कीजिए ।
Decision- Making is the Selection from among alternatives of a cource of action. Dicuss.

9 निर्णयन की विभिन्न तकनीकों या विधियों का संक्षेप में वर्णन करिए ।
Explain the brief the different teachinques of Decision- Making.

15.10 संदर्भ पुस्तकें

प्रबन्ध के सिद्धान्त – आर. सी. अग्रवाल. संजय अग्रवाल प्रकाशक - साहित्य भवन, आगरा

व्यावसायिक प्रबन्ध – जी. एस. सुधा प्रकाशक - शीलसन्स जयपुर

प्रबन्ध – जे. पी. सिंधल प्रकाशक - अजमेरा बुक कम्पनी. जयपुर

व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धान्त – डॉ. एम. एस. गुप्ता प्रकाशक - शिवम् बुक हाउस, जयपुर

प्रबन्ध के सिद्धान्त – डॉ. आर. एल. नौलखा प्रकाशक - रमेश बुक डिपो. जयपुर

इकाई- 16 : अभिप्रेरणा एवं नियंत्रण (Motivation and control)

इकाई की रूपरेखा

16.0 अभिप्रेरणा

- अभिप्रेरणा का अर्थ एवं परिभाषा
- अभिप्रेरणा के उद्देश्य
- अभिप्रेरणा की आवश्यकता एवं महत्व
- अभिप्रेरणा की विचारधाराएं
- अभिप्रेरणा का वर्गीकरण
- अभिप्रेरणा के सिद्धांत
- अभिप्रेरणा प्रक्रिया
- अभिप्रेरणा के साधन एवं तकनीकें

16.1 नियन्त्रण

- नियन्त्रण का अर्थ एवं परिभाषा
- नियन्त्रण के लक्षण
- नियन्त्रण के उद्देश्य
- नियन्त्रण की आवश्यकता एवं महत्व
- नियन्त्रण के सिद्धांत
- नियन्त्रण प्रक्रिया
- नियन्त्रण का क्षेत्र
- नियन्त्रण के साधन एवं तकनीकें

16.2 सारांश

16.3 अभ्यासात्मक प्रश्न

16.4 उपयोगी पुस्तकें/संदर्भ ग्रंथ

16.0 अभिप्रेरणा

अभिप्रेरणा का अर्थ एवं परिभाषा

अभिप्रेरणा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है । यह मूलत: व्यक्तिगत आवश्यकताओं एवं मान्यताओं पर आधारित है । अभिप्रेरणा देने के लिए कर्मचारियों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की जाती है और यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है ।

बीच (Beach) के शब्दों में "अभिप्रेरणा को एक लक्ष्य या पुरस्कार प्राप्त करने की शक्ति के विस्तार की इच्छा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है ।

अभिप्रेरणा के उद्देश्य (Objects of Motivation)

1. कर्मचारियों को कार्य करने के लिए प्रेरित करना ।

2. कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करना ।
3. कर्मचारियों की आवश्यकताओं की संतुष्टि करना ।
4. व्यवसाय में अच्छे मानवीय सम्बन्धों का निर्माण करना तथा उन्हें सुदृढ़ बनाना ।
5. कर्मचारियों के मनोबल को सुदृढ़ करना ।
6. कर्मचारियों की कार्यक्षमता में सुधार करना तथा बनाए रखना ।
7. कर्मचारियों को कार्य-सन्तुष्टि प्रदान करना ।
8. मानवीय साधनों का सदुपयोग करना ।
9. संस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करना ।

अभिप्रेरणा की आवश्यकता एवं महत्व

1. अभिप्रेरणा के द्वारा कर्मचारियों को उन कार्यो के करने के लिए अभिप्रेरित किया जाता है जिनसे संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त किया जायेगा ।
2. अभिप्रेररणा कर्मचारियों में कार्य के प्रति लगन उत्पन्न करने के लिए भी दी जाती है ।
3. अभिप्रेरणा की आवश्यकता कर्मचारियों की सामाजिक शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है ।
4. संस्था के मानवीय साधनों का सदुपयोग करने के लिए उनको अभिप्रेरित करना आवश्यक है ।
5. अभिप्रेरणा मनोबल का निर्माण करने में सहायक है ।

अभिप्रेरण की विचारधाराएं (Theories of Motivation)

अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से अभिप्रेरणा की विचारधाराओं को दो भागो में बांटा जा सकता है:-

I. **परम्परागत विचारधाराएं:-** इसमें निम्न प्रमुख विचारधाराओं को सम्मिलित किया जाता है:
   1. भय एवं दण्ड विचारधारा
   2. पुरस्कार विचारधारा
   3. कैरट एवं स्टिक विचारधारा

II. आधुनिक विचारधारा

1 **आवश्यकता-क्रम विचारधारा (Need Hierarchy Theory) : अब्राहम माक्लो** (Abraham Maslow) ने अभिप्रेरणा की विचारधारा को एक नये रूप में स्पष्ट किया है । उनकी इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर कार्य करता है । इसके अतिरिक्त उनका यह भी मानना है कि आवश्यकताएं एक निश्चित क्रम में ही बढती है ।

डॉ. ए. एच. मास्लो (Dr. A.Maslow) ने आवश्यकता क्रम का बहुत ही स्पष्ट वर्गीकरण किया है । उनके अनुसार निम्न प्रमुख आवश्यकताएं है:

(i) शारीरिक आवश्यकताएँ

(ii) सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ,

(iii) सामाजिक आवश्यकताएँ,

(iv) स्वाभिमान या अहंकारी आवश्यकताएँ, तथा

(v) आत्म-विकास की आवश्यकताएँ ।

2. भागीदारी विचारधारा (Participative Theory): आधुनिक मानव व्यवहार पर हुए अनुसंधानों से स्पष्ट हो चुका है कि केवल मौद्रिक पुरस्कार ही कर्मचारियों को अभिप्रेरित नहीं कर सकते है । भागीदारी विचारधारा यह मानकर चलती है कि **"प्रभावशाली तरीके से किसी कार्य को करके व्यक्ति संतोष प्राप्त करता है ।**

3. **पथ लक्ष्य विचारधारा (Path- goal Theory) :** पथ-लक्ष्य विचारधारा का विकास करने वाले **गोरगों पोलश माहौनी तथा जोन्स (Georgopoulous, Mahoney and Jones)** है। यह विचारधारा यह मत व्यक्त करती है कि लोग तब अधिक कठिन परिश्रम करेंगे जबकि उन्हे ज्ञात हो की उनका लक्ष्य कठिन परिश्रम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । यह विाचरधारा इस मान्यता पर आधारित है कि कर्मचारियों की आवश्यकताएं बहुत ही ऊंची हैं, उनके लक्ष्य महत्वपूर्ण हैं और उनके लिए आवश्यक कार्य करने में उनकों कोई बाधा नहीं है।

4. **हर्जबर्ग की अभिप्रेरणा स्वास्थ्य या आरोग्य विचारधारा (HerZerg's Motivatioin-bygiene Motivation Theory):-** इस विचारधारा का विकास **प्रो. हर्जबर्ग** (Herzeberg) द्वारा अपने साथियों के सहयोग से Psychological Service, Pittsbourgh' में किया गया । हर्जबर्ग का कहना है कि 'मनुष्य की आवश्यकताओं के दो समूह है जो एक-दूसरे से भिन्न हैं । ये आवश्यकताओं के समूह व्यवहार को भिन्न-भिन्न तरीके से प्रभावित करते है । उनका कहना है कि जब लोग अपने कार्यो से असंतुष्ट होते हैं, तो उस असंतुष्टि का कारण यह वातावरण है, जिसके अन्तर्गत वे काम करते है । दूसरी ओर जबकि लोग अपने कार्य से संतुष्टि अनुभव करते हैं तो यह केवल कार्य के द्वारा ही प्राप्त होती है । हर्जबर्ग ने अपनी आवश्यकता के प्रथम समूह को स्वास्थ्य तत्वों (hygiene factors) के नाम से पुकारा है । ये तत्व मनुष्य के वातावरण से सम्बन्धित हैं, और मनुष्य को असंतुष्ट होने से रोकते हैं उन्होने आवश्यकता के द्वितीय समूह को अभिप्रेरक तत्व (Motivator) की संज्ञा दी है । ये तत्व मनुष्य को अधिक कुशलता से कार्य करने को अभिप्रेरित करते हैं ।

तालिका : स्वास्थ्य एव अभिप्रेरक तत्व

स्वास्थ्य तत्व (hygiene factors)	**अभिप्रेरक तत्व (Motivators)**
वातावरण	कार्य
नीतियां एवं प्रशासन	उपलब्धियाँ
पर्यवेक्षण	उपलब्धि के लिए मान्यता
कार्य-दशाएँ	चुनौतीपूर्ण कार्य
उन्नति एवं विकास	अधिक उत्तरदायित्व
वेतन, स्थिति एवं सुरक्षा	उन्नति एवं विकास

अभिप्रेरणा का वर्गीकरण (Types of Motivation)

1. **धनात्मक अभिप्रेरणा एव ऋणात्मक अभिप्रेरणा - के** इसमें अभिप्रेरणा की दृष्टि से कर्मचारी कार्य की प्रशंसा की जाती है । धन, सम्मान, पदोन्नति आदि प्राप्त होती है । यह कर्मचारियों में मनोबल को सुदृढ़ करता है । **ऋणात्मक अभिप्रेरणा:** इसमें कर्मचारी के कार्य की बुराई की जाती है उसे भय दिखाया जाता है । इसका प्रभाव प्राय: आशा के विपरीत होता है ।
2. **बाह्य एवं आंतरिक अभिप्रेरणा (Extrinsic and Intrinsic Motivation) :** बाह्य अभिप्रेरणा वह है जो कि कार्य के अतिरिक्त स्रोतों से प्राप्त होता है । अधिक वेतन, सीमांत लाभ (fringe benefits), सेवा निवृत्ति योजनाएं, जीवन बीमा, विश्राम का समय, छुट्टियां आदि-आदि बाह्य अभिप्रेरणा के उदाहरण है ।
   आंतरिक अभिप्रेरणा वे हैं जो कार्य के दौरान उत्पन्न होते हैं । सम्मान, उत्तरदायित्व, मान्यता, शक्ति, हिस्सेदारी. आदि सभी आंतरिक अभिप्रेरणा के साधन है ।
3. **वित्तीय तथा अवित्तीय अभिप्रेरणा (Financial or non-financial Motivation) :** वित्तीय अभिप्रेरणा वह है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा से सम्बन्धित है । मजदूरी या वेतन प्रत्यक्ष एवं बहुत ही महत्वपूर्ण वित्तीय अभिप्रेरणा है ।
   अवित्तीय अभिप्रेरणा वे हैं जो किसी प्रकार के धन से सम्बन्ध नहीं होती है । ये अभिप्रेरणा मनोवैज्ञानिक होती है, जो मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं की सन्तुष्टि प्रदान करता है । प्रशंसा करना, हिस्सेदारी देना, सेवा सुरक्षा करना, निर्णय में स्वतन्त्रता देना, अधिक अधिकार देना, सेवा सुरक्षा करना, निर्णय में स्वतन्त्रता देना, अच्छी कार्य-दशाएं उत्पन्न करना आदि-आदि अवित्तीय अभिप्रेरणा है ।

अभिप्रेरणा के सिद्धांत (Principles of Motivation)

1. कर्मचारियों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न की जानी चाहिए ।
2. कर्मचारियों को उनकी उपलब्धियों से अवगत कराना चाहिए ।
3. उनके कार्यों की उनकी प्रशंसा करनी चाहिए तथा उन्हें मान्यता देनी चाहिए ।
4. कर्मचारियों में संस्था के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न करना चाहिए।
5. कर्मचारियों को उन्नति एवं विकास का अवसर देना चाहिए ।
6. कर्मचारियों को कुशल नेतृत्व प्रदान करना चाहिए
7. कर्मचारियों के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए ।
8. कर्मचारियों के धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विचारों का स्वागत करना चाहिए ।
9. कर्मचारियों के सुझावों पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए ।
10. कर्मचारियों को संस्था के नीति-निर्धारण में पर्याप्त सहभागिता देनी चाहिए ।
11. संगठन में दलीय भावना (Team spirit) उत्पन्न करना चाहिए ।
12. कर्मचारियों को निराश नहीं होने देना चाहिए ।
13. कार्य को रूचिकर बनाने का प्रयास करना चाहिए ।

14. कर्मचारी के व्यक्तिगत अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए ।
15. कर्मचारी की आंतरिक दबी हुई शक्तियों के विकास का प्रयोग करना चाहिए ।

अभिप्रेरणा प्रक्रिया (Motivation Process)

प्रो. कीथ डैविस (keith Davis) ने एक विस्तृत अभिप्रेरणा प्रक्रिया का वर्णन किया है । उनके अनुसार अभिप्रेरणा प्रक्रिया के निम्न छः प्रमुख स्तर है:-

1. **उद्देश्यों का निर्धारण (Determination of objectives):** अभिप्रेरणा देने के लिए सर्वप्रथम प्रबंधकों को अभिप्रेरणा के उद्देश्यों को निर्धारित कर लेना चाहिए ।
2. **कर्मचारियों की भावनाओं का अध्ययन (Study of the feelings of employeex):** अभिप्रेरणा के द्वितीय स्तर पर प्रबन्धक को कर्मचारियों की भावना का अध्ययन करना चाहिये । कर्मचारी किसी स्थिति या कार्य को किस प्रकार की मनोदशा से देखते है, इस बात का अध्ययन करना चाहिए ।
3. **संप्रेषण (Communication):** अभिप्रेरणा की विधि लोगों को बता देनी चाहिए । यदि प्रबन्धक लोगों तक अपनी बात उचित प्रकार से पहुंचाने में असमर्थ रहता है तो वह अपने कर्मचारियों को उचित प्रकार से अभिप्रेरित करने में भी असफल ही रहेगा ।
4. **हित संयोजन करना (Integrate Interests):** कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने में प्रबन्धकों को संगठन के उद्देश्यों एवं कर्मचारियों के हितों, दोनों को ध्यान में रखना चाहिए ।
5. **सहायक दशाएं उपलब्ध करना (Provide Auxilliary conditions):** कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए उन्हें कुछ सहायक कार्य-दशाएं उपलब्ध करनी चाहिए ।
6. **समूह भावना (Team work) :** कर्मचारियों में समूह भावना का विकास करना चाहिए।
7. **अनुवर्तन (Flollow- up):** अभिप्रेरणा देने के बाद समय-समय पर यह भी मूल्यांकन करते रहना चाहिए कि अभिप्रेरणा की कौन-सी विधि का किस सीमा तक प्रभाव हुआ है।

अभिप्रेरणा के साधन एवं तकनीकें (Tools and Techniques)

I. **वित्तीय तकनीकें (Financial Techniques):** वित्त मनुष्य की अनेकों आवश्यकताओं की संतुष्टि कर सकता है । उच्च वेतन, बोनस, लाभ में हिस्सा, सीमांत लाभ (Fringe benefits) आदि वित्तीय तकनीकों से कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है ।

II. **अवित्तीय तकनीकें (Non financial techniques):** अभिप्रेरणा की प्रमुख अवित्तीय तकनीकें निम्न प्रकार है:

1. **सुरक्षा (Security) :** कर्मचारियों को सेवा-सुरक्षा प्रदान करके भी अभिप्रेरित किया जा सकता है।
2. **कार्य विस्तार (Job enlargement) :** कार्य-विस्तार सिद्धांत कहता है कि एक कार्य व्यक्ति को सौंपने के बजाय व्यक्तियों के समूह को कई कार्य सौंप देने चाहिए और उन्हें सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा कार्य प्रक्रिया पर अधिक नियंत्रण स्थापित

करने का अवसर देना चाहिए । कार्य विस्तार के द्वारा एक ही व्यक्ति को बार-बार एक ही कार्य नहीं करना पड़ता है और मानसिक थकावट नहीं आती है । इससे कर्मचारी की कार्य-क्षमता बढ़ती है तथा उसकी कार्य में रूचि बनी रहती है ।

3. **कार्य-चक्र एंव विस्तार (Job rotation and alteration) :** इस विधि में कर्मचारियों को थोड़े-थोड़े समय के लिए विभिन्न कार्यो पर लगाया जाता हैं इससे वह एक कार्य करते हुए थकता नहीं है और कार्य में रूचि बनी रहती है ।
4. **कार्य-सम्पन्नता (Job enrichment) : रस्क (Rusx)** के अनुसार, "कार्य सम्पन्नता में कर्मचारी नियोजन एवं नियन्त्रण के कुछ पहलुओं को पूरा करता है और कार्य सम्पादन भी करता है"।
5. **अधिकार प्रत्यायोजन (Delegation of authority) : फिलप्पो (Plippo)** के अनुसार, "किसी कार्य को करने के लिए अधिकार एवं उत्तरदायित्वों का प्रत्यायोजन प्राय: महत्वपूर्ण अभिप्रेरणा सिद्ध होती है ।"
6. **कार्य-संतुष्टि (Job satisfaction) :** कर्मचारियो में कार्य से संतुष्टि उत्पन्न करना प्रबन्धकों का महत्वपूर्ण कार्य है ।

16.1 नियन्त्रण

नियन्त्रण अर्थ एवं परिभाषाएं (Meaning and Definitions)

आधुनिक व्यवसाय में नियन्त्रण से आशय उन सब क्रियाओं से लगाया जाता है जिनके द्वारा पूर्व निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कम्पनी के कार्यों को निर्देशित एवं अभिप्रेरित किया जाता है । इसका तात्पर्य किसी व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाना नहीं है बल्कि यह वह साधन है जिसके द्वारा प्रबन्धक विश्वास एवं सुरक्षा के साथ अपने अधिकारों का प्रत्यायोजन एवं विकेन्द्रीकरण कर सकता है ।

कोटलर (Kotler) के शब्दों में, 'नियन्त्रण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वास्तविक परिणामों को इच्छित परिणामों के निकट लाने के प्रयास किये जाते है ।"

नियन्त्रण के लक्षण (Characteristics of Control)

1. नियन्त्रण करना प्रबन्धक का कार्य है न कि संस्था के अध्यक्ष का ।
2. नियन्त्रण सदैव भविष्य से सम्बन्धित होता है ।
3. नियन्त्रण सभी स्तर पर किया जाता है ।
4. नियन्त्रण में पक्ष विपक्ष दोनों पहलुओं का समावेश होता है ।
5. नियन्त्रण एक उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति की सहायता के लिए किया जाता है तथा संस्था की दीर्घकालीन योजनाओं का एक भाग कहा जा सकता है ।
6. नियंत्रण की प्रक्रिया सतत रूप से चलती रहती है ।
7. नियंत्रण व्यक्तियों पर ही नहीं किया जाता बल्कि सामग्री, मशीनों तथा उत्पादन व अन्य निर्जीव साधनों पर किया जाता है ।
8. नियंत्रण करने से कार्य-कुशलता में सुधार किया जा सकता है किन्तु हस्तक्षेप करने से कार्य-कुशलता में बाधा उत्पन्न होती है ।

नियन्त्रण के उद्देश्य (Objects of Control)

1. यह विश्स्वत होना कि कार्य नियोजन के अनुसार हो रहा है ।
2. नियोजन कार्य प्रणालियों से विचलन का पता लगाना और सुधार के लिए प्रयास करना।
3. कम से कम घिसावट करके मशीनों एवं औजारों का अधिकतम प्रयोग करना ।
4. नियोजित उत्पादन के अनुरूप कच्चे माल का संग्रह करना ताकि कच्चे माल में न्यूनतम पूंजी लगाई ज सके ।
5. विकेन्द्रीकरण को सफल बनाना ।

नियन्त्रण की आवश्यकता एवं Need and Impotence for Control

1. **व्यवसाय का बढता हुआ आकार (Growing environment):** एक प्रभावशाली नियंत्रण व्यवस्था की आवश्यकता का प्रथम कारण यह है कि आधुनिक व्यवसाय का आकार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है ।
2. **परिवर्तनशील वातावरण (Changing environment) :** नियन्त्रण की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि आज का उपक्रम अत्यधिक जटिल एवं परिवर्तनशील वातावरण में व्यवसाय करता है ।
3. **विकेन्द्रीकरण की प्रवृति (Trend of Decentralization) :** आधुनिक प्रबन्ध व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि प्रबन्धक अधिकारों के विकेन्द्रीकरण पर जोर देने लगे है । एक विकेन्द्रित संस्था में नियन्त्रण करना परमावश्यक होता है । नियन्त्रण के बिना विकेन्द्रीकृत कार्यो एवं अधिकारों से किसी प्रकार का परिणाम प्राप्त करना कठिन होता है ।
4. **मनोबल के लिए आवश्यक (Vital for morale) : मेकफारलैंड (Mc- Farland)** के शब्दों में, संस्था के मनोबल एवं शक्ति के लिए नियन्त्रण करना आवश्यक है ।"
5. **निर्णय लेने में सहायक (Necessary for decision making) :** निर्णय लेना एवं नियन्त्रित करना एक दूसरे से निकट रूप से सम्बन्धित है । विद्वानों का यह मानना है कि उच्च अधिकारियों के निर्णय नियन्त्रण ही होते हैं ।
6. **क्रमबद्धता एवं अनुशासन (For Providing order and discipline): मेकफारलैंड (McFarland)** के अनुसार, "यद्यपि नियन्त्रण सभी परिस्थितियों में आदत में आई हुई बेईमानी को समाप्त नहीं कर सकता लेकिन यदि प्रबन्धक उचित प्रयत्नों द्वारा अपनी संस्था के कर्मेचारियों मै नियन्त्रण विधियों द्वारा न्याय एवं अनुशासन स्थापित नहीं करता है तो प्रबन्ध अनुत्तरदायी होता है ।
7. **समन्वय में सुविधा (Facilitates coordination):** नियन्त्रण संस्था में प्रभावशाली समन्वय करने में भी सहायता करता है ।
8. **कर्मचारियों को अभिप्रेरणा (Motivation to employees) :** नियन्त्रण एक ऐसा साधना है जिसके द्वारा कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है । कर्मचारियों के कार्यो का नियन्त्रण करके उनके कार्यो एवं उनकी स्थिति को ज्ञात किया जा सकता है।

नियन्त्रण के सिद्धान्त (Principles of Control)

हैरोल्ड कून्ट्ज (Harold Koonitz) ने नियन्त्रण के अग्रलिखित चौदह सिद्धान्तों का वर्णन किया है ।

1. **उद्देश्यों की सुरक्षा का सिद्धान्त Principle of assurance of objectives):** नियन्त्रण ऐसा होना चाहिए जो कि समूह के उद्देश्यों को प्राप्त करने में योगदान दे सके । इस हेतु योजनाओं एवं वास्तविक कार्यो के विचलनों का अन्तर ज्ञात करना चाहिए तथा उन विचलनों को समाप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए ।
2. **नियन्त्रण की कुशलता का सिद्धान्त (Principles of efficiency of control):** यह सिद्धांत यह कहता है कि नियन्त्रण तब प्रभावशाली कहे जाते है जबकि वे कुशलतापूर्वक विचलनों को ज्ञात करें तथा विचलनों को इस प्रकार समाप्त करें कि संस्था के कार्यो पर किसी प्रकार से विपरीत प्रभाव न पड़े ।
3. **उत्तरदायित्व के नियन्त्रण का सिद्धान्त (Principle of control of responsibillty):** नियन्त्रण उसी व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए जो की कार्यों के लिए उत्तरदायी है ।
4. **भावी नियन्त्रण का सिद्धान्त (Principle of future control) :** यह सिद्धान्त इस बात को बताता है कि नियन्त्रण का उद्देश्य वर्तमान कार्यों और नियोजन में विचलनों को ज्ञात करना एवं समाप्त करना ही नहीं है बल्कि भावी कार्यो एवं नियोजनों में भी विचलनों को ज्ञात करना ओर उन्हें समाप्त करना है ।
5. **प्रत्यक्ष नियन्त्रण का सिद्धान्त (Principle of Direct to control) :** नियन्त्रण का यह सिद्धान्त यह बताता है कि प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करने के लिए प्रत्यक्ष नियन्त्रण विधि को अपनाना चाहिये ।
6. **नियोजन की छाप का सिद्धान्त (Principle of relection of Plans):** नियन्त्रण की प्रक्रिया इस प्रकार की होनी चाहिये जिसमें नियोजन की छाप या लक्षण या विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित हो सकें ।
7. **संगठनात्मक उपयुक्तता का सिद्धान्त (Principle of Organizational Suitability):** नियन्त्रण प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिये जो संगठन के ढांचे के अनुरूप समायोजित की जा सके तथा उसमें संगठन की संरचना की विशेषताएं भी हों ।
8. **नियन्त्रणों की वैयक्तिकता का सिद्धान्त (Principle of Individuality of control) :** नियन्त्रण प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिये जो न केवल संगठन की बल्कि वैयक्तिक आवश्यकताओं को भी पूरा कर सके ।
9. **प्रमाण का सिद्धान्त (Principle of Standard):** यह सिद्धान्त यह बताता है कि प्रभावशाली नियन्त्रण के लिये कुछ निश्चित, सही एवं उपयुक्त प्रमाण होने चाहिये ।
10. **महत्वपूर्ण बिन्दु नियन्त्रण सिद्धान्त (Principle of Strategic Point):** प्रभावशाली नियन्त्रण प्रक्रिया के लिये यह भी आवश्यक है कि उसमें महत्वपूर्ण मामलों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में पहले से ही विशेष ध्यान दिया जाए ।

11. **अपवाद का सिद्धान्त (Exception Principle):** अपवाद सिद्धान्त यह कहता है कि यद्यपि नियन्त्रण सम्बन्धित अधिकारी को ही लागू करना चाहिये किन्तु विशेष मामलों में उच्च प्रबन्धकों को भी यह अधिकार होना चाहिये ।
12. **नियन्त्रण की लोच का सिद्धान्त (Principle of flexibility of Control) :** नियन्त्रण कार्यक्रमों में पर्याप्त लोच होनी चाहिये ताकि योजनाओं के असफल होने पर भी नियन्त्रण करना कठिन न हो ।
13. **पुनरावलोकन (Principle of Review) :** समय-समय पर नियन्त्रण प्रक्रिया का पुनरावलोकन करते रहना चाहिए तथा परिस्थितियों के अनुसार समायोजन कर लेन चाहिए ।
14. **कार्य का सिद्धान्त (Principle of action):** यह अन्तिम सिद्धान्त इस बात की ओर संकेत करता है कि नियन्त्रण करना तभी लाभप्रद है जबकि नियन्त्रण के द्वारा ज्ञात हुए विचलनों को समाप्त करने के लिए यथोचित कार्य किए जायें । जब तक विचलनों को समाप्त करने के लिए कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाये जायेंगे नियन्त्रण अधूरा ही रहेगा ।

नियन्त्रण प्रक्रिया (Controlling Process)

1. **लक्ष्यों एवं प्रमापों का निर्धारण (Establishment of Goals and Standards):** नियंत्रण प्रक्रिया का पहला स्तर लक्ष्यों प्रमापों नीतियों योजनाओं मान्यताओं अथवा अन्य किसी माप का निर्धारण करना है, जिसके द्वारा किसी भी कर्मचारी के व्यवहार को नियमित किया जा सके । ये माप के साधन होते है जिनसे वास्तविक कार्यों की तुलना की जाती है ।
2. **कार्यो का मूल्यांकन करना (Appraisal of Performance) :** नियन्त्रण प्रक्रिया का दूसरा चरण वास्तविक कार्यों की प्रमापों से तुलना करना है । वास्तविक कार्यो की प्रमाप से तुलना करने का प्रमुख ध्येय वास्तविक कार्यो का प्रमाप से विचलन की मात्रा ज्ञात करना होता है ।
3. **विचलन के कारणों को ज्ञात करना (Determining the Reasons for Deviation):** नियन्त्रण प्रक्रिया का अलग चरण प्रमाप एवं वास्तविक कार्यों के बीच होने वाले अन्तर के कारणों को ज्ञात करना है । इसमें यह ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है कि जो अन्तर हुआ है उस अन्तर के पीछे क्या कारण है?
4. **सुधारात्मक कार्य (Corrective action):** नियन्त्रण प्रक्रिया का अन्तिम चरण सुधारात्मक कार्य का है । जब वास्तविक कार्य प्रमाप से एक निश्चित विचलन सीमा से अधिक विचलित हो जाते है तो प्रमापों में सुधारात्मक कार्य करने पड़ते हैं ।

नियन्त्रण का क्षेत्र (Scope or areas of control)

1. **क्रय नियन्त्रण (Control Over purchases) :** संस्था का कार्य कच्चे या पक्के माल के क्रय के साथ प्रारम्भ होता है, अत: प्रबन्धकीय नियन्त्रण का एक प्रमुख क्षेत्र क्रय नियन्त्रण का है।

2. **उत्पादन नियन्त्रण (Production Control):** प्रबन्धकीय नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र उत्पादन से सम्बन्धित है । कब कितने माल का उत्पादन करना तथा किस किस्म के माल का उत्पादन करना उत्पादन नियन्त्रण के क्षेत्र में सम्मिलित है ।
3. **'इन्वेन्द्री नियन्त्रण (Inventory Control):** संस्था की उत्पादन एवं विक्रय सफलता के लिए 'इन्वेन्ट्री नियन्त्रण अत्यावश्यक है ।
4. **विक्रय नियन्त्रण (Sales Control):** विक्रय सभी व्यावसायिक क्रियाओं का आदि एवं अन्त माना जाने लगा है । प्रत्येक व्यावसायिक संस्था की लाभदेयता, उत्पादकता सभी कुछ विक्रय पर निर्भर करती है । अत: प्रबन्धकों को समुचित विक्रय नियन्त्रण व्यवस्था लागू करनी पड़ती है ।
5. **पूंजी नियन्त्रण (Capital Control) :** व्यवसाय में पूंजी का महत्वपूर्ण स्थान है । पूंजी आवश्यकता से अधिक अथवा कम होने पर व्यवसाय की सफलता संदिग्ध रहती है, अत: व्यवसायी को अपनी आवश्यकता से अधिक अथवा कम पूंजी का यथा समय आवश्यक समायोजन करना चाहिये ।
6. **लागत नियन्त्रण (Cost Control):** प्रमापित लागतों तथा वास्तविक लागतों की तुलना करके लागतों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है । यदि प्रमापित लागतों से वास्तविक लागतें अधिक आती है तो उन लागतों में कमी लाने के लिए समुचित प्रयास किए जाते है ।
7. **मजदूरी तथा वेतन नियन्त्रण (Wage and Salary Control):** सभी समान कार्य करने वालो को समान वेतन (Equal work, equal wages) दिलाने के लिए वेतन तथा मजदूरी का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है ।
8. **संगठन पर नियन्त्रण (Production Control) :** संगठन प्रबन्ध का वह साधन है जिसके माध्यम से प्रबन्ध अपनी संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करता है, अत: प्रबन्धकों को सम्पूर्ण संगठन पर समुचित नियन्त्रण स्थापित करना पडता है ।
9. **सेविवर्गीय नियन्त्रण (Personnel Control):** सेविवर्गीय कार्य संस्था का एक महत्वपूर्ण कार्य है । संस्था में वांछित कर्मचारी सदैव उपयुक्त हों, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है । यदि संस्था में आवश्यकता से कम कर्मचारी उपलब्ध हैं तो कार्य एवं उद्देश्य यथासमय पूरे नहीं हो सकते हैं ।
10. **कार्यालय नियन्त्रण (Office Control):** कार्यालय नियन्त्रण के द्वारा प्रबन्धक विभिन्न कार्यालयों में होने वाले कार्यो की क्रमबद्धता एवं नियमानुकूलता के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं । कार्यालय नियन्त्रण स्थापित करने के लिए प्रबन्धक कार्यालय कार्य-विधि (Procedures), पद्धति एवं प्रणाली (method and system) तथा नीतियों एवं नियमों को निर्धारित कर लेते हैं ।

नियन्त्रण के साधन एवं तकनीके (Tools and Teghniques of Control)

सामान्यत: नियन्त्रण में निम्न प्रमुख तकनीकें प्रयुक्त की जाती है:

1. अवलोकन
2. उदाहरण

3. नीतियां
4. अभिलेखन एवं प्रतिवेद
5. चार्ट्स एवं मेनुअल्स
6. लिखित निर्देश
7. बजट
8. लेखाकर्म
9. ब्रेक इवन चार्ट
10. नियन्त्रण विभाग
11. अंकेक्षण

1. **अवलोकन या निरीक्षण (Observation):** कर्मचारियों के कार्यो का प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन करके तथा कर्मचारियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करके उनके कार्यो का नियन्त्रण किया जा सकता है ।
2. **उदाहरण (Example):** एक अधिकारी जो अपने अधीनस्थों के व्यवहार कों नियन्त्रण करना चाहता है, उसे अपने अधीनस्थों के समक्ष अपने कार्यो एवं: व्यवहारों का एक जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए । यह उदाहरण ही अधीनस्थों के लिए आदर्श बन जाता है, जिसकी प्राप्ति के लिए सभी अधीनस्थ प्रयास कर सकते है ।
3. **नीतियां (Policies) :** नीतियां वे सामान्य विवरण एवं मार्ग-दर्शक सिद्धांत है जो एक संस्था द्वारा अपने दैनिक कार्यो के निष्पादन में मार्ग दर्शक तत्वों के रूप में प्रयोग में लाई जाती है ।
4. **अभिलेख एवं प्रतिवेदन (Records and reports) :** अभिलेखों एवं प्रतिवेदनों को भी परिणामों के माप के रूप में प्रयोग किया जा सकता है ।
5. **चार्ट्स एवं मैनुअल्स (Charts and manuals'):** संगठन के चार्ट अधिकारियों एवं प्रबन्धकों को संगठन ढांचे का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं । ये अधिकारियों एवं प्रबंधको को संगठन ढांचे का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते है । ये चार्ट आपसी संबंधो एवं कार्य-समूहों को भी स्पष्ट करते हैं । ये चार्ट संस्था में परिर्वतन करने एवं नीतियों के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान देते है ।
6. **लिखित निर्देश (Written Instructions):** अधीनस्थों के कार्यो के नियन्त्रण के लिए लिखित निर्देश भी प्रयोग में लाये जाते हैं । सभी लिखित निर्देश पूर्ण रूप से स्पष्ट होने चाहिए ।
7. **बजट (Budget) :** आधुनिक व्यवसाय में बजट को महत्वपूर्ण नियन्त्रण के साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है । बजट एक योजना का वित्तीय विवरण है जिसे पूर्ण निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक निश्चित समयावधि में लागू किया जाता है ।
8. **लेखाकर्म (Accounting) :** लेखाकर्म भी कुशलता को मापने का एक महत्वपूर्ण साधन है । सामान्यत: लेखाकर्म के तीन पहलू होते हैं । प्रथम पहलू: व्यावसायिक सौदों को लिखने, द्वितीय पहलू : दैनिक व्यावसायिक क्रियाओं को नियन्त्रित करने तथा तृतीय पहलू : व्यावसायिक स्थिति का मूल्यांकन करने और भविष्य के लिए कुशलतम क्रियाओं का निर्धारण करने से सम्बन्धित है ।
9. **रामविच्छेद विश्लेषण (Break-Even-Point Analysis) :** सम-विच्छेद चार्ट का नियन्त्रण में महत्व इसलिए है कि यह उत्पादन की विभिन्न मात्राओं एवं लागतों में

सम्बन्ध बताता है, मूल्य निर्धारित करता है तथा विक्रय की मात्राओं एवं लाभों में सम्बन्ध दिग्दर्शित करता है । सम विच्छेद बिन्दु यह बताता है कि कुल लागत को पूरा करने के लिए किसी वस्तु विशेष की कुल कितनी मात्रा बेची जानी चाहिए ।

10. **नियंत्रण विभाग (Control Department) :** संस्था में नियन्त्रण विभाग की स्थापना करके नियन्त्रण प्रक्रिया को सरल बनाया जा सकता है । नियंत्रण विभाग को नियन्त्रण का नियोजन, समन्दरा, मूल्यांकन करना पडता है । साथ-ही-साथ सुधारात्मक प्रयास भी करने होते है ।
11. **अंकेक्षण (Audit) :** अंकेक्षण नियन्त्रण का एक बहु प्रचलित एवं उपयोगी साधन है । यह भी कभी-कभी आन्तरिक व्यक्तियों द्वारा और कभी-कभी बाह्य व्यक्तियों द्वारा भी करवाया जा सकता है ।

नियन्त्रण की सीमाएं (Limitations of Control)

1. **नियन्त्रण आंतरिक क्रियाओं पर ही सम्भव है :** नियन्त्रण केवल संस्था की आन्तरिक क्रियाओं पर ही किया जा सकता है । संस्था के बाहर के कार्यो पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता है ।
2. **नियन्त्रण किसी प्रमाप पर आधारित होता है :** नियन्त्रण करने के लिए किसी कार्य की प्रमाप से तुलना की जाती है और जब कार्य प्रमाप के अनुकूल नहीं होता है तो नियंत्रण की कार्यवाही की जाती है ।
3. **कई बार सुधारात्मक प्रयास करना सम्भव नहीं होता :** कई बार नियंत्रण करने के लिए विचलनों का पता लगा लिया जाता है, किन्तु उन विचलनों को समाप्त करने के लिए सुधारात्मक प्रयास करना सम्भव नहीं हो पाता । इसके परिणामस्वरूप नियन्त्रण का कोई प्रभाव नहीं होता ।
4. **अत्यधिक खर्चा :** कभी-कभी यह देखा जाता है कि नियोजनों तथा वास्तविक कार्यो में विचलनों को ज्ञात करने में इतना धन व्यय करना पड़ता है कि संस्था के लिए यह कार्य असम्भव हो जाता है और नियन्त्रण कार्य नहीं किया जा सकता ।

16.2 सारांश (Summary)

प्रबन्ध को दूसरों से कार्य करवाने की कला के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है, अत: प्रबन्धकों के समक्ष यह एक महत्वपूर्ण चुनौतीयुक्त प्रश्न है कि वे उन बातों को ज्ञात करें जिनके द्वारा दूसरों से कार्य करवाया जा सके । अभिप्रेणा वे इच्छाएं और भावनाएं है जो हर व्यक्ति को कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करतीं हैं । एक व्यक्ति को अभिप्रेरित तभी किया जा सकता है जबकि उसकी योग्यताओं को किन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्देशित किया जाता है ।

नियन्त्रण को भी प्रशासन एवं प्रबन्ध का एक आवश्यक साधन सदियों से माना जाता जा रहा है । नियन्त्रण से यह ज्ञात हो जाता है कि संस्था का कार्य योजनाबद्ध चल रहा है अथवा नहीं और संस्था के विभिन्न तत्वों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्यों से पर्याप्त संबंध स्थापित है

अथवा नहीं । नियन्त्रण की अच्छी योजना के आधार पर ही उच्च प्रबन्धक वर्ग अधिकारों की प्रत्यायोजना करता है और उच्च प्रबन्धक अनावश्यक विस्तृत कार्यों से मुक्ति प्राप्त करने लगता है ।

16.3 अभ्यास के लिए प्रश्न

अतिलघु उत्तर प्रश्न

प्र.1 अभिप्रेरणा तथा नियन्त्रण का महत्व बताईये ।

Explain importance of motivation and control.

प्र.2 अभिप्रेरणा का अर्थ एवं प्रकार बताईये ।

Define the menaning and types of motivation.

लघुउत्तर प्रश्न

प्र.1 अभिप्रेरणा क्या है? अभिप्रेरणा को प्रभावित करने वाले घटकों का वर्णन कीजिए ।

What is motivation? Describe the factors factors affecting motivation

प्र.2 नियन्त्रण की प्रविधि को भली-भाँति समझाइए ।

Explain clearly the control process.

दीर्घउत्तर प्रश्न

प्र.1 प्रबन्ध में नियन्त्रण के महत्व का मूल्यांकन कीजिए तथा नियन्त्रण प्रक्रिया का वर्णन कीजिए ।

Assess the importance of control in management and describe the control process.

प्र.2 कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने में वित्तीय तथा अवित्तीय तकनीकों के महत्व का वर्णन कीजिए ।

Discuss the role of financial and non financial incentivies in motivating employees.

16.4 उपयोगी पुस्तकें एवं संदर्भ ग्रन्थ

1. B.S. Mathur : Principles of Management.
2. Satya Saran' Chatterjee': Introduction of Management.
3. Mritunjoy Banerjee : Business Administration
4. Richard, Hatman Tuwence P. Hogan and John Wholipan : Modern Business Administration
5. S. Sarlekar : Business Management.
6. Koontz O'Donnel: Essentials of Management.
7. J.P. Singhal: PRABANDH.
8. Dr. R.L. Naulakha: PRABANDH KE SIDDHANT.
9. C.B. Gupta: Principles of Management.

10. Upadhyaya and Sareen: PRABANDH.
11. Upadhyaya, Sharma, Bansal, Rathod: PRABANDH KE SIDDHANT.
12. Sudha, G.S.: PRABANDH: University Book House Pvt.Ltd. Jaipur.
13. M.J. Mathew: Mangement.

इकाई-17 : प्रबन्ध के क्रियाशील क्षेत्र (Functional areas of Management)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उत्पादन
17.1 विपणन
17.2 सेविवर्गीय
17.3 वित्त
17.4 सारांश
17.5 अभ्यासात्मक प्रश्न
17.6 उपयोगी पुस्तकें/संदर्भ ग्रन्थ

17.0 उत्पादन (Definition and Meaning of production)

प्रकृति अथवा मशीनों या मनुष्यों अथवा तीनों के ही सहयोग से किसी वस्तु या सेवा निर्माण करना या प्राप्त करना ही उत्पादन' है ।

कार्ल हेयल (Carl Heyel) के अनुसार 'उत्पादन कच्चे माल अथवा क्रय किये तत्वों या संघटकों को विक्रय के लिए तैयार माल में परिवर्तित करने की प्रक्रिया है" ।

उत्पादन प्रबन्ध (Production Management)

ब्रेच (Brech) के मतानुसार "उत्पादन प्रबन्ध किसी उपक्रम के उस भाग के परिचान के प्रभावशाली नियोजन एवं नियमन की प्रक्रिया है जो कच्चे माल को तैयार माल में परिवर्तित करने के लिए उत्तरदायी है ।

उत्पादन प्रबन्ध का क्षेत्र या कार्य (Scope or Functions of production Management)

1. **उत्पादन की परिकल्पना करना** (Designing a product) - उत्पादन प्रबन्ध का प्रथम कार्य उत्पाद की परिकल्पना करना है । तकनीकी अनुभाग उत्पादों की रूपरेखा तैयार करता है । उसका रेखाचित्र या मॉडल तैयार करता है उसके लिए विशिष्ट विवरण करता हैं तथा सूत्रों (Formula) का निर्धारण करता हैं इसके अतिरिक्त उत्पादन प्रक्रिया में ध्यान देने योग्य निर्देश भी तैयार करता है ।
2. **कारखाने का संगठन तैयार करना** (Establishing the Factory)- कारखाने के सम्पूर्ण कार्यों को विभिन्न उपकार्यों तथा उपविभागों में विभक्त करके प्रत्येक उपकार्य के लिए आवश्यक अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या निर्धारित कर दी जाती है तत्पश्चात् उन्हें उनके कार्य एवं अधिकार सौंप दिये जाते हैं तथा उनमें औपचारिक सम्बन्ध निर्धारित कर दिए जाते है । इससे उत्पादन के प्रत्येक कार्य एवं उपकार्य एवं उपविभाग का संचालन अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है ।
3. **उत्पादन के स्थान चुनाव** (Selection of Location) **-**उत्पादन का स्थान ऐसा होना चाहिए जहां पर यातायात, श्रम एवं कच्चे माल की लागत न्यूनतम हो ।इसके

अतिरिक्त स्थान का चुनाव करते समय भूमि एवं भवन की लागत, शक्ति के साधनों की लागत, सरकारी नीति इत्यादि को भी ध्यान में रखना चाहिए ।

4. **उत्पादन प्रणाली निर्धारित करना** (Formulation of production process) - उत्पादन की तीन प्रमुख प्रणालियां होतीं हैं- (1) जॉब उत्पादन (2) प्रक्रियात्मक उत्पादन प्रणाली (3) बैंच या आवर्तक उत्पादन प्रणाली । उत्पादन प्रबन्धक को अपनी संस्था के उत्पादों की प्रकृति तथा उत्पादन के पैमाने को ध्यान में रखकर उत्पादन प्रणाली का चुनाव करना चाहिए ।
5. **उत्पादन नियोजन करना** (Production Planning) **-**उत्पादन नियोजन करने के लिए उत्पादन प्रबन्ध को यह निर्धारित करना होता है कि कौन सी वस्तु कब, कहाँ, किस प्रकार, किन साधनों से, किनके द्वारा उत्पादित की जावेगी?
6. **उत्पादन यन्त्रों एवं उपकरणों का चुनाव** (Selection of production Machines and Equipments)- उत्पादन प्रबन्धक को ही अच्छे, प्रभावकारी, मितव्ययी मशीनों एवं उपकरणों का चुनाव करना होता है ।
7. **कर्मचारियों को प्राप्त करना तथा उनसे कार्य करवाना** (Hiring and dealing with personnel) - उत्पादन प्रबन्ध को अपने विभाग के लिए आवश्यक कर्मचारी भी प्राप्त करने होते हैं । इस हेतु वे अपनी संस्था के सेवीवर्गीय विभाग को लिख कर दे सकते हैं ।
8. **सयंत्र अभिन्यास करना तथा मशीनें स्थापित करना** (Preparing Plan, Layout and Establishing Machines) - उत्पादन विभाग अपने कारखाने में स्थापित किये जाने वाले संयन्त्र का अभिन्यास तैयार करवाने का कार्य भी करता है । फिर उसी अभिन्यास के अनुरूप ही मशीनों, उपकरणों आदि को स्थापित करता है । संयन्त्र अभिन्यास करते समय ही कार्यो के मार्ग को भी निर्धारित (Routing) कर दिया जाता है ।
9. **उत्पादन समय सारणी बनाना** (Scheduling)- उत्पादन प्रबन्ध का एक कार्य उत्पादन समय - सारणी या अनुसूचि बनाना भी होता हैं । इस समय सारणी में उत्पादन की मात्रा को समय एवं तिथि क्रम में दर्शाया जाता हैं जिससे यह ज्ञात हो जाता है किस दिन किस समय तक कितना उत्पादन किया जाना है । उत्पादन करते समय इस सारणी को ध्यान में रखकर ही माल की मांग तथा उत्पादन की मात्रा (Output) में समन्वय स्थापित किया जाता है ।
10. **सामग्री का संग्रहण तथा प्रवाह बनाये रखना** (Storing and moving Materials)- उत्पादन प्रक्रिया में कच्चा माल तथा अन्य आवश्यक सामग्री की आवश्यकता पडती है, अत: इसके यथा समय क्रय की व्यवस्था करना, उसका संग्रहण करना तथा आवश्यकतानुसार उत्पादन स्थल तक प्रवाह बनाये रखना भी उत्पादन की सफलता के लिए परमावश्यक हैं ।

11. **उत्पादन नियन्त्रण करना** (Controlling Production) -उत्पादन प्रबन्ध का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य हैं उत्पादन नियन्त्रण करना । नियन्त्रण करने के पूर्व निर्धारित प्रक्रिया में पूर्व निर्धारित प्रवाह एवं अनुसूची के अनुरूप उत्पादन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता हैं ।
12. **अनुसंधान एवं विकास** (Research and Development)- उत्पादों, उत्पादन प्रक्रिया, उत्पादन मशीनों एवं उपकरणों आदि में सुधार करने के लिए निरन्तर अनुसंधान की आवश्यकता होती है । अनुसंधान एवं विकास के बिना कोई भी संस्था आधुनिक युग में लम्बे समय तक कुशलतापूर्वक कार्य नही कर सकती है ।

उत्पादन कार्य या प्रबन्ध का महत्व (Importance of production Function or Management)

1. उत्पादन कार्य के द्वारा सेवाओं का उत्पादन किया जा सकता हैं, जिनकी समाज में आवश्यकता होती है ।
2. उत्पादन कार्य उन वस्तुओं एवं सेवाओं का सृजन करना हैं जिनमें रूप उपयोगिता होती है।"
3. जब फर्म का उत्पादन बढ़ता है तो इनके कारणों से वस्तुओं की मांग निरन्तर रूप से बढ़ती ही है । ऐसी दशा में उत्पादन प्रक्रिया को गति मिलती है ।
4. उत्पाद कार्य प्रोत्साहित करता है, परिणामस्वरूप नई-नई वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है ।
5. एक उत्पादन कार्य से निर्मित वस्तु के कारण अन्य सहायक वस्तुओं के उत्पादन कार्य को प्रोत्साहन मिलता है ।
6. उत्पादन कार्यों के परिणामस्वरूप ही रोजगार के अवसरों की उपलब्धि होती है।
7. वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन उच्च जीवन स्तर में योगदान देता हैं क्योंकि वे ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति करते है ।
8. उत्पादन कार्य देश के आर्थिक साधनों के सदुपयोग में महत्वपूर्ण रूप से सहायक होते है।
9. उत्पादन कार्यों के कारण ही आधुनिक समय में कुछ राष्ट्रों को विकसित तथा कुछ अन्य राष्ट्रों को विकासशील कहा जाता हैं ।

उत्पादन प्रणालियों के प्रकार (Types of production Systems)

1. **जॉब उत्पादन प्रणाली (Job or Unit Production System)-** इस प्रणाली के अन्तर्गत, उत्पादन किसी ग्राहक विशेष की आवश्यकता या उसके आदेश के अनुरूप वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है । ऐसी स्थिति में उत्पादन का पैमाना भी ग्राहक के आदेश के अनुरूप ही छोटा या बड़ा हो सकता है । जॉब उत्पादन कार्य की दशा वस्तुओं के प्रभाव सदैव समान नहीं बने रहते है । ये ग्राहक की आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं । परिणामस्वरूप, संस्था द्वारा उत्पादित वस्तुएं अप्रमाणित ही रहती है । व्यवहार में अनेक उत्पादन कार्य जॉब प्रणाली के आधार पर किये जाते हैं यथा दर्जी का सूट सिलाना ठेकेदार को किसी भवन निर्माण, फर्नीचर, आदि । जॉब

उत्पादन प्रणाली में प्राय: व्यक्तिगत श्रम की आवश्यकता अधिक होती है । मशीनों एवं उपकरणों का उपभोग सीमित होता है, फलतः उत्पादन की इस प्रणाली में पूंजी का महत्व कम होने लगता है ।

जॉब उत्पादन कार्य संस्थाओं एवं एकाकी व्यक्तियों दोनों से ही प्राप्त किये जा सकते हैं, किन्तु संस्थाओं से ऐसे कार्य प्राप्त करने के लिए प्राय: निविदा प्रणाली का उपयोग प्रचलित होता हैं । सरकारी कार्यों के जॉब कार्यो तथा पुलों, सड़कों, भवनों, फर्नीचर के निर्माण के लिए प्राय: टेण्डर आमन्त्रित किये जाते हैं । निर्माता को टेण्डर भरकर ही ये कार्य प्राप्त करने होते हैं । संक्षेप में, जीव उत्पादन प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएं कही जा सकती है ।

(1) इस प्रणाली में वस्तुओं का उत्पादन किसी ग्राहक विशेष की आवश्यकता या आदेश के अनुरूप ही होता है ।

(2) इस प्रणाली में वस्तुओं का प्रमाणीकरण नहीं होता है ।

(3) इस प्रणाली में वस्तुओं के उत्पादन में श्रमिकों की दक्षता का विशेष महत्व होता है ।

(4) इस उत्पादन प्रणाली में यन्त्रों का प्रयोग सीमित होता है ।

2. निरन्तर उत्पादन प्रणाली (Flow time or continuous production system)

(i) चीनी सीमेंट, इस्पात, कपड़ा आदि में क्रमबद्ध या निरन्तर उत्पादन प्रणाली का ही उपयोग किया जाता है । इस प्रणाली में उत्पादन की प्रक्रिया निरन्तर रूप से चलती रहती है ।

(ii) उत्पादन की मात्रा बहुत अधिक होती है ।

(iii) वस्तुएं प्रमाणित किस्म एवं आकार की होती है ।

(iv) इस उत्पादन प्रणाली से उत्पादन के लिए अनेक यन्त्रों एवं उपकरणों का उपयोग किया जाता है।

(v) स्वचालित यन्त्रों का उपयोग बहुतायत से किया जाता है ।

(vi) इस उत्पादन प्रणाली में एक छोर में सामग्री का प्रवाह किया जाता है तथा दूसरे छोर पर तैयार माल प्राप्त किया जा सकता है ।

(vii) इस उत्पादन प्रणाली के लिए भी प्रक्रित्यात्मक संयन्त्र अभिन्यास तैयार किया जाता है।

3. **समूह या आवर्तक उत्पादन प्रणाली (Batch or intermittent production system)-** इस उत्पादन प्रणाली में जॉब उत्पादन प्रणाली तथा क्रमबद्ध प्रणाली दोनों के लक्षण विद्यमान हैं । हार्डिग (Harding) ने इस प्रणाली को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "इस प्रणाली में छोटे या बड़े समूहों में वस्तुओं का कुछ समय अन्तराल के क्रमबद्ध रूप से उत्पादन किया जाता है । जिसमें सम्पूर्ण समूह पर प्रत्येक क्रिया पूरी हो जाने के बाद ही अगली क्रिया को प्रारम्भ किया जाता है । उदाहरण के लिए, दवाओं का उत्पादन बैच' या समूह में ही किया जाता है एक बैच तथा दूसरे 'बैच' के बीच कुछ दिनों का अन्तराल रख दिया जाता है, ताकि मांग एवं पूर्ति का सामंजस्य

स्थापित किया जा सके । दवाएं एक साथ निरन्तर बनाकर उनका स्टॉक भी नहीं किया जा सकता हैं, क्योंकि उनकी प्रभावशीलता की अवधि समाप्त होने का डर बना रहता है।

17.1 विपणन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Marketing) -

विपणन की परिभाषा समय, काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप बदलती रही है और भविष्य में भी बदलती रहेगी । जब तक किसी भी देश में 'विक्रेता का बाजार' (Seller's market) रहता है तब तक विपणन की परिभाषा एक विशेष अन्दाज में की जाती है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि ज्यों-ज्यों देश में 'बाजार क्रेता का (Buyer's market) होने लगता है त्यों-त्यों उस परिभाषा का आधार भी परिवर्तित होने लगता है ।

(Characteristics of Marketing)

(i) विपणन एक मानवीय क्रिया है ।

(ii) विपणन एक सामाजिक आर्थिक क्रिया है ।

(iii) विपणन में विद्यमान एवं भावी ग्राहकों की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को ज्ञात किया जाता है । इस हेतु व्यवसायी को विपणन अनुसंधान (Market Research) करना होता है ।

(iv) विपणन में वस्तु नियोजन (Product Planning) के द्वारा ग्राहकों की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप वस्तुओं का रंग-रूप, आकार, किस्म, ब्रांड नाम आदि निर्धारित किया जाता है ।

(v) ग्राहकों की भुगतान करने की क्षमता को ध्यान में रखकर उचित मूल्य निर्धारित करना भी विपणन में सम्मिलित है ।

(vi) विपणन में वस्तुओं के प्रचार प्रसार की क्रियाएं भी सम्मिलित हैं ।

(vii) विपणन के द्वारा माल के स्वामित्व का हस्तान्तरण किया जाता है, अत: आवश्यक एवं रूचि वाली वस्तुओं का विक्रय भी किया जाता है ।

(viii) माल को यथा समय उपलब्ध करने के लिए माल को संग्रह करके रखना तथा उनके बीमे आदि की व्यवस्था करना भी विपणन के क्षेत्र में आता है ।

(ix) विपणन क्रिया में माल को यथा स्थान पहुँचाना (Physical distribution) भी सम्मिलित है ।

(x) विपणन की यह प्रक्रिया माल के विक्रय के बाद भी जारी रहती है और ग्राहकों को विक्रय के बाद सेवा (After-sale service) भी उपलब्ध करनी होती है ।

(xi) विपणन कार्य कला एवं विज्ञान का सम्मिश्रण है ।

विपणन की विचारधारा

उत्पादन प्रधान विपणन विचारधारा- यह विचारधारा उस समय प्रचलित रहती है जबकि वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन अत्यन्त सीमित होता है । व्यवसायियों की समस्या माल का उत्पादन बढ़ाने की ही होती है न कि माल का विक्रय करने की । माल के विक्रय के लिए किसी प्रकार के विशेष प्रयास भी नहीं करने होते है । इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप, विपणन कोई विशिष्ट कार्य नहीं रह जाता है ।

विक्रय-प्रधान विपणन विचारधारा- अर्थव्यवस्था में वस्तुओं की कमी के स्थान पर वस्तुओं का बाहुल्य होने लगा हैं । माल का उत्पादन कोई समस्या नहीं रही बल्कि माल का विक्रय करना एक समस्या बनाने लगी । व्यवसायी माल की माँग उत्पन्न करने के लिये प्रयास करने लगे । माल की मांग उत्पन्न करने के लिए विज्ञापन, विक्रय संवर्धन विक्रयकर्ता आदि का अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा हैं । मध्यस्थों का महत्व भी बढ़ने लगा और माल के विक्रय में उनकी रूचि बढ़ाने की ओर ध्यान दिया जाने लगा है । विपणन अनुसंधान का श्री गणेश हुआ, यद्यपि इसका क्षेत्र वस्तुओं की मांग उत्पन्न करने वाले कारणों को ज्ञात करने तथा वस्तुओं के बाजारों का पता लगाने तक ही सीमित रहा ।

ग्राहक-प्रधान विपणन विचारधारा-यह विचारधारा यह कहती है कि विपणन कार्य उत्पादन से पूर्व प्रारम्भ होना चाहिये । उत्पादक को माल के उत्पादन से पूर्व ही ग्राहक की इच्छा, आवश्यकता, रूचि आदि का अध्ययन करना चाहिये । तत्पश्चात्, इसकी इच्छा आवश्यकता एवं रूचि के अनुरूप वस्तुओं का नियोजन अर्थात रंग, रूप, डिजाइन आकार, प्रकार, किस्म, पैकेजिंग आदि का निर्धारण करना चाहिये । ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुचित विज्ञापन तथा विक्रय संवर्धन तथा मध्यस्थों की व्यवस्था की जानी चाहिये । उचित मूल्य प्रणाली द्वारा ग्राहकों को उचित मूल्य पर वस्तुएं उपलब्ध करने के लिए प्रयास किये जाने चाहिये ।इन सभी क्रियाओं के द्वारा ग्राहकों को उपयुक्त वस्तु यथा समय, यथा स्थान व उचित मूल्य पर उपलब्ध की जानी चाहिये ताकि उन्हें संतुष्टि मिल सके तथा व्यवसायी अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर सके ।

विपणन प्रबन्ध का महत्व-

व्यवसायियों के लिए विपणन कार्य का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था के बिना कोई भी संस्था आधुनिक समय में विकसित नहीं हो सकती है । वर्तमान समय में प्रतिस्प्रर्द्धात्मक व्यवस्था करनी पड़ती है । प्रभावशाली विपणन व्यवस्था में ग्राहकों को आधार बिन्दु मानकर उनकी आवश्यकता एवं रूचि के अनुरूप वस्तुओं का निर्माण किया जाता है, अत: माल का आसानी से विक्रय हो जाता है । अधिक विक्रय के परिणामस्वरूप ही अधिक उत्पादन की आवश्यकता पड़ती है, फलतः संस्था अपेक्षाकृत उत्पादन कर पाती है व दीर्घस्तरीय उत्पादन के लक्ष्यों को प्राप्त कर लेती है । प्रभावकारी विपणन के परिणामस्वरूप जब दीर्घकालीन उत्पादन होने लगता हैं तो अन्ततोगत्वा प्रति इकाई लागत में कमी आती है ।

प्रभावकारी विपणन के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सफलता प्राप्त करना असम्भव ही है ।

उपभोक्ताओं के लिए महत्व या लाभ- प्रभावकारी विपणन व्यवस्था ग्राहकों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को ही अपना प्रथम लक्ष्य मानती है । ऐसी विपणन व्यवस्था में ग्राहकों की आवश्यकताओं, रूचियों, इच्छाओं आदि का महत्वपूर्ण स्थान होता है । प्रभावकारी विपणन

व्यवस्था सुदृढ़ संचार व्यवस्था पर आधारित होती है । अत: ग्राहकों को बाजार सम्बन्धी सूचनाएं प्राप्त होतीं रहतीं हैं । विपणन की विविध क्रियाओं ने ग्राहकों के ज्ञान में वृद्धि की है । आज विज्ञापन एवं विक्रयकर्ताओं के माध्यम से सामान्य ग्राहक भी वस्तुओं के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की जानकारी प्राप्त कर पा रहा है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था ग्राहकों को धन करें सदुपयोग में भी सहायता पहुँचाती है । वह विज्ञापनों द्वारा दी गई सूचनाओं के आधार पर घर बैठाकर आसानी से वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन कर सकता है, फलतः उसके मूल्य का सदुपयोग होता है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था ने लोगों को अनेक उपयोगी एवं आरामदायी वस्तुएं उपलब्ध कीं हैं । इससे लोगों के जीवन स्तर में सुधार हो रहा है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था के कारण ही आज ग्राहकों को यथा समय सभी वस्तुएं उपलब्ध हो रही है ।

समाज के लिए महत्व या लाभ : विपणन कार्य से ही रोजगार में वृद्धि हुई है । आज प्रत्येक देश में बहुत बड़ी संख्या में लोग थोक व्यापार, फुट कर व्यापार, विज्ञापन, विक्रय-कला, विक्रय संवर्धन, बाजार अनुसंधान आदि -आदि काठों में लगे हुए हैं । इन सबसे समाज में रोजगार के साधन उपलब्ध हो रहे है समाज को वस्तुएं भी अपेक्षाकृत कम- मूल्य पर उपलब्ध होती हैं, फलतः समाज के सदस्य लाभान्वित होते हैं । विपणन की नवीन विचारधारा ग्राहकों को अपनी सनी क्रियाओं को केन्द्र बिन्दु समझने लगता है और उसकी सन्तुष्टि में ही वह लाभ कमाने की सोचने लगता है ।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए महत्व या लाभ: प्रभावकारी विपणन व्यवस्था माल की मांग एवं पूर्ति में संतुलन स्थापित करती है । इसके परिणामस्वरूप ही अर्थव्यवस्था में व्यापार-चक्र नियमित रहता है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करती है । माल की मांग बढ़ने के परिणामस्वरूप ही अर्थव्यवस्था में व्यापार-चक्र नियमित रहता है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करती है । माल की मांग बढ़ने के परिणामस्वरूप ही ऐसा होता है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था से माल के उत्पादन विक्रय तथा आय सभी में ही वृद्धि होती है, अत: सरकार की प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों में आय में वृद्धि होती है । प्रभावकारी विपणन व्यवस्था से कृषि एवं सहायक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है ।

बाजार विश्लेषण कार्य (The Market analysis function) - बाजार विश्लेषण करके विपणन प्रबन्धक अपने भावी बाजार के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त करता हैं । ग्राहकों की आवश्यकता, इच्छा, रूचि आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । बाजार में वस्तु की मांग एवं पूर्ति का अध्ययन भी बाजार विश्लेषण के द्वारा ही सम्भव हैं । उसके भावी ग्राहक कौन-कौन हो सकते है? प्रतिस्प्रर्द्धात्मक स्थिति का अध्ययन करने, बाजार वातावरण का अध्ययन करने, ग्राहकों की क्रय शक्ति, आय, क्रय, उद्देश्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए भी बाजार विश्लेषण करना परमावश्यक है ।

विपणन संचार कार्य (Marketing information function): प्रत्येक प्रबन्धक को अपनी संस्था में कुशल विपणन व्यवस्था करनी होती है । विपणन संचार के लिए विज्ञापन विक्रय संवर्धन, विक्रय कला, प्रचार, अनुसंधान, सुझाव आदि महत्वपूर्ण साधन है । इन साधनों में द्विमार्गीय संचार की व्यवस्था की जा सकती है ।

बाजार वर्गीकरण विभक्तिकरण कार्य (Market Segmentation function) : प्रत्येक संस्था को संपूर्ण बाजार में से कुछ विशेष प्रकार के ग्राहकों का ही चुनाव करना चाहिएं तथा उन्हीं ग्राहकों को संतुष्ट करने का प्रयास करना चाहिए । इससे संस्था की सफलता में कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है । इस प्रकार संपूर्ण बाजार में ग्राहकों का पता लगाकर उनकी समान प्रकार की विशेषताओं, आवश्यकताओं, इच्छाओं, रूचियों के अनुसार समूहों या उप बाजारों (Groups or Sub- Markets) के अनुसार वर्गीकरण करना ही बाजार वर्गीकरण है ।

मूल्याकंन कार्य (The Valuation Function) - विपणन में होने वाले विनियमों या क्रय विक्रय का लाभ लागत विश्लेषण (Cost benefit analysis) करना ही मूल्यांकन है । इसी विश्लेषण के आधार पर वस्तुओं के उचित मूल्यों को निर्धारण किया जाता है ।

विनिमय कार्य (The Exchange Function) - विपणन का अन्तिम लक्ष्य माल के विनिमय अर्थात् क्रय-विक्रय किन्तु विनिमय कार्य में क्रय-विक्रय ही सम्मिलित नहीं है । इस कार्य में वित्त व्यवस्था करना, माल का संग्रहण करना, माल के परिवहन की व्यवस्था करना, माल या मशीनों की स्थापना करना तथा उनके लिए आवश्यक सेवायें उपलब्ध करना भी सम्मिलित है ।

17.2 सेविवर्गीय प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा (Definition and Meaning of personnel Management)

सेविवर्गीय प्रबन्धक संगठन के मानवीय सम्बन्धों का प्रबन्धन करता है । यह सम्पूर्ण प्रबन्ध का वह भाग है जो संस्था के मानवीय सम्बन्धों का प्रबन्ध करता है । इस शब्द का समुचित अर्थ समझने के लिए हम कुछ परिभाषाओं का अध्ययन करते है ।

ब्रिटिश इन्स्टीटयूट आफ पर्सोनेल मेनेजमेंट (British Institute of personnel Management) के अनुसार, 'सेविवर्गीय प्रबन्ध संगठन के आंतरिक मानवीय सम्बन्धों से सम्बन्धित है । इसका उद्देश्य व्यक्तिगत कल्याण से उन सम्बन्धों को इस आधार पर बनाये रखना हैं जिससे उपक्रम में लगें हुए सभी व्यक्ति उस उपक्रम को प्रभावशाली ढंग से कार्यशील बनाये रखने के लिए अपना अधिकतम योगदान कर सकें ।''

लक्षण (Characteristics):

सेविवर्गीय प्रबन्ध के निम्न प्रमुख लक्षण स्पष्ट होते हैं-

1. सेविवर्गीय प्रबन्ध एक विभागीय उत्तरदायित्व है ।
2. सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्धक कार्य का एक भाग है ।
3. यह उच्च प्रबन्धकों को सुझाव देता है ।
4. सेविवर्गीय प्रबन्धक व्यक्तियों के प्रबन्ध से सम्बन्धित है ।
5. इसका उद्देश्य संगठन के सभी स्तरों पर व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनको बनाये रखना है ।
6. यह व्यक्तिगत एवं सामूहिक कल्याण करने में सहायक है ।
7. यह मानवीय साधनों के कुशलता प्रयोग करने में महना योगदान देता है ।
8. यह कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं विकास पर पूरा ध्यान देता है ।

9. यह संस्था को कुशल कर्मचारी प्रदान करता है ।
10. सेविवर्गीय प्रबन्ध एक विधि तथा दृष्टिकोण है ।
11. सेविवर्गीय प्रबन्ध कुछ निश्चित सिद्धान्तों एवं व्यवहारों का पालन करता है ।
12. सेविवर्गीय प्रबन्ध कर्मचारियों से सम्बन्धित सभी बातों के लिए उत्तरदायी होता
13. यह कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढ़ाने में सहायता प्रदान करता है ।
14. यह अच्छी सामुदायिक प्रवृत्तियों की स्थापना में सहयोग देता है ।

सेविवर्गीय प्रबन्ध के उद्देश्य Objectives of personnel Management:

1. उचित योग्यता वाले व्यक्तियों का चुनाव करना जो संस्था का सफलतापूर्वक निष्पादन कर सकें ।
2. नये कर्मचारियों को संगठित करना और उनको कार्यो को आसान करवाना ।
3. न्यायपूर्ण, पर्याप्त एवं आकर्षक मजदूरी एवं वेतन पद्धतियों की व्यवस्था करना
4. श्रमिकों की उत्पादन की क्षमता में वृद्धि करने हेतु प्रेरणात्मक योजनाएं लाग करना ।
5. समय-समय पर कर्मचारियों की योग्यता, दक्षता तथा उत्पादकता का मूल्यांकन करना ।
6. कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण को एक अच्छी एवं सुसंगठित योजना का निर्माण करना ।
7. कर्मचारियों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी रखना तथा मानव व्यवहार पर अनुसंधान करना ।
8. श्रमिकों की शिक्षा, दक्षता एवं ज्ञान का विकास करना और उनकी कार्य में रूचि उत्पन्न करना ।
9. स्वास्थ्य एवं सुरक्षा कार्यक्रमों, चिकित्सा सुविधाओं, सामाजिक सुरक्षा एवं श्रम कल्याण की क्रियाओं को करना ।
10. कर्मचारियों को रोजगार से हटाते समय श्रमिकों को न्यायोचित क्षतिपूर्ति दिलाना ।
11. कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों में पारस्परिक विश्वासयुक्त एवं सम्मानजनक सम्बन्ध स्थापित करना एवं उनकों बनाये रखना ।

सेविवर्गीय प्रबन्ध की आवश्यकता एवं महत्व (Need and Importance of personnel Management)

सेविवर्गीय प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्व संस्था के कुशल संचालन में है । अमेरिका के National Industrial Conference Board के अध्यक्ष एच0 **ब्रुस पामर** (H.Bruce Palmer) ने अमेरिका की संस्थाओं में इसके बढते हुए महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अमेरिका के प्रबन्धक यह मानते हुए अधिकाधिक रूप से अपने कर्मचारियों की समस्याओं पर ध्यान दे रहे है कि ऐसी दुनिया में जहां तीव्र गति से वस्तुएं एवं बाजार परिवर्तित हो रहे हैं, वहाँ पर कर्मचारियों की क्षमताएँ एवं उनके वायदे अधिक दृढ़ हो सकते हैं ।

- **मानवीय साधनों का सदुपयोग** (Proper use of Human Resources): चाल्स 'मेयर (Charles Meyers) के अनुसार "जो उद्योग अपने मानवीय तत्वों की आवश्यकताओं एवं भावनाओं की उपेक्षा करते है वे यन्त्र समूह के अतिरिक्त कुछ भी नही हैं, उन्हें औद्योगिक संगठन कदापि नही कहा जा सकता ।"

- **सही व्यक्तियों की सही स्थान पर नियुक्ति -** सेविवर्गीय प्रबन्ध सही व्यक्तियों को सही कार्य पर लगाने का महत्वपूर्ण कार्य करता है ।
- **कर्मचारियो का कुशल प्रशिक्षण एवं विकास :** कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने एवं उनका विकास करने में सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्वपूर्ण स्थान है । सेविवर्गीय प्रबन्ध कर्मचारियों के प्रशिक्षण की इस प्रकार व्यवस्था करते हैं कि कर्मचारी अपने कार्य को कुशलतापूर्वक आधुनिक यन्त्रों की मदद से पूरा कर सके तथा आधुनिक व्यावसायिक तकनीकों से कार्य कर सकें ।
- सेविवर्गीय प्रबन्ध अच्छे **श्रम सम्बन्धों के निर्माण में महान योगदान** देता है ।
- सेविवर्गीय प्रबन्ध **श्रमिकों को उत्प्रेरित** करता हैं । इस हेतु सेविवर्गीय प्रबन्ध कार्य समूहों का निर्माण करता है ।
- सेविवर्गीय **प्रबन्ध कर्मचारियों की पदोन्नति** में वैज्ञानिक विधि अपनाता है और कर्मचारियों में किसी भी प्रकार की गलत भावनाओं का विकास नहीं होने देता है ।
- **उत्पादन लागत में कमी** (Reduces Cost of Production) **जे0आर0डी0 टाटा** ने उचित ही कहा है कि "मानवीय सम्बन्धों पर समुचित ध्यान देकर किसी भी औद्योगिक इकाई की उत्पादन क्षमता को बढ़ाया जा सकता है ।"
- देश में **औद्योगिक शान्ति की स्थापना** करने में भी सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्वपूर्ण योगदान होता है ।
- **देश की समृद्धि** (Prosperity of the Nation)- यदि देश में औद्योगिक शान्ति नही है, कर्मचारी एवं श्रमिक उत्पादन नहीं करते हैं तो देश उन्नति नही कर सकता हैं तथा देश में समृद्धि नही आ सकती है ।

सेविवर्गीय विभाग के कार्य (Functions of personnel Department)

- **नियोजन (Employment) :** इस कार्य में कर्मचारियों की भर्ती, चुनाव तथा उनकी नियुक्ति के कार्यो को सम्मिलित किया जाता है ।
- **प्रशिक्षण एवं विकास (Training and Development) :** यह विभाग प्रबन्धकों की सहायता से यह निश्चित करता है कि कर्मचारियों को किस प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता है तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार प्रशिक्षण के विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रशिक्षण की व्यवस्था करना इस विभाग का कार्य है ।
- **मजदूरी एवं वेतन प्रशासन (Wage and Salary Administration) :** सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग कार्य मूल्यांकन करके मजदूरी एवं वेतन निश्चित करने में प्रबन्धकों की सहायता करता है ।
- **स्वास्थ्य एवं सुरक्षा (Health and 'Safety):** कर्मचारियों 'के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए यह विभाग अनेकों कार्य करता है । यह विभाग कर्मचारियों की नियुक्ति के पूर्व से लेकर अन्त तक उनकी सेवा करता है ।
- **अनुशासन एवं हटाना (Discipline and Discharge) :** अनुशासन का अर्थ सामान्यत: दो रूपों में लगाया जा सकता है । प्रथम, संस्था के कर्मचारियों के व्यवहार

को वांछित बनाना तथा उनके लिए निश्चित आचार संहिता का निर्माण करना । अनुशासन का दूसरा अर्थ गलत कार्य करने वालो को दण्ड देना है ।

- **श्रम सम्बन्ध (Labour Relations) :** श्रम सम्बन्धों सम्बन्धी कार्य भी इस विभाग को करने पडते हैं । इन कार्यों में हम सामूहिक सौदेबाजी द्वारा मजदूरी निर्धारण, कार्य के घण्टों का निर्धारण आदि के सम्बन्ध के अनुबन्ध करने को सम्मिलित कर सकते है।
- **लाभ एवं सेवाएं (Benefits and Services) :** यह विभाग कर्मचारियों के हितों के लिए विभिन्न लाभ योजनायें लागू करने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य करती है ।
- **अभिलेख रखना (Record-Keeping) :** यह विभाग कर्मचारियों से सम्बन्धित विभिन्न सूचनाओं को सुरक्षित रखता है । कर्मचारियों की नियुक्ति उनकी योग्यताएं, अनुभव, नियुक्ति की विधि, उनके स्थानान्तरण का विवरण, वेतन वृद्धि का समय, संस्था में किये गये प्रशंसनीय विभिन्न मामलों से सम्बन्धित सूचनाएं यह विभाग एकत्रित करता है ।

17.3 वित्तीय कार्य का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Finance Function)

वित्तीय कार्य का क्षेत्र समय एवं परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ बदलता रहा है । इस शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर आज तक इस कार्य की परिभाषा या विचारधारा में पर्याप्त अन्तर हो गया है ।

वित्त की इस परम्परागत विचारधारा या परिभाषा में वित्त की प्राप्ति को ही महत्वपूर्ण समझा गया । उसका प्रभावकारी उपयोग करना वित्त का कार्य नहीं समझा गया इसके अतिरिक्त, इस कार्य में दीर्घकालीन वित्त को ही महत्व दिया गया । कार्यशील पूंजी के प्रबन्ध पर ध्यान नहीं दिया गया है । इतना ही नहीं, परम्परागत परिभाषाओं में उन कोषों के प्रबन्ध की ओर भी कोई ध्यान दिया गया है जो संस्था के अन्तर्गत ही उपलब्ध होते है।

आधुनिक विचारधारा (The Modern Approach) - इस वित्तीय कार्य में कोषों को प्राप्त करने के साथ-साथ कोषों के उपयोग' (Allocation or utilization of funds) को भी महत्व दिया जाने लगा ।

गुथमेन तथा डागल (Guthaman and dougall) ने लिखा है कि, "वित्तीय कार्य व्यवसाय में उपयोग किये जाने वाले कोषों का नियोजन करने, प्राप्त करने, नियन्त्रण करने तथा उनका प्रशासन करने से सम्बन्धित क्रियाएं सम्मिलित हैं । आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्तीय कार्य व्यावसायिक प्रबन्ध का एक आधारभूत कार्य हैं जिसका सम्बन्ध व्यवसाय के आंतरिक संचालन से है । इस कार्य के अन्तर्गत कोषों के अनुकूलतम उपयोग का निर्णय लेने, दीर्घकालीन पूंजी नियोजन करने, कोषों के वैकल्पिक स्त्रोतों का मूल्यांकन करने, कार्यशील पूंजी का प्रबन्ध करने, पूंजी लागत को निर्धारित करने, कोषों का सफलतम उपयोग के लिए वित्तीय नियन्त्रण करने आदि से सम्बन्धित अनेक कार्य किये जाते है ।

वित्तीय कार्य या प्रबन्ध का महत्व सभी कार्यों में होता है, किन्तु व्यावसायिक संगठनों के कुशल संचालन में इसका महत्व अधिक सर्वाधिक है । प्रभावकारी वित्तीय प्रबन्ध के द्वारा फर्म की वित्तीय लागतों को ही न्यूनतम नहीं बनाये रखा जाता है बल्कि कोषों का अधिकतम कुशलता के साथ उपयोग भी किया जा सकता है ।

उत्पादन-प्रबन्ध. विपणन प्रबन्ध. सेविवर्गीय प्रबन्ध आदि सभी की सफलता में वित्तीय प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्व है ।

कोषों की आवश्यकता के निर्धारण में योगदान (Contributes in estimation requirements of funds) - संस्था की वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण कर लेने से संस्था में न तो न्यून-पूंजीकरण (Under Capitalisation) की समस्या ही सामने आती है और न अधिक-पूंजीकरण (Over-Capitalisation) की समस्या ही उठती है । वित्त का सदुपयोग किया जा सकता है । वित्तीय प्रबन्ध संस्था की अल्पकालीन तथा दीर्घ कालीन सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कोषों की आवश्यकता का निर्धारण करता है, अत: विस्तार, विकास, आधुनिकीकरण, संयोजन आदि के लिए कोषों की आवश्यकताओं का भली प्रकार निर्धारण किया जा सकता है ।

पूंजी संरचना के निर्धारण में सहायक (Helps in determining capital structure):- पूंजी-संरचना से तात्पर्य पूंजी के विभिन्न स्त्रोतों तथा प्रतिभूतियों के अनुपात का निर्धारित करना है । प्रभावकारी वित्तीय प्रबन्ध विभिन्न पूंजी स्त्रोतों. यथा समता, पूर्वाधिकार अंश, ऋणपत्र, ऋण सार्वजनिक जमाएं आदि के अनुपात को समुचित रूप से निर्धारित करता है ।

कोष-स्त्रोत का निर्धारण (Determining of sources of Funds) वित्तीय प्रबन्ध का महत्व कोषों के स्त्रोतों का निर्धारण करने में भी है एक कम्पनी अंश, ऋण पत्रों, ऋणों, सार्वजनिक जमाओं के द्वारा कोष एकत्रित कर सकती है, किन्तु वित्तीय प्रबन्ध इस बात का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है कि किस समय किस स्त्रोत से धन प्राप्त करना सर्वाधिक लाभदायी होगा ।

कोषों का विनियोग या आवंटन (Utilising or Allocating funds) - वित्तीय प्रबन्ध का महत्व कोषों को प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह कोषों के विनियोग या आवंटन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । वित्तीय प्रबन्ध पूंजी बजटिंग, अवसर लागत विश्लेषण आदि विभिन्न वित्तीय तकनीकों के माध्यम से कोषों के आवंटन तथा विनियोग का निर्णय लेने में सहायता करता है ।

कोषों का नियन्त्रण करना (Controlling Funds) - वित्तीय प्रबन्ध विनियोगों पर आय (Return on investment) की गणना तथा नियन्त्रण, बजट लागत नियन्त्रण, आन्तरिक अंकेक्षण, आदि की व्यवस्था करके नियन्त्रण स्थापित किया जाता है । नियन्त्रण करने से कोषों पर प्रमाणित आय निरन्तर रूप से प्राप्त होती रहती है तथा उनके (कोषों के) अधिक अच्छे उपयोग पर ध्यान तरलता बनाये रखी जा सकती है ।

सम्पत्तियों के प्रबन्ध में योगदान (Contributes to the Management of assets) - प्रभावकारी वित्तीय प्रबन्ध के द्वारा सम्पत्तियों का सर्वोत्तम ढंग से प्रबन्ध किया जा सकता

है। सम्पत्तियों का अधिक कुशलता के साथ आयोग करने, अपव्यय को रोकने तथा उनकी संचालन लागत का नियन्त्रण करने में महत्वपूर्ण रूप से योगदान करता है ।

लागत नियन्त्रण करना (Controlling cost) - प्रभावकारी वित्तीय प्रबन्ध संस्था के प्रमाण निर्धारित करता है तथा उन्हें प्रमापों के भीतर बनाये रखने का प्रयास करता है ।

मूल्य निर्धारण में योगदान (Contribution in determining the price) - कुशल वित्तीय प्रबन्ध वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में महत्वपूर्ण रूप से योगदान करता है । यहाँ उच्च प्रबन्धकों तथा विपणन विभाग (Break-even point) निर्धारित करके मूल्यों के न्यूनतम स्तर को स्पष्ट करता है ।

लाभों का पूर्वानुमान लगाने में योगदान (Contribution in forecasting of profits) - कुशल वित्तीय प्रबन्ध के द्वारा लागत विश्लेषण, मूल्य निर्धारण, फर्म के विक्रय अनुमान आदि के माध्यम से लाभों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है । इसी से संस्था के भावी विकास, विस्तार तथा आधुनिकीकरण की योजनायें भी बनाना सम्भव होता है।

अन्य विभागों से समन्वय में सहायक (Help in coordination with other departments) - प्रत्येक विभाग की क्रियाएं इस कार्य से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है । कुशल वित्तीय प्रबन्ध सभी विभागों की वित्तीय आवश्यकताओं एवं सीमाओं को ध्यान में रखता हैं तथा उनकी लागतों का विश्लेषण करता है तत्पश्चात् उन सभी विभागों की वित्तीय आवश्यकताओं का समन्वय करता है तथा कोषों का आवंटन करता है ।

वित्तीय प्रबन्ध या नियन्त्रक की भूमिका

- सम्पूर्ण संस्था की नीतियों के निर्धारण में भाग लेना ।
- वित्त विभाग के कार्यों का निर्देशन एवं नियन्त्रण करना ।
- संस्था के वित्तीय स्त्रोतों का अध्ययन -करना ।
- संस्था में वित्तीय नियोजन करना तथा उच्च प्रबन्धकों में अनुमोदन करवाना एवं उसे क्रियान्वित करना ।
- उच्च प्रबन्धकों का वित्तीय स्त्रोतों के चुनाव में सहयोग प्रदान करना ।
- संस्था की पूंजी संरचना के निर्धारण में उच्च प्रबन्धकों या संचालक मण्डल को सलाह देना ।
- विभिन्न विभागों के वित्तीय बजट तैयार करवाना तथा उनका वित्तीय नियन्त्रण करना।
- संस्था की कार्य प्रणाली एवं कार्य निष्पादन का मूल्यांकन करना ।
- संस्था की प्रगति की सामयिक रिपोर्ट उच्च प्रबन्धकों या संचालक मंडल के समक्ष प्रस्तुत करना।
- निश्चित अनुपात में पूंजी की तरलता को बनाये रखने का प्रयास करना ।
- आवंटन एवं विनियोग करने संबन्धी प्रस्ताव तैयार करना तथा उच्च प्रबन्धकों के समक्ष प्रस्तुत करना ।
- संस्था के कर दायित्वों का अनुमान लगाना तथा अग्रिम कर भुगतान करना ।
- संस्था की विभिन्न कर विवरणियां तैयार करना तथा समय पर उचित प्राधिकारी के समक्ष प्रस्तुत करना ।

- संस्था में आन्तरिक अंकेक्षण की व्यवस्था करना ।
- विविध अधिनियमों के अन्र्तगत प्रस्तुत की जाने वाली सूचनाएँ तथा रिपोर्ट उचित प्राधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत करना ।
- संस्था की लाभांश, नीति, विनियोग नीति आदि के निर्धारित. करने में उच्च प्रबन्धकों को सहायता करना ।

17.4 सारांश (Summary)

प्रबन्ध के चार कार्यशील क्षेत्र है उत्पादन प्रबन्ध, विपणन प्रबन्ध, सेविवर्गीय प्रबन्ध, वित्तीय प्रबन्ध आदि परन्तु सभी की सफलता में वित्तीय प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्व है । दिल व्यवसाय का 'जीवन रक्त' है । इसका संस्था के प्रत्येक अंग में नियमित एवं नियन्त्रित प्रवाह बनाये रखना अनिवार्य है । वित्त रूपी जीवन रक्त के बिना व्यवसाय के किसी भी कार्य का चाहे वह उत्पादन का कार्य हो या विपणन का संचालन करना कठिन ही नहीं, असम्भव भी होगा । व्यवसाय को जीवित रखने के लिए ही नहीं व्यवसाय के निरन्तर विकास एवं विस्तार के लिए भी वित्त एक आवश्यक तत्व है ।

17.5 अभ्यासात्मक प्रश्न

अतिलघुत्तर प्रश्न

प्र.1 सेविवर्गीय प्रबन्ध से आप क्या समझते है?

What do your mean by personnel managemet"?

प्र.2 आधुनिक विपणन विचार के अर्थ तथा महत्व पर प्रकाश डालिये ।

Throw Light on the meaning and importance of moderm marketing concept.

लघु उत्तर प्रश्न

प्र.1 उत्पादन प्रबन्ध' की परिभाषा दीजिये । उत्पादन प्रबन्ध के कार्यों को स्पष्ट रूप से समझाइये

Define"Production Management" clearly explain the functions of production management.

प्र.2 वित्त कार्य से आप क्या समझते है? इसके बारे में विभिन्न विचारधाराओं का वर्णन कीजिए ।

What do you mean dy'Finance'Function? Explain the different approaches to finance function.

दीर्घउत्तर प्रश्न

प्र.1 उत्पादन से आप क्या समझते है? विभिन्न उत्पादन प्रणालियों को समझाइये?

What do you mean by production? Explain the different production system'.

प्र.2 विपणन विचार का क्या आशय है? विपणन के 'उत्पादन अभिमुखी विचार एवं बाजार अभिमुखी विचार का अन्तर स्पष्ट कीजिये ।

What is meant by marketing concept? Explain the difference between the productions oriented concept and market oriented concept of marketing.

17.6 उपयोगी संदर्भ पुस्तकें

1. B.S. Mathur: principles of Management.
2. Satya “Saran ‘Chatterjee’: Introduction of Management.
3. Mrtunjoy Banerjee: Business Administration.
4. Richard, Hatman Tuwence p. Hogan and John Wholipan: Modern Business Administration.
5. S. Sarlekar: Business Management.
6. Koontz O’Deeanle: Essentials of Management.
7. J.P. Singhal: PRABANDH.
8. Dr. R.L. Naularkha: PRABANDH KE SIDDHANT.
9. C.B.Gupta: principles of Management.
10. Upadhaya and Sareen: PRAHANDH.
11. Upadhyaya, Sharma, Bansal, Rathod, PRAHANDH KE SIDDHANT.
12. Sudha, G.S.: PRABANDH: University Book House Pvt.Ltd. Jaipur.
13. M.J. Mathew: Management.

इकाई-18 प्रबन्ध में उभरती चुनौतियाँ (Emerging issues in management)

इकाई की रूपरेखा

18.0 प्रस्तावना
18.1 नये आयामों/ चुनौतियों के उभरने का कारण
18.2 जान नैसबिद्ध की महाप्रवृत्तियाँ
18.3 प्रबन्ध की उभरती चुनौतियाँ / कार्य
18.4 सारांश
18.5 अभ्यासात्मक प्रश्न
18.6 उपयोगी पुस्तके/ संदर्भ ग्रन्थ

18.0 प्रस्तावना

"It is useless to tell a river to stop running, the best thing is to learn is to learn how to swim in the direction it is flowing." **Annorymous.**

प्रबन्धकों की दुनिया में केवल एक ही बात स्थायी एवं निरन्तर है- वह है परिवर्तन। परिवर्तन प्रकृति का नियम है परिवर्तन खुद भी परिवर्तनशील है जो सदैव परिवर्तित होता रहता है।

बाहरी वातावरण की शक्तियाँ उसे उन परिवर्तनों का प्रत्युत्तर देने के लिए बाध्य भी करती है । इन्ही कारणों से प्रबन्ध में नये आयाम/ क्षितिज भी उभरते रहते हैं ।

18.1 नये आयामों / चुनौतियों के उभरने का कारण (Factor/ Causes for Emergence of New Issues)

प्रबन्ध के नये आयामों/ चुनौतियों के उभरने के अनेक कारण है । उनमें से कुछ प्रमुख कारण निम्नानुसार है:-

18.1.1 जनांकिकी/ जनसंख्या सम्बन्धी घटक
18.1.2 सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटक
18.1.3 बाजार घटक
18.1.4 राजनीतिक घटक
18.1.5 प्रोद्योगिकीय घटक
18.1.6 प्राकृतिक वातावरण के घटक
18.1.7 अन्तर्राष्ट्रीय घटक
18.1.8 आन्तरिक घटक
18.1.9 वैधानिक वातावरण के घटक
18.1.10 सामान्य आर्थिक घटक
18.1.11 कुछ प्रबन्धकीय व्यवहारों एवं अनुभवों का प्रचलन के बाहर होना

18.1.1 जनाकिकी / जनसंख्या सम्बन्धी घटक (Demographic factors)

जनांकिकी घटक वे घटक है जो मानव जनसंख्या के लक्षणों से उत्पन्न होते है, यह लक्षण अग्र प्रकार है :

i) जनसंख्या का आकार
ii) घनत्व
iii) आयु
iv) लिंग व जाति
v) शिक्षा
vi) व्यवसाय, इत्यादि

ऊपर लिखे इन लक्षणों में पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, जैसे भारत की जनसंख्या बढकर लगभग 1.1 अरब हो गई है । औसत आयु व जनसंख्या घनत्व में भी वृद्धि हो रही है । शिक्षा का स्तर भी सुधरा है जिससे अब देश में डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, प्रबन्धक आदि उच्च स्तरीय हैं ।

देश की सम्पूर्ण जनता प्रबन्धकों से आशा लगाती है कि वे अपनी क्षमताओं एवं कौशल से देश के संसाधनों का उनके हित में सदुपयोग करेंगे तथा उनके जीवन स्तर में सुधार करेंगे।

18.1.2 सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटक (Social and Cultural Factors)

वर्तमान में बदलते हुये सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में लोगों के जीवन स्तर, आस्थाएं, नैतिक मूल्य में पहले की तुलना में बहुत तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं । लोग उत्पादों की गुणवत्ता एवं सुरक्षा के प्रति जागरूक हो रहे हैं । उनकी जीवन शैली एवं उपभोग प्रवृत्ति में भी भारी परिवर्तन आ रहा है । वे अपनी आय से भी अधिक खर्च करने को तत्पर है ताकि उनकी सामाजिक छवि में सुधार हो सके, फलतः महँगी एवं ब्राण्डेड उत्पादों की मांग में वृद्धि हो रही है।

शहरीकरण भी बढ रहा है । लोग गाँव से शहरों में आ रहे है, संयुक्त परिवार भी छोटे परिवार में बदल रहे हैं । महिलाओं की भूमिका बढ़ रही है । कामकाजी महिलाओं की संख्या भी बढ़ रही है, फलतः अब पति एवं पत्नी दोनों कामकाज कर रहे हैं ।

समाज के लोग प्राकृतिक वातावरण एवं स्वास्थ्य के प्रति भी सचेत होते जा रहे हैं । समाज में पर्यावरणविदों एवं पर्यावरण संरक्षण संस्थाओं की संख्या बढ़ रही है ।

18.1.3 बाजार घटक (Market Factors)

आधुनिक बाजार ग्राहक-प्रधान बाजार है । इसमें व्यापक परिवर्तन हो रहे हैं, क्योंकि प्रतिस्पर्द्धा की गहनता बढ़ रही है यह प्रतिस्पर्द्धा केवल मूल्य-किस्म, विभिन्नता आदि के कारण भी इसमें वृद्धि हो रही है ।

इनके अतिरिक्त वितरण प्रणालियों/ मध्यस्थों, संवर्द्धनात्मक प्रयासों प्रतिदिन नयापन देखने को मिल रहा है । अब प्रतिस्पर्द्धा राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की हो गई । इन सभी कारणों से प्रबन्धकों को नये रूप से सोचने एवं करने को बाध्य होना पड़ रहा है, फलतः विपणन प्रबन्ध के क्षेत्र में नित्य नये आयाम जन्म ले रहे है ।

18.1.4 राजनीतिक घटक (Political Factors)

पिछले कुछ वर्षों से देश के राजनीतिक घटको में आमूल-चूल परिवर्तन हो रहा हैं । अब किसी एक राजनीतिक दल की सरकार का युग लगभग समाप्त होता जा रहा है, साझा सरकारों का युग प्रारम्भ हुये एक दशक से भी अधिक समय हो गया जिसके कारण देश का राजनीतिक वातावरण बहुत ही अस्थिर हो गया है, जैसे:-

(i) किसी सरकार के लम्बे समय तक चलने का विश्वास व्यवसायियों के साथ ही साथ आम जनता को भी नही है जिसका विपरीत प्रभाव देश के आर्थिक विकास की गति पर पड़ रहा है ।

(ii) उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया सहज गति नहीं पकड़ पा रही है ।

(iii) विनिवेश नीति की दिशा का भी ठीक से तय नहीं हो पाना ।

(iv) कई सामाजिक एवं श्रम कानूनों में सुधार लम्बित पड़े हैं ।

उपरोक्त कारणों से हमारा देश नवीन आर्थिक पहलुओं के संदर्भ में अन्य देशों से पिछड़ता जा रहा है । ऐसी स्थिति प्रबन्धकों के चिन्तन को प्रभावित कर रही है और नवीन प्रबन्धकीय सोच की माँग कर रही है ।

18.1.5 प्रौद्योगिकी घटक (Technological factors)

इस क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों ने न केवल प्रबन्धकों की क्रियाओं, बल्कि सम्पूर्ण संस्था के कार्यकलापों को भी प्रभावित कर रहे हैं । जैसे:-

(i) नये कम्प्यूटरीकृत कार्य-प्रणालियों, उपकरणों, यंत्रों, यंत्रीकृत मानव आदि के विकास के कारण उत्पादन विधियां ही नहीं, कार्यालय की कार्यविधियाँ भी प्रभावित हो रही है ।

(ii) नई दवाइयों एवं उपचार विधियाँ विकसित हो गई हैं ।

(iii) शरीर के अंगों के आपरेशन ही नहीं बल्कि प्रत्यारोपण भी सम्भव हो रहे हैं ।

(iv) दैनिक जीवन में कम्प्यूटर, लेपटॉप, सैलफोन, ए.टी.एम. कार्ड, डेबिट कार्ड, क्रेडिट कार्ड आदि भी प्रौद्योगिकीय विकास की ही देन है ।

प्रबन्धकों के समक्ष इस नवीन प्रौद्योगिकी का उपयोग करने तथा जनता को नये-नये उत्पाद उपलब्ध कराने की गम्भीर चुनौती है ।

18.1.6 प्राकृतिक वातावरण के घटक (Factors of Natural Environment)

आज हमारा देश ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड के प्राकृतिक वातावरण में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं । पानी की निरन्तर कमी तथा तापमान में वृद्धि हो रही है । खनिज पदार्थों के भण्डारों में कमी होती जा रही है । वनस्पति का विनाश हो रहा है, ऐसे में प्रबन्धकों के समक्ष गम्भीर चुनौती है कि वे सभी प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करे तथा देश को पर्यावरण संकट में पड़ने से रोके ।

18.1.7 अन्तर्राष्ट्रीय घटक (International Factors)

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम भी तेजी से परिवर्तित हो रहा है जिसने कई नई चुनौतियाँ प्रबन्धकों के समक्ष उपस्थित कर दी है जो अग्रलिखित है:

i) विश्व बाजार में घोषित प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही है ।

ii) कई देश डम्पिंग' (Dumping) क्रियाओं में लिप्त हो अघोषित प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हैं ।

iii) भूमण्डलीकरण की नीति सभी बाजारों को एक बनाने में योगदान दे रही है, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा दिया ।

iv) परिवहन एवं संचार की आधुनिक सुविधाओं ने सभी देशों में आपसी व्यापार को बढ़ावा दिया, फलतः कई संस्थान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवसाय करने लगे हैं, जिससे एक देश के प्रबन्ध व्यवहार का दूसरे देश के प्रबन्ध व्यवहार पर प्रत्यक्ष प्रभाव होने लगा है, अत: ऐसे में प्रबन्धकों का चिन्तन एवं कार्यप्रणाली को नवीन आयाम देने की आवश्यकता प्रतीत होती है ।

18.1.8 आन्तरिक घटक (Internal Factors)

प्रत्येक संस्था का अपना आन्तरिक वातावरण होता है । संस्था का आकार ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, त्यों-त्यों उसका वातावरण जटिल होने लगता है, जो उत्पादन, वित्त, विपणन, शोध एवं विकास विभाग के कार्यो में जटिलता उत्पन्न करता है । अत: ऐसे में आन्तरिक वातावरण की चुनौतियों को सीमित संसाधनों से पूरा करना प्रबन्धकों के लिए चुनौतियाँ खडी कर रहा है ।

18.1.9 वैधानिक वातावरण के घटक (Factors of legal Environment)

भारत के वैधानिक परिदृश्य में भी तीव्र गति से अनेक परिवर्तन हो रहे हैं । कई नये आर्थिक अधिनियम, उपभोक्ता अधिनियम, पर्यावरण अधिनियम आदि बनाये गये हैं । कई पुराने अधिनियमों यथा-कम्पनी अधिनियम, फेमा, सेबी अधिनियम, प्रतिभूति अधिनियम, उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, खाद्य मिलावट निरोधक अधिनियम आदि में परिवर्तन एवं संशोधन किये गये है । इन सभी में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप प्रबन्धकों के समक्ष नयी चुनौतियों के साथ-साथ नवीन अवसर भी उपलब्ध हो रहे हैं ।

18.1.10 सामान्य आर्थिक घटक (General Economic Factors)

देश के सामान्य आर्थिक घटकों में भी निम्नांकित परिवर्तन दिखायी दे रहे हैं:-

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GDP) तथा राष्ट्रीय आय बढ़ रही है ।

(ii) अन्य राष्ट्रों की तुलना में प्रतिव्यक्ति आय बढ़ रही हैं ।

(iii) देश में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया जारी है ।

(iv) कुछ नीतियों/ कानूनों में समय की मांग के अनुरूप सुधार किया जा रहा है । अत: इन सब आर्थिक घटकों के परिणामस्वरूप प्रबन्धकों के लिए भी नवीन अवसर एवं चुनौतियां आ रही है ।

18.1.11 कुछ प्रबन्धकीय व्यवहार एवं अनुभवों का प्रचलन से बाहर होना (Obsolescence of Certain Managerial practices and Experience)

संस्था के आन्तरिक वातावरण एवं वाह्य वातावरण के सभी घटकों के परिवर्तन का एक परिणाम यह भी हुआ है कि प्रबन्ध के प्राचीन सिद्धान्त, व्यवहार एवं अनुभव अब प्रचलन के बाहर होते जा रहे हैं ।

18.2 जोन नैसबिद्ध की महाप्रवृत्तियॉ (John Naisbits's Meghatrends)

जॉन नैसबिहु ने अपनी पुस्तक Meghatrends में अमेरीकी समाज में हो हरे परिवर्तनों का उल्लेख किया है । उन्होंने अमरीकी समाज में हो रहे परिवर्तनों को 10 महाप्रवृत्तियों के नाम से सम्बोधित किया है जो कि अग्र प्रकार से हैं:-

(i) औद्योगिक समाज सूचना समाज में परिवर्तित हो रहा है जो सूचनाओं के सृजन एवं वितरण पर आधारित है ।

(ii) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था बनती जा रही है । अब प्रत्येक राष्ट्र को यह मानना होगा कि हम विश्व अर्थव्यवस्था के अंग हैं ।

(iii) हम सभी अपने समाज को अल्पकालीन उद्धेश्यों के बजाय दीर्घकालीन उद्धेश्यों के प्ररिप्रेक्ष्य में दिशा दे रहे हैं ।

(iv) केन्द्रीयकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण को अपना रहे हैं ।

(v) संस्थागत सहायता का स्थान आत्म साध्यता (Self-Help) ले रही है । इससे समाज आत्म निर्भरता की ओर बढ रहा है ।

(vi) दबाव की प्रौद्योगिकी अब उच्च तकनीक (High Teach) या उच्च प्रभाव (High Touch) की तकनीक बनती जा रही है जिसमें नई तकनीक के साथ मानव प्रयास भी समाहित हैं ।

(vii) अमेरिकी विकास के कारण अमेरिकी जनसंख्या उत्तर से दक्षिण एवं पश्चिम अमरीका की ओर जा रही हैं ।

(viii) प्राधिकरण पदानुक्रम व्यवस्था का स्थान व्यवहारी व्यवस्था ले रही है, अत: संस्थाओं के पदानुक्रम संगठन संरचना के स्थान पर अनौपचारिक संगठन संरचना को अपनाया जा रहा हैं ।

(ix) अब समाज के लोग जीवन जीने के एक-दो विकल्पों के स्थान पर बहु-विकल्पों को अपना रहे हैं ।

(x) प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र का स्थान सहभागी प्रजातन्त्र ले रहा है । वर्तमान युग में निरन्तर सूचना भागीदारी को अपनाकर सहभागी प्रजातंत्र को अपनाया जा रहा है ।

उपरोक्त ये सभी महाप्रवृत्तियाँ केवल अमेरिका में ही नही देखी जा सकतीं है बल्कि किसी भी प्रजातांत्रिक समाज एव खुली अर्थव्यवस्था में देखी जा सकती है । हमारे देश में भी ऐसी ही अनेक प्रवृत्तियाँ जन्म ले चुकी हैं, अत: जॉन नैसबिद्ध की उपरोक्त महाप्रवृत्तियों के द्वारा ही अपने देश में हो रहे परिवर्तनों की दिशा को समझने का अवसर मिलेगा ।

18.3 प्रबन्धकों के समक्ष उभरती चुनौतियां / कार्य (Task/ Challenges before the Managers)

आधुनिक समय में होने वाले परिवर्तन प्रबन्धकों की सोच-विचार आदि में परिवर्तन बाध्य करने वाले हैं । ऐसे में उन्हे अनेक नये कार्यो एवं तकनीकों को अपनाना पड़ेगा । प्रबन्धकों के समक्ष अब कुछ नये कार्य उत्पन्न होंगे, उनके कार्यो का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है:-

18.3.1 वैज्ञानिक पूर्वानुमान (Scientific forecasting)

1 प्रबन्धकों को वैज्ञानिक विधि से पूर्वानुमान करने पर भविष्य में और अधिक ध्यान देना होगा

2 उत्पादों की मांग के पूर्वानुमान तक ही सीमित नहीं रहना होगा बस उन्हे सामाजिक आर्थिक एवं तकनीकी प्रवृत्तियों का भी ठीक-ठीक पूर्वानुमान करना होगा ।

18.3.2 व्यूह रचनात्मक नियोजन (Strategic Planning)

प्रबन्धकों को अपने वातावरण की परिस्थितियों का गहन अध्ययन कर व्यूहरचनात्मक नियोजन करना पड़ेगा । इस हेतु उन्हे Swot analysis करना पड़ेगा । Swot Analysis:- (Strength,weakness,Opportunity,threat) वातावरण में उपलब्ध अवसर एवं उनसे जुड़े संकटों के संदर्भ में अपनी शक्तियों एवं कमजोरियों का मूल्यांकन करके व्यूहरचनात्मक नियोजन करना पड़ेगा ।

18.3.3 सूचना प्रौड्योगिकी (Information Technology

प्रबन्धकों को भविष्य में सूचना प्रौधोगिकी पर निर्भर रहना पड़ेगा :-

(i) आवश्यक समंक एवं सूचनाएँ प्राप्त करने हेतु एवं

(ii) संस्था के संसाधनों के प्रभावी एवं कुशल उपयोग के लिए ।

18.3.4 सृजनशीलता एवं नवकरण (Creativity and Innovation)

भविष्य में वे ही प्रबन्धक सफल होंगे जिनमें सृजनशीलता का गुण होगा तथा जो नवकरण कर सकेंगे, फलतः प्रबन्धकों को अपने आप में तथा अपने अधीनस्थों में सृजनशीलता विकसित करनी होगी ।

18.3.5 उद्देश्य-निहित प्रबन्ध (Management by Objectives)

भावी प्रबन्धकों को अपनी ओर से उद्देश्य निर्धारित कर अधीनस्थों पर थोपने की आदत छोड़नी पड़ेगी । इस हेतु सोद्देश्य प्रबन्ध विचारधारा को अपनाना होगा जिसमें उद्देश्य के निर्धारण की प्रक्रिया नीचे से ऊपर की ओर (Bottom up) चलेगी ।

18.3.6 व्यूहरचनात्मक संयोजन (Seeking Strategic Alliance)

प्रतिस्पर्द्धा के वातावरण में व्यूहरचनात्मक संयोजन/ भागीदारियां करके ही प्रबन्धक दूसरी संस्थाओं की तकनीक,उनके ज्ञान, शोध सुविधाओं, विपणन सुविधाओं आदि का लाभ न्यूनतम लागत पर ही उठा सकेगा ।

18.3.7 प्रबन्ध विकास पर बल (Emphasis on Management Development)

भविष्य में प्रबन्धकों को प्रबन्ध विकास पर बल देना होगा जिससे प्रबन्धकों को नवीन सिद्धान्तों, विचारधाराओं, तकनीकों की जानकारी दी जा सकेगी, फलतः वे भावी चुनौतियों का अधिक प्रभावी ढंग से मुकाबला कर सकेंगे ।

18.3.8 बेहतर कम्पनी प्रबन्ध (Better corporate Governance)

प्रबन्धकों का दायित्व है कि वे अपनी कम्पनी का बेहतर प्रबन्ध कर, जो कि भविष्य में और बढ़ेगा, के लिये उन्हे अपने क्रिया कलापों, नीतियों में पारदर्शिता लानी होगी । कम्पनियों के संचालन में केवल कानूनी औपचारिकताओं का पालन करने से ही प्रबन्धक अपने दायित्व से मुक्ति नहीं हो पायेंगे । उन्हें उपभोक्ताओं, कर्मचारियों, अंशधारियों, सरकार, सामान्य जनता आदि सभी वर्गो के प्रति अपने दायित्वों को गम्भीरता से पूरा करना होगा । उन्हें उपयोगिता/ संतुष्टि प्रदान करने के लिए उचित प्रयास करने एवं परिणाम देने होगे । उन्हें कम्पनी के सभी हितधारियो (Stakeholder) के प्रन्यासी या ट्रस्टी के रूप में कार्य करना एवं परिणाम देना होगा ।

18.3.9 संस्था के प्रति प्रणालीगत दृष्टिकोण (System Approach to Organisation)

प्रबन्धकों को अपनी संस्था को सम्पूर्ण वातावरण की एक उप इकाई मानकर उसे वातावरण के साथ जोड़कर संचालित करना होगा । ऐसा किये बिना कोई भी प्रबन्धक अपनी संस्था के आधुनिक गतिशील वातावरण में चिरायु नहीं बन सकेगा ।

18.3.10 कल्पनाशील नेतृत्व (Visionary Leadership)

भावी प्रबन्धकों को कल्पनाशील एवं दूरदृष्टिवान होना पड़ेगा । उन्हे भविष्य में हो सकने वाली घटनाओं तथा उत्पन्न हो सकने वाली परिस्थितियों के ठीक-ठीक स्वप्न भी देखने होगे और जब वे सपने सच होंगें तभी वे सफल भी होंगे ।

18.3.11 सांयोगिक प्रबन्ध विचारधारा को अपनाना (Accepting Contingency Management Approach)

प्रबन्धकों को व्यवहार में सांयोगिक प्रबन्ध विचारधारा को अपनाना चाहिये । उन्हें परिस्थितियों के अनुरूप ही उद्धेश्यों, योजनाओ, नीतियों, सिद्धान्तों को अपनाना एवं समायोजित करना होगा ।

18.4 सारांश (Summary)

परिवर्तन जो कि खुद भी परिवर्तनशील है के कारण, गति एवं प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । बाहरी वातावरण की शक्तियां उसे अपरिवर्तनों का प्रत्युर देने के लिए बाध्य भी करतीं हैं । इन्ही कारणों से प्रबंध में नये आयाम / चुनौतियाँ भी उभरती' रहती है

18.5 अभ्यासात्मक प्रश्न

अतिलघुउत्तर प्रश्न

प्र.1 उन बाजार घटकों को स्पष्ट कीजिये जो प्रबन्ध के नये क्षितिजों या चुनौतियों को उभारने के लिये उत्तरदायी है ।

Explain the market forces responsible for emergence of new horizion or issues of management.

प्र.2 प्रौद्योगिकीय शक्ति क्या है?

What is technological force?

लघुलरात्मक प्रश्न

प्र.1 अच्छे कम्पनी प्रशासन से आप क्या समझते हैं?

What is meant by good corporate govemance?

प्र.2 जॉन नैसबिद्ध की महाप्रवृलियॉ का वर्णन करें ।

Discuss the factors responsible for emergence of new horizon issue of management.

निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 प्रबन्ध के नवीन क्षितिजों/ चुनौतियों के लिए उत्तरदायी घटको की विवेचना कीजिये ।

Discuss the factors responsible for emergence of new horizon issue of management

प्र.2 प्रबन्ध के नये उभरते/ क्षितिजों / चुनौतियों का वर्णन कीजिये ।

Descrbe the emerging new horizon /issues of Management.

18.6 उपयोगी पुस्तकें / संदर्भ ग्रन्थ

1. B.S. Mathur: Principles of Management.
2. Satya Saran 'Chatterjee': Introduction of Management.
3. Mritunjoy Banerjee: Business Administration.
4. Richard, Hatman Tuwence P. Hogan and John Wholipan: Modern Business Administration.
5. S. Sarlekar: Business Management.
6. Koontz O' Donnel and Eassentials of Management.
7. J.P. Singhal: PRABANDH.
8. Dr. R.L. Naulakha: PRABANDH KE SIDDHANT.
9. C.B. Gupta: principles of Management.
10. Upadhyaya and Sareen: PRABANDH.
11. Upadhyaya, Sharma, Bansal, Rathod: PRABANDH KE SIDDHANT.
12. Sudha, G, S, PRABANDH: University Book House Pvt. Ltd. Jaipur.
13. M.J. Mathew: Management.

ISBN - 13/978-81-8496-236-9